आयाम

लेखक
डा० वीरेन्द्र सिंह
एम० ए०, डी० फिल०
प्राध्यापक हिन्दी विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

आत्माराम एण्ड सन्स

जिनके अपार स्नेह ने
मेरे मानस को रस
से सदा आप्लावित
रखा—
उन्ही छोटी भाभी
और
दादा
को

संदर्भ

इस निबंध-संग्रह का नाम 'आयाम' दिया गया है जो चिंतन के तीन विशिष्ट आयामों से सबंधित है। वैसे "आयाम" शब्द विज्ञान का शब्द है जिसका अर्थ 'डाइमेन्शन' (Dimension) से गृहीत होता है। इस पुस्तक में तीन आयामों को लिया गया है जो मूलत मेरे चिंतन एव मनन के तीन आयाम रहे हैं। वे तीन आयाम हैं। (१) साहित्यिक (२) वैज्ञानिक तथा (३) धार्मिक तथा दार्शनिक आयाम। मेरी मान्यता सदैव से यह रही है कि चिंतन का क्षेत्र ज्ञान का प्रत्येक क्षेत्र होता है और साहित्य का क्षेत्र भी उसी के अंदर समाविष्ट किया जा सकता है। हो सकता है कि अनेक रसवादी आलोचक एव पाठक मेरी इस मान्यता के प्रति नाक भौं सिकोड़े अथवा अद्भुत उदासीनता का परिचय दें पर आज के वैज्ञानिक युग मे किसी प्रत्यय या वस्तु को अंधविश्वास एव हठधर्मिता के बल पर जीवन दर्शन का अग नही बनाया जा सकता है।

× × ×

इस संदर्भ के प्रकाश में ये निबंध केवल एक तंतु से जुड़ने हैं और वह विचार-तंतु है, ज्ञान के क्षेत्र की एक अभिन्न इकाई। प्रत्येक निबंध चाहे वह किसी भी आयाम का क्यो न हो, उसका सम्बंध इसी इकाई से है। यहाँ तक कि साहित्यिक निबंधों की समस्त भावभूमि विज्ञान तथा दर्शन की रेखाओ को ही उजागर करती है क्योंकि इन निबंधो मे विश्लेषण एव तर्क को अधिक मान्यता दी गई है और उन मान्यताओं को ज्ञान के अन्य क्षेत्रो से सबलित किया गया है। जहा तक मुझसे हो सका है मैंने इन निबंधो मे हठधर्मिता एव अतार्किकता से बचने का भरसक प्रयत्न किया है।

× × ×

साहित्यिक, वैज्ञानिक और धार्मिक दार्शनिक आयामो के निबंधों म मेरे वैचारिक जीवन-दर्शन के अनेक रूपो तथा तत्वो का सकेत भी प्राप्त होता है। जीवन दर्शन एक समष्टिगत दृष्टिकोण होता है जो किसी व्यक्ति के अनुभवो, विचारो तथा आचरणों से गृहीत जीवन की गत्यात्मकता को एक दिशा देता है। इस गत्यात्मकता मे उसका समस्त व्यक्तित्व इस हद तक डूब जाता है कि उसके सामने जीवन" एक क्रमिक साक्षात्कार का माध्यम बन जाता है। दूसरे शब्दों मे, 'जीवन केवल एक साधन-मात्र है किसी विशिष्ट गंतव्य तक पहुँचने के लिये। यह गंतव्य प्रत्येक का

संदर्भ

इस निबंध-संग्रह का नाम 'आयाम' दिया गया है जो चिंतन के तीन विशिष्ट आयामों से संबंधित है। वैसे "आयाम" शब्द विज्ञान का शब्द है जिसका अर्थ 'डाइमेंशन' (Dimension) से गृहीत होता है। इस पुस्तक में तीन आयामों को लिया गया है जो मूलत मेरे चिंतन एवं मनन के तीन आयाम रहे हैं। वे तीन आयाम हैं। (१) साहित्यिक (२) वैज्ञानिक तथा (३) धार्मिक तथा दार्शनिक आयाम। मेरी मान्यता सदैव से यह रही है कि चिंतन का क्षेत्र ज्ञान का प्रत्येक क्षेत्र होता है और साहित्य का क्षेत्र भी उसी के अंदर समाविष्ट किया जा सकता है। हो सकता है कि अनेक रसवादी आलोचक एवं पाठक मेरी इस मान्यता के प्रति नाक भौं सिकोड़े अथवा अद्भुत उदासीनता का परिचय दें, पर आज के वैज्ञानिक युग में किसी प्रत्यय या वस्तु को अंधविश्वास एवं हठधर्मिता के बल पर जीवन दर्शन का अंग नहीं बनाया जा सकता है।

× × ×

इस संदर्भ के प्रकाश में ये निबंध केवल एक तंतु से जुड़े हैं और वह विचार-तंतु है, ज्ञान के क्षेत्र की एक अभिन्न इकाई। प्रत्येक निबंध चाहे वह किसी भी आयाम का क्यों न हो, उसका सम्बंध इसी इकाई से है। यहाँ तक कि साहित्यिक निबंधों की समस्त भावभूमि विज्ञान तथा दर्शन की रेखाओं को ही उजागर करती है क्योंकि इन निबंधों में विश्लेषण एवं तर्क को अधिक मान्यता दी गई है और उन मान्यताओं को ज्ञान के अन्य क्षेत्रों से संवलित किया गया है। जहां तक मुझसे हो सका है मैंने इन निबंधों में हठधर्मिता एवं अतार्किकता से बचने का भरसक प्रयत्न किया है।

× × ×

साहित्यिक, वैज्ञानिक और धार्मिक दार्शनिक आयामों के निबंधों में मेरे वैचारिक जीवन-दर्शन के अनेक रूपों तथा तत्वों का संकेत भी प्राप्त होता है। जीवन-दर्शन एक समष्टिगत दृष्टिकोण होता है जो किसी व्यक्ति के अनुभवों, विचारों तथा आचरणों से गृहीत जीवन की गत्यात्मकता को एक दिशा देता है। इस गत्यात्मकता में उसका समस्त व्यक्तित्व इस हद तक डूब जाता है कि उसके सामने "जीवन" एक क्रमिक साक्षात्कार का माध्यम बन जाता है। दूसरे शब्दों में, 'जीवन' केवल एक साधन-मात्र है किसी विशिष्ट गंतव्य तक पहुँचने के लिये। यह गंतव्य प्रत्येक का

अलग अलग हो सकता है । इन निबंधों मे जीवन और विश्व के अन्योन्य सम्बंध को विचार तथा प्रत्यय के सापेक्ष स्वरूप को तथा साहित्य धर्म, दर्शन और विज्ञान के अन्योन्य क्रिया प्रतिक्रियात्मक रूप को, चिंतन और मनन के द्वारा उजागर करने का प्रयत्न किया गया है । मैं यह दावा नहीं करता कि यह प्रयत्न पूर्णरूप से सफल हुआ है पर इतना अवश्य कह सकता हूँ कि मेरे इस प्रयत्न मे वस्तुओं तथा विचारो को समझने एवं उनके सम्बंधों को दृष्टि-पथ में रखने की एक प्रबल आकांक्षा अवश्य है।

× × ×

इन निबंधो में से अधिकांश निबंध अनेक पत्र पत्रिकाओं में पहले ही प्रकाशित हो चुके हैं । इन पत्रिकाओं में से कुछ निबंध शोध पत्रिकाओं में भी प्रकाशित हुये हैं। हिन्दुस्तानी, "सम्मेलन पत्रिका, 'माध्यम" 'सरस्वती' क ख ग' बिंदु अर्वाचीना आदि मासिक तथा त्रैमासिक पत्रिकाओं में अनेक निबंधो को स्थान मिल चुका है जो इस संग्रह में एक स्थान पर संकलित हैं। इसके अतिरिक्त, इस आयाम में कुछ नये लेख भी हैं जैसे हिन्दी साहित्य एवं नवीन परिदृश्य (अन्य की पुस्तक की समीक्षा), आधुनिक रचना प्रक्रिया और विसंगति वैज्ञानिक तर्क और प्राकृतिक घटनाएं, जीवन की समस्या अस्तित्ववादी दर्शन का स्वरूप आदि कुछ ऐसे निबंध हैं जो केवल इसी पुस्तक के लिए लिखे गए हैं।

× × ×

अपने इस संक्षिप्त तथ्यगत कथ्य के प्रकाश में, मैं इस "आयाम" को पाठकों एवं आलोचकों के सम्मुख उपस्थित कर रहा हूँ । आशा है कि सहृदय पाठक, बुद्धि की तुला पर इन निबंधों का विश्लेषण कर, मेरा मार्ग प्रशस्त करेंगे और प्रेरणाशील सुझाव देने का कष्ट करेंगे ।

धीरेन्द्र सिंह

संदर्भ

अनुक्रम

साहित्यिक आयाम

वैज्ञानिक आयाम

धार्मिक-दार्शनिक आयाम

साहित्यिक

आयाम

भारतीय काव्य-शास्त्र और प्रतीक | १

भारतीय काव्य-शास्त्र मे परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से ऐसे संकेत मिल जाते हैं जो प्रतीकात्मक स्थिति को स्पष्ट करते हैं। रस, ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति और अलकार-सम्प्रदायो के अनेक तत्वो मे प्रतीक की धारणा का स्वरूप मुखर हो जाता है। यह मुखरता उसी समय दृष्टिगत होती है जब उनका विश्लेषण प्रतीक की दृष्टि से किया जाय।

क–रस और प्रतीक

'रस' शब्द और भाव

काव्य शास्त्र मे 'रस' का महत्व सर्वोपरि है। रस' शब्द वदिक-साहित्य म सोमरस का पर्याय माना गया है और जिसका अर्थ द्रवत्व, स्वाद और निष्कर्ष का द्योतक है।[1] उपनिषदो मे आकर रस ने मधु का रूप ग्रहण कर लिया और मधुविद्या का एक विस्तृत विवेचन हमे वृहदारण्यक उपनिषद म प्राप्त होता है। मूलत यह मधु शब्द सार या निष्कर्ष के अर्थ म ही प्रयुक्त किया गया है।[2] उपनिषद् साहित्य मे रस या मधु 'आनंद' का वाचक शब्द माना गया जिसे योगी आत्म साक्षात्कार के समय अनुभव करते हैं। साहित्य-समालोचकों के लिये सर्वथा स्वाभाविक था कि वे इस 'रस' शब्द को कलात्मक या सौंदर्यात्मक आनंद (Aesthetic Pleasure) के अर्थ में प्रयुक्त करें।

जब कवि अमूर्त भावों तथा संवेदनाओं को व्यक्त करने मे भाषा का प्रयोग असफल पाता है, तब वह प्रतीकों का आश्रय लेता है। इस प्रकार प्रतीक, रसानुभूति म सहायक होने है। ये ही भाव रसोद्रेक मे सहायक होते हैं। प्रतीक रसोद्रेक मे उसी समय सहायक होत हैं, जब वे भावोद्रेक के माध्यम होकर, रसानुभूति की प्रक्रिया में योग प्रदान कर सकें।

रसोद्रेक म मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का विशेष हाथ है। पाश्चात्य सौन्दर्यानुभूति में भी मनोवैज्ञानिक-क्रिया का अभिन्न स्थान माना गया है। इस दृष्टि से, पाश्चात्य सौन्दर्य-तत्व और भारतीय रस-तत्व में समानता प्राप्त होती है। इसी

तथ्य पर प्रतीक-सृजन व एक आधारभूत सिद्धान्त के भी दर्शन होते हैं। विचारको ने प्रतीक का प्रावश्यक कार्य विचारोद्भावना माना है। विचार मन की क्रिया है, अतः प्रतीक और विचार अन्योन्याश्रित हैं। रस की निष्पत्ति में इन्द्रिय संवेदनापरक विचार-प्रतीकों का विशेष योग रहता है। यहाँ पर बैल (Bell) का यह मत है कि 'किसी कलाकृति की सौंदर्य भावना का उल्लेख करना चाहिए किसी विचार अथवा धारणा का नहीं।[3]' उचित ज्ञान नहीं होता, कला के रूप में सौन्दर्य या रस मात्र भाव तथा संवेदना पर ही आश्रित नहीं है, वरन् इसमें विचारों का भी एक विशिष्ट स्थान है। काव्य के प्रतीकों अथवा कवि प्रतिमा पर आश्रित नवीन प्रतीकों का स्थायित्व इसी तथ्य पर आधारित है। एक वाक्य में कहें तो रसोद्रेक भाव संवेदना तथा विचार से समन्वित मानव वृत्तियों की समरसता है। इसी समरसता पर आनन्द की सृष्टि होती है। प्रतीक का स्थान इस आनन्दानुभूति में उस एलक्ट्रान(Electraon) के समान है जो किसी तत्व के केन्द्रक (Neucleus) का विस्फोट कर शक्ति रूप आनंद का प्रादुर्भाव करते हैं। उपनिषदों में आनंद ब्रह्म है ऐसी भी स्थापना की गयी है।[4] अतः तार्किक-पद्धति से रस, जो आनन्द-स्वरूप है वह ब्रह्म का पर्याय है। अस्तु रस ही ब्रह्म है।

अनुभाव का प्रतीक रूप

अनुभाव, भाव-जाग्रत के पश्चात् होने वाले अंगविकारों को कहते हैं। ये अंगविकार हृदगत भावों के बाह्य रूप हैं। अनेक अनुष्ठानों में जिन अंगमुद्राओं का स्वरूप प्राप्त होता है, वे मूलतः अंगविकार ही हैं। रस सिद्धान्त में अनुभावों के अन्तर्गत इन अंग मुद्राओं की भावना का सुन्दर समाहार प्राप्त होता है अतः अनुभावों को इस रूप में देखने पर उनका प्रतीकात्मक महत्व और अधिक स्पष्ट होता है। अंगज, स्वभावज कायिक, मानसिक तथा वाचिक अनुभावों के अर्थोबद्ध विभाजन प्रतीकात्मक दृष्टि से एक वैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि के परिचायक हैं। अंगविकार या मुद्राएं अधिकतर अंगज या कायिक होती हैं जो स्वभाव अथवा मानसिक स्थिति पर आश्रित रहती हैं। नायिका भेद में इन अनुभावों का भी यत्र-तत्र सहारा लिया गया है जिसका सुन्दर रूप मिन्धा और प्रौढ़ा के रूपों में देखा जा सकता है।[5] प्रतीकात्मक दृष्टि से वाचिक प्रकार का महत्व वाणी का ही रूप है। अंगमुद्राओं के अतिरिक्त हम कभी कभी अपने भावों तथा विचारों का प्रकाशन वाणी द्वारा भी करते हैं। आदि मानवीय स्थिति में वाणी व शब्द (प्रतीक) अप्रणीयता के माध्यम थे और यहाँ पर भी इनका महत्व इसी रूप में है। रसोद्रेक की प्रक्रिया में ये अनुभाव (अंगज तथा वाचिक) अपनी विशिष्टता के कारण सहायक होते हैं। इस

दृष्टि से, अनुभावों का रसात्मक एवं प्रतीकात्मक महत्व एक साथ स्पष्ट हो जाता है।

साधारणीकरण और प्रतीक

अभिनव गुप्त का साधारणीकरण सिद्धान्त अभिव्यक्तिवाद का एक प्रमुख अंग है। क्रोशे का अभिव्यंजनावाद और अभिनव गुप्त का अभिव्यक्तिवाद कई तत्वों मे समानता प्रदर्शित करता है। साधारणीकरण कवि की अनुभूति का होता है और जब यह अनुभूति भाषा के भावमय प्रयोग के द्वारा अपना विस्तार करती है तब साधारणीकरण की क्रिया का रूप स्पष्ट होता है।

कवि अपनी भावाभिव्यक्ति में प्रतीकों का सहारा लेता है, वह ऐन्द्रिय अनुभवों पर ही बिम्बग्रहण करता है और फिर बिम्बों के सहारे प्रतीक-सृजन के महत् कार्य को सम्पन्न करता है। कला और साहित्य प्रत्यक्षानुभव (Perception) को बिम्ब रूप मे ग्रहण कर, उसे अनुभूति मे परिवर्तित करता है, तभी वह प्रतीक की श्रेणी में आता है। अतः प्रतीक के स्वरूप मे प्रत्यक्षानुभव और अनुभूति दोनों का समन्वित रूप प्राप्त होता है।[६] काव्य के विचार तथा भाव मूलतः अनुभूतपरक होते हैं। जब भी कवि इस अनुभूति को बाह्य रूप देना चाहेगा, तब वह भाषा के प्रतीकों के द्वारा उस विशिष्ट अनुभूति का साधारणीकरण करेगा। यह एक सत्य है कि हमारी अनेक ऐसी अनुभूतियाँ होती हैं जो अपनी पूर्णाभिव्यक्ति केवल प्रतीकों के द्वारा ही कर सकती हैं। अतः डा० नगेन्द्र का यह मत है प्रतीकात्मक दृष्टि से अनुशीलन योग्य है—'कवि अपने समृद्ध भावों और अनुभूतियों (मेरा स्वयं का जोड़ा शब्द है) के बल पर अपने प्रतीकों को सहज ऐसी शक्ति प्रदान कर सकता है कि वे दूसरों के हृदय में भी समान भाव जगा सकें।[७]'

अनुभूति का क्षेत्र मूल रूप से संवेदनात्मक होता है। प्रतीक उसी सीमा तक संवेदनयुक्त होंगे जिस सीमा तक उसमें अनुभूति की अभिव्यक्ति होगी। संवेदना अनुभूति तथा बिम्ब ग्रहण जो मन की विविध क्रियायें हैं—इन सब की क्रिया-प्रतिक्रिया प्रतीक के सूक्ष्म मानसिक तथा बौद्धिक धरातल की परिचायिका हैं। इस क्रिया के द्वारा प्रतीक अरूप की रूपात्मक अभिव्यंजना प्रस्तुत करता है। मेरे विचार से यही अभिव्यक्तिवाद है। यह विवेचन क्रोशे के इस कथन से भी समानता रखता है कि अनुभूति ही अभिव्यक्ति है।[८]

भट्टनायक ने साधारणीकरण को भावकत्व की शक्ति माना है जिसके द्वारा भाव का आप से आप साधारणीकरण हो जाता है। परन्तु अभिनव गुप्त ने व्यंजना शक्ति में साधारणीकरण का समाधान माना है। जहाँ तक प्रतीक के अर्थ का प्रश्न

है उसका अर्थ व्यजना तथा लक्षणा शक्तियों पर आश्रित होता है। भाषागत प्रतीक व्यजना के द्वारा ही अर्थ व्यक्त करते हैं। अत शब्द-प्रतीक की व्यजना तथा लक्षणा शक्तियो पर ही साधारणीकरण की क्रिया अवलम्बित है।

ख—ध्वनि और प्रतीक

शब्द शक्ति और प्रतीक

यदि रस काव्य की आत्मा है तो ध्वनि, काव्य शरीर को बल देने वाली सजीवनी शक्ति है। घटे मे 'टन्' के बाद जो गुमपुर झकार निकलती है और जो शन शन वायुतरगों म विलीन हो जाती है—यही झकार ध्वनि का रूप है। इसी प्रकार ध्वनिवादियो ने शब्द शक्ति का विशद विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इस विश्लेषण क द्वारा प्रतीक और शब्द शक्ति के सम्बन्ध पर प्रकाश पड़ता है।

भारतीय मनीषा ने शब्द शक्ति के विश्लेषण द्वारा भाषागत-प्रतीक-दर्शन की भूमि प्रस्तुत की है। भाषागत प्रतीक दशन यह सिद्ध करता है कि भाषा का गठन और विकास प्रतीकों के सगठन एव अथबोध का इतिहास है। शब्द-शक्तियों के द्वारा भाषा की उस शक्ति का पता चलता है जो किसी भी भाषा के सबल रूप का द्योतक है। शब्द शक्तियो पर ही प्रतीक का भवन निर्मित होता है और जिसकी आधार- शिला पर ही अथ प्रस्फुटन होता।

भारतीय काव्य-शास्त्र मे शब्द की तीन शक्तियाँ मानी गयी हैं—अभिधा लक्षणा और व्यजना। इनमे सर्वोच्च स्थान व्यजना शक्ति का माना जाता है। (काव्य की दृष्टि से) इसी व्यजना (Suggestiveness) द्वारा व्यक्त व्यग्याथ को ध्वनि' कहा गया। जहाँ तक अभिधा का प्रश्न है वह तो केवल शब्द का प्राथमिक अथ है जो शब्द से परे किसी अन्य अथ का वाहक बनने मे असमथ है। लक्षणा भी शब्द की वह शक्ति है जो प्राथमिक अथ से द्वितीय अथ की ओर अग्रसर होती है परन्तु व्यजना शक्ति, काव्य की दृष्टि से, उच्चतम शक्ति कही जाती है। सत्य मे काव्यानुभूति की अभिव्यक्ति शब्द की व्यजना एव लक्षणा शक्तियो पर आश्रित है। दूसरे शब्दो म ध्वन्यात्मक काव्य म इन दो शक्तियो द्वारा अथ-ध्वनि का रूप मुखर होता है। डा० रामकुमार वर्मा ने, इसी से यह विचार व्यक्त किया है कि प्रतीक का सम्बन्ध शब्द-शक्ति की ध्वनि शली से है।[8] प्रतीक की यह ध्वन्यात्मक परिणति शब्द के व्यग्याथ का विकसित रूप है। यदि शब्द व्यग्याथ का ध्वनन न कर सका तो वह प्रतीक का रूप नही हो सकता है। अलकारो के क्षेत्र म शब्द की लक्षणा और व्यजना शक्तिया का पूरा प्रयोग किया गया है। इस पर हम आगे विचार करेंगे। रीतिकाव्य म अधिकांश प्रतीकों की योजना अलकारो के आवरण म अथवा

कविसमय के प्रकाश में ही हुयी है। इन शब्द-शक्तियों का वविध्यपूर्ण विस्तार छायावादी, रहस्यवादी तथा प्रयोगवादी कविता में प्राप्त होता है। पश्चिमी काव्य-शास्त्र में काव्य भाषा की उच्चतम प्रकृति, शब्द के व्यग्यार्थ में ही समाहित मानी गई है। बर्नार्डी (Bernardi) ने भाषा को बुद्धि का प्रतीकात्मक रूप कहा है।[१] यदि हम इस कथन पर मनन करें तो यह स्पष्ट होता है कि काव्य भाषा में प्रयुक्त शब्दों का व्यग्यार्थ ही उसकी प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है। यही काव्य के शब्द प्रतीक की ध्वनि है। इसी व्यग्यार्थ पर कवि अनेक शब्द प्रतीकों का सृजन करता है। अत कवि की सृजन क्रिया भाषा और शब्दों के रूढि रूप का ही पालन नहीं करती है वरन् उसकी सजनात्मक क्रिया अपने विकास के साथ नवीन शब्दों पर आश्रित काव्य भाषा का नव-निर्माण भी करती है।[११] आधुनिक काव्य में हम ऐसे नव शब्दों तथा प्रतीकों का सुन्दर स्वरूप प्राप्त होता है।

स्फोट सिद्धात और प्रतीक

शब्द प्रतीक किसी भाव अथवा वस्तु का प्रतिनिधित्व करता है जो विचारोद्भावना में सहायक होते है। शब्द के सुनने पर अर्थ की प्रतीति कैसे होती है, इस समस्या पर ही स्फोट सिद्धात का प्रणयन हुआ है जो शब्द और उसके अर्थ की दूरी को निकट लाता है। वैयाकरणों ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन वैज्ञानिक रूप से किया है।

स्फोट उस सम्मिलित ध्वनि-बिम्ब को कहते हैं जो किसी शब्द के विभिन्न ध्वनियों के सयोग से प्रादुर्भूत होता है और उस ध्वनि बिम्ब के पृथक पृथक वर्णों से भिन्न-भिन्न अर्थों का बोध होता है। बिम्ब ग्रहण और शब्द का अन्योन्य सम्बन्ध है अत यह कहना अधिक न्याय सगत होगा कि बिम्ब ग्रहण के बिना शब्द का अस्तित्व ही खतरे में आ जाता है। इन्हीं बिम्बों की आधारशिला पर शब्द प्रतीकों का सृजन होता है। शब्द की अन्तिम ध्वनि उच्चरित हो जाने पर ध्वनि बिम्ब या स्फोट ही शब्द के सम्पूर्ण अर्थ का बोध कराता है। ध्वनिकार का मत है कि जिस प्रकार ध्वनि के और उसके स्फोट के सुनने पर ही उस शब्द का अर्थ ध्वनित होता है उसी प्रकार काव्य में शब्द के वाच्यार्थ के द्वारा जो व्यग्यार्थ ध्वनित होता है वही काव्य है। प्रतीक दृष्टि से शब्द का वाच्यार्थ महत्व नहीं रखता है परन्तु उसका व्यग्यार्थ ही भावपूर्ण तत्व है। डा० नगेन्द्र का मत है कि अर्थबोध शब्द के स्फोट पर ही आश्रित रहता है।[१२] शब्द प्रतीक का अर्थ स्फोट और व्यग्यार्थ की मीलित क्रिया से ध्वनित होता है।

शब्द का अभिधेयार्थ एक ही रहता है, परन्तु जब वह शब्द प्रतीक का कार्य करता है तब वही शब्द व्यजनात्मक हो उठता है। सत्य व्यग्यार्थ में चमत्कार

नहीं होता है पर उसमे उस तरह की जीवनगत मर्मस्पर्शिता होता है और प्रति॰ माजय जागरूकता। इसी से ध्वनिकार ने शब्द ध्वनि की परिणति के अनुसार काव्य के तीन भेद माने हैं, यथा—ध्वनि काव्य (उत्तम काव्य), गुणीभूत काव्य (मध्यम) और अधम काव्य (चित्रकाव्य)। जहाँ तक प्रतीक का प्रश्न है ध्वनि काव्य ही सत्य प्रतीकात्मक शैली को अपनाता है। गुणीभूत काव्य में वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ से समानता प्रदर्शित करता है वहाँ पर प्रतीक की स्थिति संदिग्ध रहती है क्योंकि वस्तु तथा शब्द का वहाँ पर समान धरातल रहता है।

ग—रीति सम्प्रदाय और प्रतीक

रीति और प्रतीक

रीति' शब्द भारतीय काव्य शास्त्र में उस विशिष्ट पद रचना जो कहते हैं जिसके द्वारा कवि अपने भावों तथा विचारो को किसी विशिष्ट शैली या फार्म (Form) मे अभिव्यक्ति प्रदान करता है। इसी से रीति या शैली को मनोविकारों की अभिव्यक्ति का नाम दिया गया।[13] अंग्रेजी शब्द स्टाइल रीति का समान अर्थ देता है। इसी शैली के अंतर्गत उन माध्यमो का समावेश होता है जो कवि या कलाकार रीति प्रदर्शन मे प्रयुक्त करता हैं। इसमे रूपक उपमा और प्रतीक आदि का भी समावेश है परन्तु यह रीति-काव्य का सर्वस्व नही है। यहाँ पर प्रतीक का जो भी विवेचन होगा वह केवल त्री या रीति के प्रकाश म होगा। अत यह विव न काव्य की दृष्टि से एकांगी ही कहा जायगा। इस दृष्टि से रीति कवि स्वभाव और उसके मनोभावो की प्रतीक मानी जा सकती है जो केवल रूपात्मक ही है।[14]

दण्डी वामन और भामह जैसे संस्कृत आचार्यों ने रीति तत्वो का विस्तृत विवेचन किया है। उसमें यदाकदा ऐसे सदर्भ प्राप्त होते हैं जो प्रतीकात्मक शैली की ओर संकेत करते हैं। परन्तु यहा प्रतीकात्मक शैली प्रतीकवाद नही है वह तो प्रतीक दर्शन का एक अंगमात्र है। प्रतीक को केवल एक शैली मानना उसके व्यापक अर्थ को संकुचित करना है। रीति-काव्य म अधिकतर प्रतीक का रूप शैलीपरक तो अवश्य है पर साथ ही उस प्रतीक का एक भावात्मक एव सवेदनात्मक रूप है जो उसे अर्थ प्रदान करता है। यहाँ यह मंतव्य नहीं है कि प्रतीक का शैलीपरक रूप है ही नहीं पर भावो तथा विचारो का रसात्मक सन्निवेश ही प्रतीक का प्राण है।

शब्द-गुण और अर्थ-गुण

वामन ने गुणों की संख्या १० मानी है और इन गुणों को दो भागों मे विभाजित किया है। वे हैं—शब्दगुण और अर्थगुण। ये दोनों गुण काव्य के भाव

श्यक अंग हैं जिस पर रीति का प्रासाद निर्मित हुआ है। ये गुण है—ओज प्रसाद, श्लेष समता, समाधि, माधुय, सुकुमारता उदारता अर्थव्यक्ति और काति। इन विभिन्न गुणो क विवचन से यह बात स्पष्ट होती है कि शब्द और अथ का अन्योन्य सबध ही प्रतीक की व्यजना शक्ति को मुखर करता है। इन गुणों मे श्लेष, माधुय और अथव्यक्ति का, प्रतीक की दृष्टि से, विशेष महत्व है क्योंकि प्रतीकाथ श्लेषपरक भी हो सकता है और उसम माधुय तथा काति का समावेश अपेक्षित है। शब्द प्रतीक उसी समय गुणयुक्त होत हैं जब वे औचित्यपरक अथव्यजना कर सकने मे समथ हों। वामन के अनुसार गुण मानसिक दशा के द्योतक हैं जो कान्यात्मा रस से सम्बधित हैं। मन की क्रियाओं में विचार की क्रिया अत्यत महत्वपूण है, अत गुण और विचार मन की क्रियाएँ हैं। विचार का काय प्रतीकीकरण है और प्रतीक का काय उस विचार तथा भाव की अथव्यक्ति है जिसका प्रतीकीकरण हुआ है। अत अथ व्यक्ति जो एक गुण है, उसका यथाथ स्वरूप वस्तु के विशद सदभ के प्रयोग मे समा हित है। काव्य मे प्रतीक की स्थिति उसी सीमा तक अपेक्षित है जिस सीमा तक वह शब्द प्रतीक अपने व्यग्याथ को—अथ व्यक्ति को एक विशिष्ट 'रीति' के द्वारा अभिव्यजित कर सके। काव्यात्मक शब्द का सौन्दय अथव्यक्ति के विस्तार मे निहित है जो अलकारों का भी क्षेत्र है। रीति की दृष्टि से शब्द का सौन्दय उसके रूपात्मक एव शलीपरक रूप में निहित है जो अथ को सुदर विधि से प्रकट कर सके।

दूसरा गुण काति है जिसके द्वारा शब्द प्रतीकों के प्रयोग म उज्ज्वलता तथा भावोद्रेक करने की क्षमता आती है। श्लेष गुण प्रतीक को स्थिर कर सकता है यदि उस शब्द के द्वारा दो या अधिक पक्षों म समानता व्यजित हो। इसका विवेचन अलकारों के अ तगत किया जायगा।

अरस्तू ने भी चार अवगुणों की प्रधानता दी है, यथा—समासों का अनुचित प्रयोग अप्रचलित शब्दों का प्रयोग विशेषणों का प्रयोग और रूपक का वण्य विषय से असगत प्रयोग[15]—जिनके द्वारा शली की गरिमा नष्ट हो जाती है। प्रतीकात्मक दृष्टि से जो बात रूपक के लिए कही गयी है वह प्रतीक के लिए भी सत्य है। प्रतीक की अथ व्यजना उसी समय सफल हो सकती है जब वह अपने वण्य विषय से पूण तादात्म्य स्थापित कर ले। यह मत मम्मट से भी साम्य रखता है।[16]

घ—वक्रोक्ति और प्रतीक

वक्रता और प्रतीक

कुन्तक का वक्रोक्तिवाद काव्य की आत्मा को वक्रोक्ति या कथन की वक्रता मानता है। यदि निष्पक्ष रूप से देखा जाय तो काव्य मे वक्रोक्ति का स्थान एक

स्वाभाविक गुण है। कविता में किसी भी भाव को स्वाभाविक वक्रता के साथ ही प्रस्तुत किया जाता है। यहाँ मैंने वक्रता के साथ 'स्वाभाविक' शब्द को जोड़कर कष्ट कल्पना पर आश्रित वक्रता से भिन्न करने का प्रयत्न किया है। अत, सभी अलकारों में वक्रोक्ति का समावेश अवश्य रहता है चाहे वह स्वाभाविक हो अथवा कष्ट कल्पना पर आश्रित हो।

अरस्तू ने अपने ग्रंथ पोयेटिक्स में एक स्थान पर कहा है कि 'प्रत्येक वस्तु जो अपनी स्वाभाविक सरल चालने की विधि से विलग हो जाय वह काव्य है।'[17] यह कथन वक्रोक्ति के रूप से समानता रखता है। दूसरी ओर कुछ रोमांटिक कवियों—जैसे वड्सवर्थ तथा कॉलरिज का वक्रोक्ति से विरोध था। वे ग्राम्य जीवन की साधारण भाषा के प्रति अधिक आकृष्ट थे।[18] परन्तु इनके काव्य मे भी स्वाभाविक तथा सरल वक्रता का समवेश अवश्य था जिसे उन्होने ग्रामीण जगत् की निष्कपट सरलता की सज्ञा दी है।

इस प्रकार वक्रोक्ति, अलकार और काव्य भाषा का एक आवश्यक गुण है। प्रतीक के लिए भी वक्रोक्ति का एक विशिष्ट स्थान है, जो उसके प्रतीकार्थ की सापेक्षता में ही ग्राह्य है। यह तथ्य रीतिकाल तथा आधुनिक काल मे प्रत्यक्ष रूप से प्रकट होता है। प्रतीक की वक्रता उसके अर्थ में निहित है। यदि प्रतीक की वक्रता में, प्रस्थापना (Proposition) का स्वरूप मुखर न हो सका तो वह प्रतीक न रहकर केवल शब्द या वस्तुमात्र ही रह जायगा।

अलकार और वक्रोक्ति

कुन्तक की परिभाषा से स्पष्ट होता है कि सालङ्कृत शब्द ही काव्य की शोभा है। वक्रोक्ति ही शब्द उसके अर्थ को सालङ्कृत कर अर्थ गरिमा का द्विगुणित कर देता है। अलकारों में शब्द की वक्रता काव्य प्रस्थापनाओ को रससिक्त कर देती है। विविध प्रकार के काव्यालकार वक्रोक्ति के रूप हैं। जहाँ तक रस का सम्बन्ध है कुन्तक ने उसे वक्रता पर आश्रित माना है और उसे 'रसवत् अलकार' मे समाहित किया है।[19] अत रस का उद्रेक वक्रता पर अवलंबित है। परन्तु रस के लिये केवल मात्र वक्रता आवश्यक नहीं है। शब्द प्रतीक की भावभूमि में वक्रता की स्वाभाविक परिणति ही उसे अलकारगत प्रतीक की श्रेणी तक ला सकती है। अत मे यह अलकृत शब्द वक्रोक्ति का औचित्य इसी तथ्य में समाहित रहता है कि वह किस सीमा तक 'रसानुभूति' में सहायक हो सका है। अप्रस्तुत विधान अलकार का अभिन्न अंग है। जब अप्रस्तुत स्वतन्त्र रूप से अलकारों के आवरण मे प्रयुक्त होते हैं, तो उनकी सफलता का रहस्य वक्रोक्ति भी कहा जा सकता है। मेरे विचार से जिन

अलकारो मे प्रतीक की स्थिति सम्भव है (जसे यमक, श्लेष, अन्योक्ति, और समासोक्ति, आदि), उनम किसी सीमा तक रसानुभूति की परिणति वक्रता पर आश्रित रहती है।

कुतक ने अलकारो के वाच्य तथा प्रतीयमान, दो रूप माने हैं। जहाँ तक रूपक का सम्बध है वह वाच्य भी हो सकता है और प्रतीयमान भी। प्रतीक की दृष्टि से वाच्य का स्थान नगण्य है क्योकि वाच्य अलकारो म उपमान और उपमेय का अभेदारोप तो अवश्य रहता है पर यह अभेदारोप स्पष्ट शब्दो म केवल वाच्याथ तक सीमित रहता है।[20] किन्तु प्रतीक मे यह अभेदारोप केवल उपमान या अप्रस्तुत रूप म स्वतन्त्र व्यक्तित्व के समान व्यग्य-मुखेन रहता है। उसका अथ वाच्य पर निभर न हो, व्यग्याथ पर आश्रित रहता है। अस्तु प्रतीक के लिए प्रतीयमान अलकार ही महत्वपूरण है, परन्तु इनमे भी प्रतीक की स्वतन्त्र स्थिति अपेक्षित है। बहुत से परम्परागत रूढि वक्रता के प्रतीक (यथा कवि परिपाटी) वाच्याथ से भिन्न रूढि अथ को ही व्यजित करते हैं। इनका भी चेत्र प्रतीयमान ही होता है चाहे वे अलकारो के आवरण म क्यो न प्रयुक्त हुए हो ?

अभिव्यजनावाद और प्रतीक

वक्रोक्तिवाद, वाणी की विलक्षणता के कारण भावो की विलक्षणता मानता है यह मत एकागी है। भाव तथा भाषा का अन्योन्य सम्बध है। भावों को प्रकट करने के लिए ही हम वाणी या भाषा का प्रयोग करते हैं, अत भाव प्राथमिक वस्तु है और भाषा द्वितीय। प्रतीक म भी भाव तथा भाषा का समन्वित रूप ही प्राप्त होता है। क्रोचे का अभिव्यजनावाद भाषा के इसी रूप का विवेचन करता है। क्रोचे ने कहा है—'अभिव्यक्ति के लिए भावात्मक सवदना आवश्यक है और सवेदना के लिए अभिव्यक्ति। इसीसे अभिव्यक्तिवाद भाषा की आधारशिला पर आधारित है।[21]

क्रोचे के अभिव्यजनावाद मे और कुतक के वक्रोक्तिवाद मे समानताएँ हैं जो प्रतीक की स्थिति की ओर सकेत करती हैं। दानो के लिए अभिव्यजना का समान महत्व है। दोनों वस्तु तथा भाव की अपेक्षा उक्ति मे काव्यत्व मानते हैं। दोनों कलाशास्त्री आत्मा की क्रिया को ही कला चेत्र मानते हैं अर्थात् अध्यात्मपरक क्रिया पर जोर देते हैं। दोनो सौदय की श्रेणिया नहीं मानते हैं, पर उसे सहजानुभूति की एक क्रिया मानते हैं।[22] इन समानताओ म जहाँ एक ओर आत्मभिव्यक्ति की प्रधानता है, वहीं अपेक्षाकृत वस्तु की गौणता। प्रतीक की दृष्टि से यह मत नितात सत्य नहीं है। प्रतीक की आधारशिला वस्तु ही होती है जो किसी अन्य अथ की ओर सकेत करती है। अभिव्यजना मे भी प्रतीक वस्तुपरक ही होते है पर अपने प्रतीकाथ मे

उस वस्तु से पर अन्य अर्थों तथा वस्तुओं की व्यजना करते हैं। प्रत्येक भाव रूप विचार की मनोवैज्ञानिक विशेषताओ का ध्यान में रखकर मूत्त विधान (अमूत्त का) करना अच्छा होता है [3] पर मूत्त विधान (प्रतीक) को अतिरंजित कर देना, अभिव्यजना को कृत्रिम बना देता है। आत्माभिव्यजना एक आध्यात्मिक क्रिया है और इसी से जो भी प्रतीक इस क्रिया मे सहायक होंगे वे मूत्त रूप होते हुए भी अमूत्त की व्यजना अवश्य करेंगे। यही प्रतीकात्मक अभिव्यजना, काव्य की सबसे बड़ी शक्ति है।

इ—अलकार और प्रतीक

शब्द-प्रतीक और अलकार

विगत विवेचन के प्रकाश मे यदा कदा अलकारो और उनमे प्रयुक्त शब्दो की ओर सकेत किया गया है। पडितराज जगन्नाथ ने एक स्थान पर कहा—' रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द काव्यम्' अर्थात् रमणीय अर्थ को प्रतिपादित करने वाला शब्द ही काव्य है। [4] पाश्चात्य विचारक लागिनस ने सब्लाइम (Sublime) पर विचार करते समय भव्यता (सब्लाइम) का उदय अलकारो की सत्ता मे माना है। अलकार भव्यता की वृद्धि करते हैं यह कथन पडितराज जगन्नाथ के रमणीय अर्थ के समकक्ष भान होता है। रमणीय अर्थ प्रदान करने के दो साधन हैं—व्यजना और अलकार। जहाँ तक प्रतीक शब्दो का प्रश्न है उनका स्थान समान रूप से अलकार और व्यजना पर आश्रित है। व्यजना शक्ति पर हम विचार कर चुके हैं अत अलकार और प्रतीक का विवेचन अपेक्षित है।

अलकार काव्य के गुण माने गये हैं। आचार्य विश्वनाथ ने अलकारो के बारे में कहा है कि शोभा को बढानेवाले और रसादि के उपकारक जो शब्द अर्थ के अस्थिर धर्म हैं, वे अगद (आभूषण विशेष) आदि की तरह अलकार कहे जाते हैं। [2] परन्तु प्रतीक की महान् भावभूमि को ध्यान मे रखते हुए अलकार की यह परिभाषा एकागी कही जायगी।

अलकार की मूल प्रेरणा का रहस्य क्या है? उनकी प्रेरणा का मूलभूत स्रोत भावों तथा सवेदनाओं में निहित है। जब मानव मन में भावनाएँ सजग होती हैं तब वे आवेग का रूप धारण करती हैं और ये आवेग इतने तीव्र होते हैं कि व कवि के मानस-लोक को उद्वेलित कर देते हैं। अमूत्त आवेग इस प्रकार मूत्त रूप में अभिव्यजित होते हैं। अलकार भी एक रूपात्मक अभिव्यक्ति है। इसी से क्रोचे ने अलकार प्रतीक, पर्याय— सबको अभिव्यजना की विधियाँ माना है। [6] सत्य में

तत्व (content) को शक्तिशाली रूप मे अलकार ही रख सकने म समर्थ है। अभिव्यक्ति के विशेष माध्यम शब्द है जो अलकारों में सुंदर विकास प्राप्त करते हैं। शब्द ही वस्तु तथा पात्र के बोधक होते हैं। अलकार, वस्तु और पात्र मे निहित मनोवनानिक सौंदय को स्पष्ट करने के साधन है, केवलमात्र अलकार, के उपकरण नही हैं।[27] अनेक एसे कायालकार हैं जिनमे शब्द प्रतीको के अर्थ विस्तार पर ही रस का उद्रेक होता है। यह कवि की प्रतिभा पर निभर करता है कि वह प्रतीक को भार के आवरण मे कितने बडे सत्य का वाहक बना सका है। अलकार मे प्रतीक केवल चमत्कारिक वस्तु नही है पर उनका महत्व विचारो तथा भावो को रमणीय रूप देने म है। अलकार अभिव्यक्ति के माध्यम हैं उनके साध्य नही।

अलकार और प्रतीक क इस विवेचन के प्रकाश मे कुछ ऐसे कायालकार दृष्टिगत होते हैं जिनम प्रतीक की स्थिति सम्भव है। अत उनका विवेचन यहाँ अपेक्षित है।

रूपक और प्रतीक

अनेक विचारक रूपक और प्रतीक मे कोई भी भिन्नता नही पाते हैं। अनकों के अनुसार प्रतीक ही रूपक हैं और व केवल रूपक से ही आविर्भूत होते हैं[28], इस मत का विश्लेषण अपेक्षित हैं।

रूपक में उपमान तथा उपमेय की अभिन्नता तथा तद्रूपता रहती है। एक प्रकार से रूपक दोनो का समान महत्व है। परन्तु उनकी तद्रूपता म भी विलगता का स्पष्ट आभास मिलता है। यह बात प्रतीक के लिए सवथा असत्य है। प्रतीक का अपना एक स्वतन्त्र अस्तित्व होता है और साथ ही वह पूरे सदभ का अपने अन्दर समेटने मे समथ होता है। प्रतीक मे उपमान तथा उपमेय (प्रस्तुत तथा अप्रस्तुल) की सत्ता नही रहती है वहाँ तो केवल उपमान ही प्रतीक की स्थिति को स्पष्ट करता है। उपमान मे उपमेय अन्तर्भूत हो जाता है और केवलमात्र उपमानही पूरे सदभ को किसी भाव या विचार का वाहक बना किसी अन्य अथ की व्यजना करता है। तभी वह प्रतीक हो जाता है। अत डा० धमवीर भारती का यह मत कि औपम्यमूलक प्रतीक-योजना रूपक की मूल प्रकृति है जिसमे प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत का अभेद रहता है[9] पूर्ण रूप से सत्य नही है। यह ठीक है कि प्रतीक म भी प्रस्तुत और अप्रस्तुत का अभेदत्व रहता है परन्तु यह अभेदत्व रूपक से सवथा भिन्न है। रूपक मे अभेदत्व उपमान तथा उपमेय की व्यक्त योजना के कारण वहाँ पर कथन कर दिया जाता है। दूसरी ओर प्रतीक के अभेदत्व मे उपमान तथा उपमय का अलग अलग कथन नहीं किया जाता है। अप्रस्तुत पर जितना ही अधिक स्वतन्त्र

प्रतीकत्व होगा वह उतने ही विस्तृत अर्थ का व्यंजक होगा। इस प्रकार, प्रतीक कार्य की गत्यात्मकता में व्यक्त और अव्यक्त का एक साथ अपने में समन्वय कर लेता है। वह अपने में ही कार्य कारण (Cause and effect) का प्रतिरूप होता है। वह मूर्त और प्रतिमूर्त की तरह अकेला काम करता है[30] यही प्रतीक की है और उसके व्यक्तित्व की विशालता।

श्लेष और प्रतीक

दूसरा अलंकार श्लेष है जिसमें प्रतीक की स्थिति प्राप्त होती है। श्लेष में शब्द से अनेक अर्थ ध्वनित होते हैं, परन्तु शब्द का प्रयोग एक बार ही होता है। यहीं पर शब्द प्रतीक की दशा स्पष्ट होने लगती है और अन्त में वह किसी भाव में स्थिर हो जाता है। इस प्रकार, अर्थसमष्टि के अभिव्यक्तिकरण में प्रतीक किसी शब्द विशेष का आश्रय ग्रहण करता है। यह शब्द उस सर्चलाइट के समान है जिसके अर्थ की प्रकाश रश्मियाँ इष्ट दिशाओं में गतिशील होती हैं। इस भाँति शब्द अनेकार्थी होकर विस्तृत सदन को अपने विशाल बाहुपाशों में आबद्ध कर लेता है। इस तरह, प्रतीक के लिए शब्द का वैशिष्ट्य अपेक्षित है। अनेक सादृश्यमूलक अलंकारों की (यथा यमक, श्लेष, प्रतीप, अपह्नुति) अभिव्यक्ति किसी शब्द विशेष के माध्यम से ही होती है। श्लेष में (यमक में भी) प्रतीकवाद की स्थिति वहीं सम्भव है जहाँ शब्दों के अर्थ, व्यंजना की प्रतिष्ठा करते हुए किसी भाव या विचार में स्थिर हो जाते हैं। श्लेष में सभी शब्दों का ध्येय इसी भाव तथा विचार को व्यंजित करने के लिए होता है और ये शब्द केवल एक प्रमुख शब्द के दो संदर्भों को सादृश्य के आधार पर स्थिर कर प्रतीकात्मक व्यंजना प्रस्तुत करते हैं। उदाहरणस्वरूप घन श्याम शब्द लिया जा सकता है। यह शब्द उसी समय प्रतीकात्मक रूप धारण करेगा जब वह मेघ के साथ-साथ किसी अन्य वस्तु, भाव तथा व्यक्ति की गतिशीलता में स्थिर हो जाय। सेनापति के श्लेष-वर्णन में ऐसे प्रतीकों की सुंदर योजना प्राप्त होती है।[31] सूरदास तथा केशव में भी हम श्लेषगत-प्रतीकों का यदा-कदा संकेत मिल जाता है।

यमक और प्रतीक

श्लेष में शब्द की पुनरावृत्ति नहीं होती है परन्तु यमक में शब्द की बार-बार आवृत्ति होती है। इस आवृत्ति में वह शब्द अनेक अर्थों की व्यंजना अलग-अलग करता है। इसके साथ इन अर्थों का स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं रहता है, वरन् ये किसी चित्र, भाव तथा विचार को स्थिर करने वाले अंग रहते हैं। इस प्रकार

श्लेष की ही तरह शब्द प्रतीक की गतिशीलता किसी ग्रंथ में स्थिर हो जाती है।
सूर के कूटों में इस प्रकार के यमक प्रतीकों की सुंदर योजना प्राप्त होती है।

रूपकातिशयोक्ति और प्रतीक

इस अलंकार में शब्द प्रतीकों की पूर्ण स्वतंत्र सत्ता प्राप्त होती है। इन प्रतीकों की संख्या भी अधिक हो सकती है जो केवल अप्रस्तुत या उपमान की गणना पर निर्भर करती है। अतः रूपकातिशयोक्ति में प्रतीक का रूप अधिकतर अप्रस्तुत परक ही रहता है। इसी से इन प्रतीकों का 'अप्रस्तुत-प्रतीक' की संज्ञा दी जा सकती है। इन प्रतीकों का प्रतिकार्य एकपक्षीय होता है व केवल एक ही अर्थ की व्यंजना करते हैं। श्लेष प्रतीकों के समान दो पक्षीय व्यंजना नहीं करते हैं। इन प्रतीकों का परिगणन-मात्र ही किसी योजना में होता है जो समष्टि रूप में किसी भाव या चित्र रूप में व्यंजना करते हैं। इसी से इस अलंकार में एक साथ अनेक प्रतीकों की स्थिति संभव है केवल एक प्रतीक पूरे संदर्भ का समावेश अपने अंदर नहीं करता है। अतः प्रत्येक प्रतीक का संदर्भ अत्यंत संकुचित होता है।

अन्योक्ति और प्रतीक

अन्योक्ति में प्रतीक की स्थिति नितांत स्वतंत्र रूप में उभर कर आती है। अन्योक्ति में उपमान तथा उपमेय की एकाकारिता होती है। वह वस्तु तथा पदार्थ जिसे अन्योक्ति का माध्यम बनाया गया है, उसका मुख्य धर्म ही बढ़कर सारे संदर्भ को अपने अन्दर क्रमशः समेट लेता है। इस प्रकार वस्तु पूरे संदर्भ का प्रतीकीकरण करने में समर्थ होती है। दूसरे पर कही गयी उक्ति उस वस्तु या अप्रस्तुत में इस प्रकार से एकीभूत हो जाती है कि अप्रस्तुत का प्रस्तुत रूप में अवतार होता है।[32]

अन्योक्ति में प्रतीक का चयन किसी भी क्षेत्र से लिया जा सकता है चाहे वह चेतन जगत् हो अथवा अचेतन। जिस अप्रस्तुत में जितना भी प्रतीकत्व होगा उस पर की गयी अन्योक्ति उतनी ही मार्मिक होगी।[33] यही कारण है कि कमल भौंरा, हंस और काग आदि पर अप्रस्तुत का बोझ इतने अधिक समय से लगा हुआ है कि वे रूढ़िमय में बिल्कुल स्थिर हो गए हैं।

कथा-रूपक (Allegory) और प्रतीक

कथा-रूपक के द्वारा कवि या लेखक एक अत्यन्त महत् संदर्भ का प्रतीकीकरण करता है। इसमें किसी प्रस्थापना या 'सत्य' को व्यंजित किया जाता है। इस व्यंजना के माध्यम भौतिक पदार्थ भी हो सकते हैं और व्यक्ति भी। परन्तु

कथारूपक के सभी पात्र चाहे वे मानवेतर प्रवृत्ति से लिए गए हों अथवा मानवीय व्यक्तित्व से युक्त हों, उनका प्रयोग किसी 'सत्य' को व्यंजित करना ही होता है और वह भी किसी कथा के परिवेश में। इस दृष्टि से सम्पूर्ण पौराणिक तथा धार्मिक कथायें 'कथा-रूपक' शैली में लिखी गई है। इन कथाओं के प्रतीकात्मक अर्थ का ध्येय कथा के 'महत् प्रतीकार्थ' या सत्य को मुखर करना होता है। इस 'महत्-प्रतीकार्थ' को कथा के तन्तुओं से अलग करना ही उस कथा के 'सत्य' का अवगाहन करना है।

कथा रूपक में प्रत्येक पात्र का अपना विशिष्ट प्रतिकार्थ होने के कारण भरवन ने कथा रूपक को उपमा का बौद्धिक विकास माना है।[34] मेरे विचार से कथारूपक में उपमा का बौद्धिक विकास तो अवश्य प्राप्त होता है पर उस विकास में बुद्धि के साथ-साथ अनुभूति का भी उचित समावेश रहता है। बिना अनुभूति के उपमा का प्रतीकत्व पूर्ण अर्थ व्यक्त करने में असमर्थ रहेगा। यहां उपमा का अर्थ केवल तुलना है, जो सादृश्य के आधार पर होती है। परन्तु प्रतीक की भावभूमि में वह वस्तु जिसकी तुलना की जाती है, उसका सर्वथा अभाव रहता है। केवल इसी रूप में उपमा के प्रतीकत्व का हम कथा रूपक में स्थान दे सकते हैं।

अस्तु कथा रूपक के द्वारा प्रतीकात्मक-दर्शन अपने उच्च रूप में प्राप्त होता है। कथा-रूपक के इस प्रतीकात्मक-विस्तार में बाह्य तत्व क्रमशः महत्-तत्व (Significance) में एकीभूत होते प्रतीत होते हैं और अन्त में वे पूर्णरूप से 'महत्तत्व' के व्यंजक बन जाते हैं।[35] इस प्रकार कथा रूपक में चिन्तनपरक अर्थ और भौतिक आरोपण का समानान्तर विकास सम्भव होता है। फिर भी, कथा रूपक के महत्-प्रतिकार्थ के प्रति बोशा का एक आश्चर्यजनक निष्कर्ष है। वह कहता है— कथा-रूपक अपने मूलरूप में दोषयुक्त प्रतीकवाद है जिसमें रूप और तत्व (From and Gonteat) की असमानता रहती है[36]। इस कथन में जो दोषयुक्त प्रतीकवाद का संकेत किया गया है वह निराधार है। उपर्युक्त विवेचन इसका प्रमाण है। प्रतीकवाद का सुन्दर विकास हम कथा रूपक में ही प्राप्त होता है। संसार के अनेक महा-काव्य तथा काव्य इसी शैली में लिखे गए हैं जो युगों-युगों से अपने प्रतीकों द्वारा ही सांस्कृतिक चेतना के अभिन्न अंग बन सके हैं। ये कभी भी चिरन्तन न हो पाते और इनका सांस्कृतिक महत्व न जाने कब का रसातल में चला गया होता, यदि इनका प्रतीकवाद दोषयुक्त होता। अब रही तत्व और अर्थ की बात ! कथा रूपक में प्रतीकवाद दोषयुक्त नहीं है, अतः उसमें तत्व समावेश का रूप भी अत्यन्त अर्थ-गर्भित है बिना अर्थ के तत्व का स्थायित्व नहीं रह सकता है और बिना रूप के तत्व की अभिव्यंजना कैसे हो सकती है ? असमानता का रूप तो परान्न की वस्तु

है, सत्य है उनका सूक्ष्म स्तर पर गृहीत ग्रथ। कथा रूपक म रूप-तत्व' की सार्वभौमिकता, उसके तत्व पर ही ग्राश्रित रहती है—दोनो एक दूसरे के पूरक होकर ही कथा-रूपक म कार्य-कारण की शृखला में अनुस्यूत रहते है।

मानवीकरण

मानवीकरण आरोपण की प्रवृत्ति का एक विकसित रूप है। मानव की सवेदना समस्त चराचर विश्व को एक मानवीय चेतना एव क्रिया से सवलित देखता है जो ग्रादिमानवीय स्थिति मे भी प्राप्त होती है। मानवीकरण की क्रिया, प्रकृति जीव ग्रौर जगत् के तादात्म्य ग्रौर एकात्मभाव की महत् क्रिया है। साहित्य म मानवीकरण की प्रेरणा का स्रोत सवेदना के प्रत्यक्षीकरण के लिए होता है।[37]

भारतीय दर्शन मे भी जड जगत् को भी चेतनयुक्त देखने की प्रवृत्ति प्राप्त होती है। सारे उपनिषद् साहित्य में इनके ग्रनेक उदाहरण मिल जाते हैं। मेरे विचार में इसका कारण वह एकात्मभाव है जो ब्रह्म की चेतन क्रिया का स्पदन समस्त सृष्टि प्रसार में देखता है। इसीसे, उपनिषदो मे सूय से परे या उसके ग्रदर पुरुष की कल्पना की गई[38] सृष्टि प्रसग म चेतन शक्ति को 'विराट् पुरुषात्मा की सज्ञा प्रदान की गई जिसके विभिन्न ग्र ग सृष्टि के विभिन्न ग्रवयव हैं[39] ग्रत मानवीकरण जहाँ एक ग्रोर जड ग्रौर चेतना को एक सूत्र मे बाधता है वही वह किसी धारणा ग्रथवा भाव का प्रतिरूप भी होता है ग्रौर कही-कही तत्व चिंतन का रूप भी मुखर करता है। ग्रस्तु, मानवीकरण का हमारे दर्शन में एक ग्रध्यात्मिक तथा तात्विक महत्व है।[40]

मानवीकरण का क्षेत्र प्रकृति की घटनाग्रो तथा व्यापारो मे दैविकरण में भी प्राप्त होता है ग्रौर साथ ही मानवीय भावो तथा धारणाग्रो के व्यक्तित्व प्रदान करने मे भी। यह प्रवृत्ति हम ग्रादिकाव्य से लेकर ग्राधुनिक काव्य तक समान रूप से प्राप्त होती है।

मानवीकरण का काव्य रूप उसी समय सफल माना जायगा जब उसम अनुभूति प्रवणता का समावेश प्राप्त हो। ग्रनुभूति एक ग्रात्मिक क्रिया है जिसमे समस्त चराचर विश्व ग्रात्मिका एकत्वभाव म ग्रन्तर्निहित हो जाता है। इस दशा म मानव ग्रपने दु ख-सुख को वाह्य प्रकृति पर आरोपित कर उसे सवेदनशील बना देता है। वह ग्रपनी सीमित परिधि को तोडकर ग्रात्मिक ग्रनुभूति को समस्त चराचर म प्रसारित करता है। यहाँ पर जड भी मानव का सहयोगी बन जाता है। इसी से गोपियो न ग्रपनी विरहानुभूति को इतना व्यापक रूप प्रदान किया कि यमुना को ही विरहिणी का रूप दे डाला। यहाँ पर ऐसा ज्ञात होता है कि वस्तु का निलय मानवीय रूप म सम्पन्न हो, ग्रनुभूति की प्राबलता मे साकार हो उठा है। कदाचित्

इसीमे प्रेमवाट ने मानवीकरण क्रिया मे पदाथ और मानव का एकाभूत सस्कार माना है।[41] इस दृष्टि से रस्किन का पथेटिक फलमी' (Pathetic Fallacy) वाला सिद्धात निराधार प्रतीत होता है और फिर जब हम प्रकृति के उल्लासपूर्ण चित्रो म चेतना का आरोप करते हैं तब हम उसे दोप की सना नही दते हैं फिर विपाद चित्रो पर ही ऐसा दोपारोपण क्यों ? अत पथटिक फलसी के स्थान पर डॉ० रामकुमार वर्मा ने जो 'सिम्पथटिक फलसी की अवतारणा की है, वह रस्किन के एकागी दृष्टिकोण से कही विस्तृत है ?[42] परतु चाहे वह सिम्पथटिक या पथटिक फलसी हो, दोप तो यह दोनो दृष्टियो से है। मैं तो इसे दोप या फलसी ही नही मानता हू। वह तो दोप तब हो सकता है जब उसे दोपयुक्त रूप मे प्रस्तुत किया जाय। यह दोप ही गुण हो जाता है जब इसके द्वारा चेतना का विस्तार अपनी उध्वगामी प्रवत्ति का परिचय देता है। मानवीकरण तत्व चितन का मू है, सार है—वह अद्व तदशन की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है। इस दृष्टि मे वह काव्य का गुण है।

सदभ सकेत

१ काव्य-सम्प्रदाय द्वारा अशोककुमार सिंह, प० २७
२ दे०, बृहदारण्यकोपनिषद्, अध्याय २ ब्राह्मण ५, पृ० ८८२ ५६५१
३ ब्राट, द्वारा बलान्व बेल प० १८
४ तैत्तिरीयोपनिषद् में आनन्दमय आत्मा और ब्रह्म की समानता, दे० प० १६१ तथा २०८ (उपनिषद् भाष्य खड २)
५ नायिका भेद के अधिकाश प्रकारों का अध्ययन प्रतीक रूप म किया जा सकता है, जो एक अलग ही विषय है।
६ द वल्ड एज स्पिरिचुअल, द्वारा म्यूलर, प० ८६
७ रीतिकाल की भूमिका द्वारा डा० नगेन्द्र पृ० ४६
८ द एसेंस आफ एस्थटिक द्वारा क्रोचे, प ४२
९ साहित्य शास्त्र द्वार डा० रामकुमार वर्मा, प० ११५
१० एस्थटिक द्वारा क्रोचे प० ३२८
११ एस्थटिक एड साइंस, स० विलियम इस्टन, प० १०३ पर दिये कलिंगवुड का कथन।

१२ रीतिकाल की भूमिका, द्वारा डा० नगेन्द्र प० १५०
१३ रीतिकाल की भूमिका, पृ ६५
१४ भारतीय साहित्य शास्त्र द्वारा श्री बलदेव उपाध्याय पृ० २०१
१५ वही, पृ० २१८ १६
१६ भारतीय साहित्य शास्त्र, द्वारा श्री बलदेव उपाध्याय, पृ २१६
१७ पोयेटिक्स, द्वारा अरस्तू, प० ७५, उद्धृत भारतीय साहित्य शास्त्र से।
१८ रोमांटिक साहित्य शास्त्र, देवराज उपाध्याय, पृ० १११
१९ रीतिकाल की भूमिका —वक्रोक्ति सम्प्रदाय
२० भारतीय साहित्य शास्त्र, प० ३२५
२१ बोशो (Bosauquest) थ्री लेक्चर्स आन एस्थटिक, पुस्तक ए माडन बुक आफ एस्थिटिक, द्वारा रेडर, प० १६७
२२ रीतिकाल की भूमिका, प० १२५
२३ काव्य मे अभिव्यंजनावाद, द्वारा श्री लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु, प० १२४
२४ काव्य सम्प्रदाय द्वारा अशोककुमार सिंह पृ० ७८
२५ वही पृ० ८०
२६ एस्थटिक द्वारा क्रोशे पृ० ६८
२७ साहित्य शास्त्र द्वारा रामकुमार वर्मा पृ० ११६
२८ द फिलासफी आफ फाइन आर्ट स, द्वारा हीगल पृ० १३८
२९ सिद्ध-साहित्य, द्वारा डा० धर्मवीर भारती पृ० २८४
३० थियरी आफ लिटरेचर, द्वारा वारन और वेलक पृ० १९२
३१ वे० हिन्दी अनुशीलन मे प्रकाशित मेरा शोध लेख 'सेनापति के श्लेष प्रतीक"— वर्ष १४, अंक ३ प्रका० तिथि, ३० सितम्बर १९६२
३२ हिन्दी कविता मे युगान्तर द्वारा सुधीन्द्र पृ० ३६४
३३ काव्य मे अभिव्यंजनावाद द्वारा लक्ष्मीनारायण सुधांशु पृ० ११६
३४ सम्बेज एण्ड रियाल्टी, द्वारा अरबन पृ० ४७
३५ द फिलासफी आफ फाईन आर्ट स द्वारा हीगल पृ० १३२
३६ हिस्ट्री आफ एस्थटिक, द्वारा बोशो पृ० ४४

इसीसे प्रेमकाट ने मानवीकरण क्रिया मे पदार्थ और मानव का एकीभूत सस्कार माना है।[41] इस दृष्टि से रस्किन का 'पथेटिक फलसी' (Pathetic Fallacy) वाला सिद्धात निराधार प्रतीत होता है और फिर जब हम प्रकृति के उल्लासपूर्ण चित्रो में चेतना का आरोप करते हैं तब हम उसे दोष की सज्ञा नही देते हैं फिर विषाद चित्रो पर ही एसा दोषारोपण क्यो ? अत पथेटिक फलसी के स्थान पर डॉ० रामकुमार वर्मा ने जो 'सिम्पथेटिक फलसी' की अवतारणा की है, वह रस्किन के एकागी दृष्टिकोण से कही विस्तृत है ?[42] परन्तु चाहे वह सिम्पथेटिक या पथेटिक फलसी हो, दोष तो वह दोनो दृष्टियों से है। मैं तो इसे दोष या फलसी ही नही मानता हू। वह तो दोष तब हो सकता है जब उसे दोषयुक्त रूप म प्रस्तुत किया जाय। यह दोष ही गुण हो जाता है, जब इसके द्वारा चेतना का विस्तार अपनी उध्वगामी प्रवृत्ति का परिचय देता है। मानवीकरण तत्व चिंतन का मधु है, सार है—वह अद्वैत-दर्शन की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है। इस दृष्टि से वह काव्य का गुण है।

सदर्भ सकेत

१ काव्य-संप्रदाय द्वारा अशोककुमार सिंह, पृ० २७

२ वे०, बृहदारण्यकोपनिषद्, अध्याय २ ब्राह्मण ५ पृ० ४८२ ५६५१

३ आट, द्वारा क्लाइव बेल, पृ० १८

४ तैत्तिरीयोपनिषद् में आनन्दमय आत्मा और ब्रह्म की समानता दे० पृ० १६१ तथा २०८ (उपनिषद् भाष्य खड २)

५ नायिका भेद के अधिकाश प्रकारों का अध्ययन प्रतीक रूप म किया जा सकता है, जो एक अलग ही विषय है।

६ द वर्ड एज स्पिरिट्स द्वारा म्यूलर पृ० ८६

७ रीतिकाल की भूमिका द्वारा डा० नगेन्द्र पृ० ४६

८ द एसेंस आफ एस्थटिक द्वारा क्रोचे, प ४२

९ साहित्य शास्त्र, द्वार डा० रामकुमार वर्मा पृ० ११५

१० एस्थटिक द्वारा क्रोचे पृ० ३२८

११ एस्थटिक एड साइकोलॉजी स० विलियम ईस्टन पृ० १०३ पर दिये वर्निग्घम का कथन।

१२ रीतिकाल की भूमिका, द्वारा डा० नगेन्द्र प० १५०
१३ रीतिकाल की भूमिका, पृ ६५
१४ भारतीय साहित्य शास्त्र द्वारा श्री बलदेव उपाध्याय पृ० २०१
१५ वही, प० २१८ १६
१६ भारतीय साहित्य शास्त्र, द्वारा श्री बलदेव उपाध्याय, प २१६
१७ पोयेटिक्स, द्वारा अरस्तू, पृ० ७५, उद्धृत भारतीय साहित्य शास्त्र से।
१८ रोमांटिक साहित्य शास्त्र, देवराज उपाध्याय, पृ० १११
१६ रीतिकाल की भूमिका,—वक्रोक्ति सम्प्रदाय
२० भारतीय साहित्य शास्त्र, पृ० ३२५
२१ बोसो (Bosauquest) श्री लेक्चर्स आन एस्थटिक, पुस्तक ए मार्डन
बुक आफ एस्थिटिक, द्वारा रेडर, प० १६७
२२ रीतिकाल की भूमिका, प० १२५
२३ काव्य मे अभिव्ययजनावाद, द्वारा श्री लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु,
प० १२४
२४ काव्य सम्प्रदाय द्वारा अशोककुमार सिंह, पृ० ७८
२५ वही, पृ० ८०
२६ एस्थटिक, द्वारा क्रोशे पृ० ६८
२७ साहित्य शास्त्र द्वारा रामकुमार वर्मा पृ० ११६
२८ द फिलासफी आफ फाइन आर्टस द्वारा हीगल पृ० १३८
२६ सिद्ध-साहित्य, द्वारा डा० धर्मवीर भारती पृ० २८४
३० थियरी आफ लिटरेचर द्वारा वारन और वेलक पृ० १६२
३१ दे० हिन्दी अनुशीलन मे प्रकाशित मेरा शोध लेख "सेनापति के श्लेष
प्रतीक'— वर्ष १४, अक ३ प्रका० तिथि, ३० सितम्बर १६६२
३२ हिन्दी कविता मे युगान्तर द्वारा सुधीन्द्र पृ० ३६४
३३ काव्य में अभिव्यजनावाद द्वारा लक्ष्मीनारायण सुधांशु' पृ० ११६
३४ लग्वेज एड रियाल्टी, द्वारा अरबन पृ० ४७
३५ द फिलासफी आफ फाईन आर्ट स द्वारा होगल पृ० १३२
३६ हिस्ट्री आफ एस्थटिक द्वारा बोसो पृ० ४४

३७ साहित्य शास्त्र द्वारा डा० वर्मा पृ० ६६

३८ कठोपनिषद्, अध्याय १, वल्ली ३ पृ० ६७/११ तथा बृहद्० उप०, पृ० ८७१ ८७८ (खंड १ तथा ४)

३९ ऐतरेयोपनिषद् अध्याय १ खंड १ पृ० ३२ ४१ (उपनिषद् भाष्य खण्ड २)

४० वै०, साहित्य शास्त्र द्वारा डा० रामकुमार वर्मा पृ० ६६

४१ पोयेटिक माइंड, द्वारा प्रेसकाट, पृ० २२६

४२ साहित्य शास्त्र द्वारा डा० वर्मा पृ० ७२

कबीर का 'निरजन' शब्द —एक नवीन दृष्टिकोण | २

निरजन शब्द के अर्थ में और उसकी धारणा मे अनेक भ्रांतियों का समावेश हो गया है जिसका मुख्य कारण उसके द्विविध संदर्भ हैं। एक समष्टि अर्थ मे निषेधात्मक (negative) और दूसरे मे निश्चयात्मक (positive) अर्थ-सदर्भों का योग सा हो गया है, इसी से, उसका सही रूप एक अद्भुत रहस्यात्मक विपरीत धारणाओं का रगस्थल हो गया है। सत्य रूप मे, कबीर में हमें यदा कदा इन दोनो रूपो का वर्णन प्राप्त होता है जिसका विवेचन यथास्थान होगा। प्रथम निरंजन के प्रति विद्वानों की जो धारणायें हैं उनका सिंहावलोकन अपेक्षित है।

श्री परशुराम चतुर्वेदी ने निरजन को शुद्ध-बुद्ध ब्रह्म का रूप माना है जो ना" स्वरूप है जिसकी स्थिति सिद्धों और नाथों मे भी प्राप्त होती है। वह राम, अल्लाह के समान सार-तत्व है।[1] इस धारणा में प्राय सभी तत्व निश्चयात्मक हैं जिन्होने निरजन को एक साकार स्वरूप देने का प्रयत्न किया है। इसका यह अर्थ नहीं कि वह सगुण भक्तों का साकार रूप ब्रह्म है परन्तु वह कबीर के 'निगु ण राम' के अधिक निकट है।

डा० बडथ्वाल ने भी निरजन को परब्रह्म का पर्याय माना है परन्तु इसके साथ यह भी मत रखा है कि आगे चलकर परब्रह्म उसके ऊपर समझा जाने लगा और वह कालपुरुष कहलाने लगा।[2] अत आपके अनुसार निरजन की स्थिति परब्रह्म से नीचे है और वह कालपुरुष का भी रूप है। आपके मत से भी निरजन निश्चयात्मक तत्वों से पूर्ण है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी निरजन शब्द को निगु णब्रह्म का और शिव का वाचक शब्द माना है।[3] इसके साथ ही उनका यह कथन है कि आगे चलकर

---

१ कबीर-साहित्य की परख—श्री परशुराम चतुर्वेदी पृ० २४४-४६ (सं० २०११)।

२ हिन्दी काव्य में निगु ण सम्प्रदाय—डा० बड़थ्वाल अनु० श्री परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १६१ (सं० २०००)।

३ कबीर—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ० ४२ (१९५३)।

इस शब्द की कबीरपंथ में बहुत दुर्गति हुई और उसे शैतान भी समझा गया। वह एक ऐन्द्रजालिक सत्ता है जिसका काम जाल में फँसाना है। इस धारणा में भी निश्चयात्मक तत्वों का समाहार हुआ है।

उपर्युक्त सभी मतों में निरंजन के निषेधात्मक तत्वों को छोड़ दिया गया है अथवा उसके प्रति पूरा न्याय नहीं किया गया है। साधारणतः निषेधात्मक अर्थ समष्टि में 'नेति-नेति' प्रणाली का सहारा लिया जाता है जिसे आधुनिक दार्शनिक शब्दावली में "अनंत प्रत्यावर्तन (infinite regress) की संज्ञा दी गई है। परन्तु निश्चयात्मक अर्थ ग्रहण में किसी वस्तु को स्थिर कर उसे समय और आकाश की सीमा में बाँधा जाता है। सन्त के निरंजन शब्द में इन दोनों प्रणालियों का यत्र तत्र प्रयोग हुआ है जिसके द्वारा 'सत्य' का स्वरूप मुखर होता है। इसी "परम-सत्य' की अनुभूतिमय धारणा को स्पष्ट करने के लिए अनेक दार्शनिकों ने अपने तात्त्विक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। यदि हीगेल के 'परमात्म तत्व' या निरपेक्ष तत्व (Absolute Spirit) और शंकर के ब्रह्मतत्त्व का विश्लेषण किया जाय तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनके परम-तत्व रूप में दो विपरीत धारणाओं का एकीकरण अथवा समन्वय हुआ है। हीगल के निरपेक्ष-तत्व में विषयीगत और विषयगत तत्वों की एकता प्रदर्शित की गई है, शंकराचार्य के 'ब्रह्म' में भी ईश्वर और माया का समन्वय किया गया है। दूसरे शब्दों में ससीम और असीम शून्य और अशून्य-ब्रह्म और ईश्वर (माया), विषयिगत और विषयगत (subjective and obj ctive) जैसे विरोधी तत्वों का जो धारणा अपने में एक समंजस रूप में समन्वय हो सके, वही तो परम-तत्व है, ब्रह्म है और अल्लाह है। इस दृष्टि से निरंजन की धारणा में भी दो विपरीत धारणाओं का संगम हुआ है—एक है 'अंजन' की भावना और दूसरी है अंजन से परे (अंजन निः = निर + अंजन) की धारणा। प्रथम निश्चयात्मक है और दूसरी निषेधात्मक है।

कबीर दादू आदि सन्तों ने जहाँ एक ओर अंजन को निरंजन का ही अंग माना है दूसरी ओर उसकी सत्ता को ग्रहण तो की है उसकी सत्ता का नितान्त तिरस्कार नहीं किया। सन्त-काव्य में अंजन तत्व इस नाम रूपात्मक अखण्ड संसार का प्रतीक माना गया है जो कि निरंजन के परमतत्व का विकार एवं विराग है।

राम निरंजन न्यारा रे अंजन सकल पसारा रे।
अंजन उत्पति वो ओंकार अंजन मांड्या सब बिस्तार।
अंजन ब्रह्मा, शंकर, इन्द्र अंजन गोपी संगि गोव्यंद ॥[1]

---

1 कबीर-ग्रन्थावली—श्यामसुन्दरदास पृ० १६८ १२६ (१६२८)।

इस अंजन की धारणा में उन सभी तत्वों का समावेश हुआ है, जो किसी आधार तत्व' (substance) से विकसित हुये हैं, जिसका क्षेत्र प्रकृतिगत शक्तियाँ (ब्रह्मा आदि) है अथवा दृश्यमान जगत का लीलाप्रसार। इसे हम विषयगत तत्व (objective Spirit) या ईश्वर की सत्ता दे सकते हैं। दादू ने भी अंजन का वर्णन इसी प्रकार किया है उसे माया और छाया की सीमाओं में बांधा है—

निरंजन अंजन कीन्हा रे, सब आतम लीन्हा रे।
अंजन माया अंजन काया, अंजन छाया रे।[1]

अतः अंजन निरंजन की छाया है—उसका प्रसार।

परन्तु सत्यरूप में निरंजन क्या है? कबीर के अनुसार—

'सकल निरंजन सकल सरीरा ता सन सो मिलि रह्या कबीरा।[2]

निरंजन अकल है अनादि—सब कुछ है। उसमें समस्त दृश्यमान और अदृश्यमान क्षेत्रों का समाहार है। दूसरी ओर 'उसे अरूपराशि में व्यक्त रूप भी दिया गया, परन्तु यह व्यक्त रूप निर्गुण ही है—परमतत्व का प्रतिरूप —

सबद निरंजन रामनाम साचा[3]

अथवा एकमात्र अल्लाह ही मेरा निरंजन है।[4] एक शब्द में कहें, तो निरंजन उपनिषदों का ब्रह्म स्वरूप परमतत्व है और उपनिषद में भी ब्रह्म को निरंजन के समान ही माना है—

निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरंजनम्।
अमृतस्य परमं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम्॥[5]

---

१ स्वामी दादूदयाल की बानी—सं० चन्द्रिकाप्रसाद त्रिपाठी, शब्द १६१ पृ० ४२३।

२ कबीर ग्रन्थावली, पृ० ६६ ३३ (१६२८)।

३ वही, पृ० १३३ १४१

४ वही पृ० २०२ ३३८

५ उद्धृत निर्गुण काव्य धारा द्वारा श्री सिद्धनाथ तिवारी पृ० ७२।

कबीर ने निरजन की धारणा को व्यक्त करने के लिये यही पद्धो निषेधात्मक प्रणाली का भी सहारा लिया है अथवा नेति-नेति' की विधि को ग्रहण किया है। इस तथ्य को हृदयगम न करने से निरजन की धारणा का पूर्णत्व मुखर नहीं होता है। इस दृष्टि से 'वह' शून्य की दशा का भी द्योतक हो जाता है और इस स्थिति पर निरजन 'आदि निरजन' भी हो जाता है। अतः कबीर ने निरजन का वास यही बतलाया है, जहां 'शून्य' के अतिरिक्त कुछ नहीं है —

कहै कबीर जहं बसहु निरजन।
तहां कुछ आहि कि सून्य ।।[1]

दादू ने भी निरजन को सीमा एव दृश्यमान जगत से परे बताया है, जहां न गगन है, न धाम और न छाया है, वहा न चद्र एव सूर्य ही जा सकते हैं और न काल की ही पहुच है।[2] इसी को और अधिक स्पष्ट करने के लिये कबीर ने गोविंद और निरजन की समानता दिखलाते हुये उसे 'नेति-नेति' प्रणाली के द्वारा इस प्रकार वर्णित किया है —

गोव्यद तू निरजन, तू निरजन राया।
तेरे रूप नहीं, रेख नाही, मुद्रा नाही काया।
नाद नाही व्यद नाही काल नाही काया ।।[3]

इसके अतिरिक्त कबीर ने आदि निरजन को वहां आनद करते हुये चित्रित किया है जहा चद्र एव सूर्य का उदय नहीं होता है।[4] दादू ने निरजन का वास वहां बतलाया है, जहाँ 'सहज सुख' की स्थिति है और वहा पर किसी भी गुण की व्याप्ति नहीं है।[5]

अस्तु, निरजन की धारणा मे असीम और ससीम अपरोक्ष और परोक्ष निश्चयात्मक एव निषेधात्मक क्षेत्रो एव तत्वो का जितना सुदर समन्वय सतो की बानियो में प्राप्त होता है, वह किसी भी दशा मे ब्रडले के 'निरपेक्ष तत्व' से, हीगेल

१ कबीर ग्र थावली, पृ० १४०, १६४ (१६२८)।
२ स्वामी दादूदयाल की बानी—पद ३५१ पृ० ४०८ ४०६।
३ वही, पृ० १६२, २१६ (१६२८)।
४ कबीर ग्र थावली, पृ० १६६ ३२६ (१६२८)।
५ स्वामी दादूदयाल की बानी—स० सुधाकर द्विवेदी प० ४२ ५१ (१६०६)।

के निरपेक्ष आत्म तत्व से और शकराचाय के ब्रह्म से कम हृदयस्पर्शी नही है। वत्त मान विकासवादी दार्शनिक वाइटहेड ने भी ईश्वर की धारणा म ५। ।वपरीत तथ्या एव विचारा का सयाग माना है और उसन इसी को आदितत्व' की महानता का, किसी बृहत् धारणा की विशालता का परम द्योतक माना है।[1]

इस तथ्य को सामने रखकर जब हम निरजन के प्रति भ्रातियो का विश्लेषण करत हैं तब हमारे सामने सत्य का स्वरूप मुखरित होता है। निरजन को कातपुरुप के समान मानना, फिर उस 'शतान' की पदवी तक पहुँचा देना उसके सही अथ के प्रति अयाय है। कालपुरुष भी निरजन का ही प्रतिरूप है। गीता म भगवान् कृष्ण ने भी अपन को 'का गोऽस्मि' की सज्ञा दी है। क्या यह कालोऽस्मि' अपने अ दर समस्त ब्रह्माड को समेटे हुय नही है और क्य। उसका प्रसार एव विस्तार विकास नियमो के अनुसार नही है ? यह समस्त विकास परम्परा या सृष्टि, अ त म फिर उसी काल की कलेवर हो जाती है। अत सष्टि एव प्रलय अयोन्यपूरक प्राकृतिक घटनाएँ हैं, जिनका मानवीकरण ही यह 'कालोऽस्मि" है। विकास का क्रम सदव चलता रहता है और दूसरी ओर विनाश की प्रक्रिया भी चलती रहती है—किसी का भी असतुलित होन 'प्रकृति' की मृत्यु ही है। इसी भावना का प्रतिरूप यह सतो का कालपुरुष है। इसमे अ जन का विकास और फिर उसका तिरोभाव निरजन म होता है और काल उन्हे गति प्रदान करता है। यहा काल' मृत्यु का प्रतीक नही है, पर एक तारतम्य एव गति प्रदान करनेवाला समय का प्रतीक है। कृष्ण के समान ही उसम प्रलय और सृजन, विकास एव विनाश का तारतम्य है और काल ही उन्हें अपने अ दर समाविष्ट किय हुए है। अत इस दृष्टि से कालपुरुष को निरजन का विकृत रूप कहना ठीक नही ज्ञात होता है। यह कहना कही अधिक उपयुक्त होगा कि निरजन के प्रतीकाथ में 'कालपुरुष' की भावना का भी समावेश है।

निरजन को 'शतान' की पदवी देना उसके सही प्रतीकात्मक सदभ से उदासीनता लक्षित करना है। निरजन के बारे म यह कहा जाता है 'कि वह अपनी माता का पति और पुत्र दोना है" जो उस कबीरोत्तर काल मे शतान की सज्ञा प्रदान करता है। परन्तु यहा पर यह ध्यान रखने की बात है कि सतो की बानियो में अनेक ऐसे कथन एव प्रसग हैं, जो अत्यधिक हास्यास्पद एव अतार्किक है जो हरक बात को उल्टी' विधि स कहते हैं ऐसे कथनो को उल्टवाँसी की सज्ञा दी गई है। परतु क्या हम इन उल्टवाँसियो में वर्णित वस्तुओ एव जीवधारियो को उसी रूप मे ग्रहण करते है जिस रूप म उनका वर्णन किया जाता है ? यदि उनके साथ ऐसा किया

---

१ दे० प्रोसेस एड रियाल्टी—ए० एम० वाइटहेड प० ५१६ /१८।

कबीर ने निरजन की धारणा को व्यक्त करने के लिय कही कही निषधात्मक प्रणाली का भी सहारा लिया है अथवा 'नेति नेति' की विधि को ग्रहण किया है। इस तथ्य को हृदयगम न करन स निरजन की धारणा का पूर्णरूप मुखर नहा होता है। इस दृष्टि स 'वह शू य की दशा का भी द्योतक हा जाता है और इस स्थिति पर निरजन 'आदि सिरजन भी हा जाता है। अत कबीर न निरजन का वास वहा बतलाया है, जहा शून्य' के अतिरिक्त कुछ नहा है —

कहै कबीर जह बसइ निरजन।
तहां कुछ आहि कि सून्य।।[१]

दादू ने भी निरजन को सीमा एव दृश्यमान जगत से परे बताया है, जहा न गगन हैं न धाम और न छाया है, वहा न चद्र एव सूय ही जा सकते हैं और न काल की ही पहुच है।[२] इसी को और अधिक स्पष्ट करने के लिये कबीर ने गोविंद और निरजन की समानता दिखलाते हुये उसे 'नेति-नेति' प्रणाली के द्वारा इस प्रकार वर्णित किया है –

गोब्यद तू निरजन तू निरजन राया।
तेरे रूप नही रेख नाही मुद्रा नाही माया।
नाद नाही व्यद नाही काल नाही काया।।[३]

इसके अतिरिक्त कबीर ने आदि निरजन को वहां आनद करते हुये चित्रित किया है जहा चद्र एव सूय का उदय नही होता है।[४] दादू ने निरजन का वास वहाँ बतलाया हैं, जहाँ सहज सुन्न" की स्थिति है और वहा पर किसी भी गुण की व्याप्ति नहीं है।[५]

अस्तु, निरजन की धारणा मे असीम और ससीम अपरोक्ष और परोक्ष निश्चयात्मक एव निषेधात्मक क्षेत्रो एव तत्वो का जितना सुदर समन्वय सतो की बानियों मे प्राप्त होता है, वह किसी भी दशा मे ब्रडले के 'निरपेक्ष तत्व' से, हीगेल

---

१ कबीर ग्र थावली, पृ० १४० १६४ (१६२८)।
२ स्वामी दादूदयाल की बानी—पद ३५१ पृ० ५०८ ५०१।
३ वही, पृ० १६२ २१६ (१६२८)।
४ कबीर ग्र थावली पृ० १६६ ३२६ (१६२८)।
५ स्वामी दादूदयाल की बानी–स० सुधाकर द्विवेदी पृ० ४२ ५१ (१६०६)।

के निरपेक्ष आत्म तत्व से और शकराचार्य के ब्रह्म से कम हृदयस्पर्शी नही है। वर्त्तमान विकासवादी दार्शनिक वाइटहेड ने भी ईश्वर की धारणा म ..। विपरीत तथ्यो एव विचारो का सयोग माना है और उसने इसी का 'आदितत्व' की महानता का, किसी बृहत् धारणा की विशालता का परम द्योतक माना है।[1]

इस तथ्य को सामने रखकर जब हम निरजन के प्रति भ्रातियो का विश्लेषण करते हैं तब हमारे सामने सत्य का स्वरूप मुखरित होता है। निरजन को कालपुरुष के समान मानना, फिर उस शतान की पदवी तक पहुँचा देना उसके सही अर्थ के प्रति अन्याय है। कालपुरुष भी निरजन का ही प्रतिरूप है। गीता म भगवान् कृष्ण ने भी अपने को 'कालोऽस्मि की सज्ञा दी है। क्या यह कालोऽस्मि' अपने अ दर समस्त ब्रह्माड को समेटे हुय नही है और क्या उसका प्रसार एव विस्तार विकास नियमो के अनुसार नही है ? यह समस्त विकास परम्परा या सृष्टि, अ त म फिर उसी काल की कलेवर हो जाती है। अत सृष्टि एव प्रलय अन्योन्यपूरक प्राकृतिक घटनाएँ हैं, जिनका मानवीकरण ही यह "कालोऽस्मि' है। विकास का क्रम सदव चलता रहता है और दूसरी ओर विनाश की प्रक्रिया भी चलती रहती है–किसी का भी असतुलित होन 'प्रकृति' की मृत्यु ही है। इसी भावना का प्रतिरूप यह सतो का कालपुरुष है। इसमे अ जन का विकास और फिर उसका तिरोभाव निरजन म होता है और काल उन्हे गति प्रदान करता है। यहा काल' मृत्यु का प्रतीक नही है पर एक तारतम्य एव गति प्रदान करनेवाला समय का प्रतीक है। कृष्ण के समान ही उसम प्रलय और सृजन विकास एव विनाश का तारतम्य है और काल ही उन्हें अपने अन्दर समाविष्ट किये हुए है। अत इस दृष्टि से कालपुरुष को निरजन का विकृत रुप कहना ठीक नही ज्ञात होता है। यह कहना कही अधिक उपयुक्त होगा कि निरजन के प्रतीकार्थ म 'कालपुरुष' की भावना का भी समावेश है।

निरजन को शतान" की पदवी देना उसके सही प्रतीकात्मक सदर्भ से उदासीनता लक्षित करना है। निरजन के बारे मे यह कहा जाता है कि 'वह' अपनी माता का पति और पुत्र दोनो है' जो उसे कबीरोत्तर काल में शतान की सज्ञा प्रदान करता है। परन्तु यहा पर यह ध्यान रखने की बात है कि सतो की बानियो' मे अनेक ऐसे कथन एव प्रसग हैं जो अत्यधिक हास्यास्पद एव अतार्किक है जो हरक बात को उल्टी' विधि म कहते है ऐसे कथनो को उल्टवासी की सज्ञा दी गई है। परतु क्या हम इन उल्टबाँसियो म वर्णित वस्तुओ एव जीवधारियो को उसी रुप मे ग्रहण करते है जिस रुप म उनका वर्णन किया जाता है ? यदि उनके साथ ऐसा किया

---

१ दे० प्रासेस एड रियाल्टी—ए० एम० वाइटहेड प० ५१६ /१८।

जायगा तो यह निश्चित है कि उनका सत्य प्रतीकात्मक ही हृदयगम न हो सकेगा और उनकी वस्तु योजना केवल एक वितंडा ही ज्ञात होगी। अन्त में इन वर्णनों के कायल होकर उन्हें दगाबाज, फितूरी और 'लम्पट' आदि नामों से सम्बोधित किया जायगा।

निरंजन को शैतान कहना भी इसी मनोवृत्ति का फल है। कबीर की उलटबासियों में जहां एक ओर विचार बाता की समष्टि है वहीं उनके सही अर्थ का ज्ञान हो जाने पर उनके द्वारा 'नवनीत' सा तत्व भी प्राप्त होता है। वेदांत दर्शन में स्थापित ब्रह्म, माया और ईश्वर के सम्बन्ध का प्रतीकात्मक रूप ही यह निरंजन या शैतान रूप है। वेदांत तत्व चिंतन में 'ब्रह्म' एक निरपेक्ष सत्ता है, जिसका गुणमय रूप ईश्वर है। उसका दूसरा रूप असीम और अरूप का है। ईश्वर के रूप में ब्रह्म, भक्ति का विषय है सीमा और रूप का विषय है और 'ब्रह्म' रूप में ज्ञान का। माया ब्रह्म की शक्ति है जिसके द्वारा सृष्टि का कार्य सम्पन्न होता है। सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो माया के दो भेद—विद्या और अविद्या—सत्य और दृश्यमान जगत के अंतर को स्पष्ट करते हैं। अतः 'ब्रह्म' की धारणा में विकासवाद का एक अत्यंत वैज्ञानिक रूप प्राप्त होता है, जो स्थायित्व एवं परिवर्तन, पूर्ण और अपूर्ण (भाग) निरपेक्ष एवं सापेक्ष तथा असीम और ससीम से परे परमतत्व है।

इस तत्व-ज्ञान के प्रकाश में निरंजन को 'अपनी माता का पति और पुत्र होने' का विशेषण करना आरोपित है। प्रथम माता रूप को ही लीजिये। जब सकेत किया गया कि ब्रह्म ईश्वर की उत्पत्ति करता है और अपनी शक्ति माया की सहायता से, इस चराचर जगत् की सृष्टि करता है। दूसरे शब्दों में ईश्वर का जन्म माया की सहायता से, ब्रह्म से हुआ है। अतः माया नामक ब्रह्म की शक्ति ही 'ईश्वर' की माता है और ईश्वर उसका पुत्र। इसी तथ्य को कबीर ने निरंजन को अपनी माता का पुत्र कहा है और माया को उसकी माता। अब रही पति की बात। माया की सहायता से ईश्वर इस नाम-रूपात्मक जगत की सृष्टि करता है अतः ईश्वर माया का पति भी सिद्ध हुआ और साथ ही साथ उसका (माया) पुत्र भी। इसी प्रकार की एक उक्ति दादू की भी है —

> माता नारी पुरुष की पुरुष नारि का पूत ।
> दादू ज्ञान विचारि क छाडि गए अवधूत ॥

अस्तु संसार के सम्बन्धों की विवेचना में कबीर ने तत्व-दर्शन एवं सृष्टि प्रसार के सिद्धांत को, एक प्रतीकात्मक शैली के द्वारा व्यक्त किया है। इस विवरण से निरंजन शैतान नहीं स्पष्ट होता है पर हां भौतिक सम्बन्ध के रूप में ... वैसा लगता है।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने एक स्थान पर कबीर के एक पद को उद्धृत कर यह दिखाने की चेष्टा की है कि निरजन के जाल मे स्वय कबीर ने सतो को बचने की चेतावनी दी है और इसी से, वह हेय है ऐन्द्रजालिक है। वह इस प्रकार है—

अवधू निरजन जाल पसारा।
स्वग पताल जीव मत मडल तीन लोक विस्तारा।[१]

परन्तु क्या यह आक्षेप सत्य है ? हम दिखा आये हैं कि निरजन की यह प्रवृत्ति है कि वह अपनी भ जन शक्ति का विस्तार एव विकास करें। यही बाह्य विस्तार उसका जाल है जो कि स्वय उसकी प्रकृति है। इस विकास नियम को न समझकर निरजन को इतना निकृष्ट बना देना उचित नही ज्ञात होता है। एक प्रकार से जाल का प्रसार एक सत्य को ही प्रतीकात्मक विधि से रखता है।

---

१ कबीर—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ५६ (१९५३)।

कबीर का लीला—तत्व | ३

'लीला' शब्द की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है और साथ ही उसका अर्थ भी अत्यन्त व्यापक क्षेत्र की व्यंजना करता है। जहाँ तक लीला शब्द के रूढ़ि अर्थ का प्रश्न है यह सामान्यतः कृष्ण एवं रामलीलाओं से ही ग्रहण किया जाता है। एक प्रकार से 'लीला' को सगुण धारा के व्यक्त अवतारी परब्रह्म की ललित क्रीड़ाओं का वाचक शब्द माना जाता है, यह दूसरी बात है कि फिर हम उन लीलाओं को तात्त्विक अर्थ में भी ग्रहण करें। अतः इसे हम सीमित अर्थ ही कहेंगे जो किसी शब्द विशेष को इतना अधिक एक अर्थ में आबद्ध कर दें कि वह अन्य अर्थों को अपने अन्दर समेट न सके अथवा उन अर्थों का अपने रूढ़ि अर्थ से उचित समन्वय न कर सके। कुछ इसी प्रकार की प्रवृत्ति हम लीला शब्द के अर्थ में भी प्राप्त होती है। परन्तु सन्तों ने लीला शब्द का प्रयोग इस सगुण अर्थ से परे भी किया है और उसे एक व्यापक अर्थ–समष्टि का द्योतक शब्द भी माना है। अतः निर्गुण काव्य में लीला शब्द को उचित स्थान प्रदान करने में किसी भी प्रकार के मतभेद का प्रश्न उठाना नितान्त भ्रान्तिमूलक है। किसी शब्द विशेष के लाक्षणिक अर्थ में अनेक अर्थों का समावेश उस शब्द-प्रतीक को एक व्यापकता प्रदान करता है उसमें नव जीवन का सञ्चार करता है। यही बात ज्ञान के अन्य क्षेत्रों के बारे में भी पूर्णतया सत्य है। उदाहरण स्वरूप वैज्ञानिक शब्द प्रतीकों को लिया जा सकता है जिनकी धारणा में नित नवीन अर्थों एवं तत्वों का समावेश नवीन अनुसंधानों एवं शोधों के आधार पर होता रहता है। परमाणु (Atom) की धारणा में ऐसा ही ज्ञात होता है। न्यूटन आदि वैज्ञानिकों ने समय और आकाश (Time and Space) को असीम माना था परन्तु युगों की इस रूढ़ि धारणा में एकाएक परिवर्तन प्रो० आइस्टीन ने किया। उसने अपने जगत प्रसिद्ध सापेक्षवादी सिद्धान्त के द्वारा गणित की सहायता से समय और आकाश को 'ससीम' माना पर उसे दूसरी ओर सीमाहीन एवं अपरमित भी ठहराया। इस तात्त्विक धारणा ने विज्ञान के अनेक प्रतीकों के स्वरूप की धारणा को परिवर्तित कर दिया।

राम अथवा कृष्ण-भक्त कवियों ने लीला शब्द को ब्रह्म के व्यक्त वपुधारी रूप के ऐसे काय-कलापों के अर्थ में ग्रहण किया है जिसकी नित्य लीला इस धरती पर हुआ करती है। सत्य रूप में, यहाँ पर लीला का क्षेत्र व्यक्त है, गुणमय अथवा रूपमय है जिस पर भक्तजन मनन करते हैं और आत्मविभोर हो जाते हैं। उनके हृदय में प्रेमानन्द की लहरें उठने लगती हैं वे अतिचेतना के क्षेत्र को प्राप्त कर लेते हैं। परन्तु दूसरी ओर सन्तों का लीला तत्व अत्यन्त रहस्यमय है। उसका रूप यदि कहीं पर व्यक्त भी हुआ है सगुण कवियों की भाँति उसमें कृष्ण गोपी और गोपजनों का वर्णन हुआ है फिर भी लीला की भावना का वह रूप नहीं है जो कि सगुण भक्त कवियों मे प्राप्त होता है। उसमें मनन के स्थान पर चिंतन से उद्‌भूत रूप और अरूप के मिश्रित तात्विक निर्देश हैं। सगुण कवियों की भाँति लीला का वर्णन दादू ने इस प्रकार किया है—

घटि घटि गोपी, घटि घटि कान्ह
घटि घटि राम अमर अस्थान।
कुञ्ज केलि तहाँ परम विलास सब संगी मिली खेले रास।
तहाँ बिन बना बाजे तूर विगस कँवल चंद अरु सूर॥[1]

यहाँ पर दादू ने कृष्ण गोपी आदि कुछ नाम सगुण कवियों के समान तो अवश्य लिये हैं परन्तु उन सबका केन्द्र स्थान पिंड ही है—यहाँ तक कि 'राम' भी उसी में समाहित है। अतः दूसरे शब्दों मे लीला की धारणा मे योग दर्शन का मूल तत्व 'पिण्ड मे ही ब्रह्माण्ड है' का सुन्दर समन्वय प्राप्त होता है। जहाँ पर दादू यह कहते हैं—"तहाँ बिन बना बाजे तूर विगस कँवल चंद अरुसूर' वहाँ पर तान्त्रिक साधना में उत्पन्न सहजानन्द की ही प्रतिध्वनि प्राप्त होती है। इसी प्रकार कबीर ने भी घट में ही लीला विस्तार का वर्णन किया है और उसे आनन्द स्त्रोत माना है—

लीला तेता माहि आनन्द स्वरूपा
गुन पल्लव विस्तार अनूपा।
औ खेल सब ही घट माहीं
दूसरि कै लेप कछु नाहीं॥[2]

---

१ स्वामी दादूदयाल की बानी सं० पण्डिकाप्रसाद त्रिपाठी पद ४०७ पृ० ५२७-५२८।
२ कबीर ग्रन्थावली सं० डा० श्यामसुन्दरदास पृ० २२६/३ (१६२८)।

यहाँ पर लीला का अर्थ सष्टि प्रसार भी ध्वनित होता है और यह सष्टि प्रसार आनन्द स्वरूप है, चिद् स्वरूप है। शव दर्शन म आनन्द की उत्पत्ति उसी समय मानी जाती है जब मानव व्यापारों और प्रकृति में समरसता या रूप सुगर होता है। इसी समरसता पर आधारित आनन्द तत्व का पूर्ण रूप ता की लीला भावना म प्राप्त होता है। जहाँ तक आनन्द तत्व का सम्बन्ध है कृष्ण-भक्त कवियो म भी इसका अत्यन्त उदात्त स्वरूप मिलता है। अत कबीर आदि सन्तो न लीला की भावना मे तान्त्रिक तत्वों का एक ओर सृष्टि-प्रसार का दूसरी ओर सम वय करके उसे व्यक्त रूप प्रदान करते हुए भी निगु ण एव निराकार लीला का ही अधिक स्पष्ट रूप रखा है। इस कथन का अत्यन्त स्पष्ट उदाहरण कबीर की इस पक्ति में मुखर हो गया है जो कि एक सूक्ति रूप म, समस्त निगु ण लीला की भावना को हमारे सामने रखता है—

'घट महि खेल अघट अपार[1]

अघट रूप परमतत्व की लीला अपार है नित्य है यह मानो स्वय अपने से ही खेलता है। सूफी कवियो ने भी इसी भावना को इस प्रकार रखा—

आपहु गुरू सो आपहु चेला।
आपहु सब औ आप अकेला ॥[2]

यह 'आप' तत्व स्वय ही अपना विस्तार करता है और फिर स्वय ही उस विस्तार को समेट लेता है। भगवान श्री कृष्ण ने गीता मे अपने को 'कालोऽस्मि की सज्ञा दी है जिसका प्रतीकार्थ यही है कि समस्त सष्टि का प्रसार उन्ही से आवी-भूत है और वे ही उसको अपने मे समाहित कर लेते हैं। इन सब तात्विक निर्देशो से यह स्पष्ट हो जाता है कि कबीर का लीला तत्व—उसका 'अघट का घट' मे विस्तार और फिर उस विस्तार का अघट में विलय—सूफी विचारधारा और यहाँ तक कि गीता की विचार धारा से साम्य रखता है। इसी विचार की अभिव्यक्ति कबीर ने और भी स्पष्ट शब्दो म की है—

---

१ कबीर ग्रन्थावली पृ० ३०३/१३४।

२ जायसी ग्रन्थावली, स० रामचद्र शुक्ल प० १०६ पावती महेश खड (१९३५)

इनमे आप आप सबहिन में, आप आपसूं खेल ।
नाना भांति घ्यड सब माडे, रूप धर धरि मेल ।।
सोच विचार सब जग देख्या, निरगुण कोई न बताव
कहै कबीर गुणी अरु पंडित, मिलि लीला जस गाव ।।[1]

इस प्रकार परम तत्व अपने से ही क्रीडा करता है अपनी ही सष्टि से मोहित होता है और इच्छानुसार उसे रूपातरित कर लेता है । आधुनिक वज्ञानिक-दशन भी पदाथ के रूपातरित होने पर ही जोर देता है पदाथ के सवथा नष्ट हो जाने पर नहीं । परिवतन की वज्ञानिक परिभाषा भी इसी तथ्य पर आश्रित है कि प्राकृतिक घटनाओ एव वस्तुओ म परिवतन होना, तत्वो एव पदार्थों के इसी अविरल रूपातर का फल है । अत परिवत्त न प्रकृति का नियम है । इसी तथ्य की प्रति-ध्वनि "रूप धर धरि मेल" के द्वारा ध्वनित होती है । इस नित्य परिवतन के पीछे जो शक्ति काम करती है, जो उसे एक निश्चित नियम के द्वारा कार्यान्वित करती है, वही सतो का 'अलख है 'अघट' है और निगु ण राम है । यह सब परमतत्व की अपार लीला है उसका परम रहस्य है । कबीर आदि सतो ने लीला के द्वारा सष्टि की उत्पत्ति विकास और लय की 'अकथ-कथा' का ही वणन किया है । खेलने वाला तो स्वय अव्यक्त है, पर उसकी लीला तो व्यक्त है । लीला की अकथ-कथा का चित्र दादू ने इस प्रकार प्रस्तुत किया—

क यहु तुम्हको खेल पियारा,
क यहु भाव कीन्ह पसारा ।
यह सब दादू अकथ कहानी
कहि समुझावो सारगपानी ।।[2]

कबीर ने भी स्वर म स्वर मिलाया—

लीला अगम कथ को पारा,
बसहु समीप कि रहौ नियारा ।[3]

---

१ कबीर ग्रथावली—पृ० १५१/१८६ ।
२ स्वामी दादूदयाल की बानी—पृ० ४५६, पद २३५ ।
३ कबीर ग्रथावली पृ० २३० ।

कबीर साहित्य में ही नहीं वरन् सन्त-काव्य में ही 'सहज-तत्व' का उनकी साधना में विशेष स्थान है। सन्तों का सहज केवल स्वाभाविक और सरल अर्थ का वाचक नहीं है पर 'वह' उनके सम्पूर्ण जीवन-दर्शन एवं तत्व-दर्शन का सार है, 'वह मध्यम मार्ग का द्योतक है। उनकी सहज समाधि, सहज राम की समाधि, सहज शील एवं सहज अनूप तत्त सब इसी मध्यमा मार्ग के वाचक शब्द हैं। दूसरे शब्दों में सहज परम तत्व का ही रूप है जो हरि या राम का भी परम रूप है। इसी से कबीर में सहज राम की साधना का पूरा स्थान है। इसी हरि की लीला भी सहज रूप है जो हरि या राम का भी परम रूप है क्योंकि 'वह स्वयं ही सहज' है, इसी से कबीर ने एक स्थान पर कहा— सहज रूप हरि खेलन लागा' अतएव सन्तों का लीला तत्व सहज रूप है, इसीसे उनकी लीला को सहज-लीला कहना अधिक उपयुक्त होगा जिसमें भक्ति, योग, सूफी प्रेम भावना और सृष्टि विषयक मान्यताओं का सुन्दर समन्वय हुआ है।

---

१ वही—पृष्ठ १५७-२००।

सूफीमत के प्रमुख प्रेममूलक प्रतीक एवं जायसी | ४

सूफी प्रतीको की आधारभूमि, सामान्यत प्रतिबिंबवाद एव ईस्लामी एकेश्वरवाद है। इसके अतिरिक्त इनके प्रतीको मे वेदात दर्शन का भी प्रभाव लक्षित होता है। कुछ तो उनके ऐसे साधनापरक प्रतीक हैं जो निजी उनके हैं, पर उनका कोई न कोई रूप भारतीय दर्शन मे भी प्राप्त होता है यथा मुकामात अवस्थायें अल्लाह की धारणा कुन, फना (मोक्ष) आदि। दूसरे प्रकार के प्रतीक शुद्ध इस्लामी हैं (सूफी) जिनका सीधा सम्बध ईरान आदि देशों से है, जसे नूर साकी, शराब आदि जिनका विवेचन यहाँ अपेक्षित है।

सूफियो का परमतत्व सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है जिसे दार्शनिक भाषा मे सर्वात्मवाद कहते हैं।[1] यही उपनिषदो का अद्वैत दर्शन है जो सम्पूर्ण भूतो म आत्मा को देखता है सबसे एकात्मभाव की अनुभूति करता है। अत परमतत्व अल्लाह ब्रह्मांड से परे भी है और उसके साथ भी है, कुरान और सूफी दोनो विचारधाराओं म ईश्वर की जगतलीनता (Immanence) का समान महत्व है।[2] जब हम एकेश्वरवाद का विश्लेषण करते हैं तो उसमे भी सृष्टि का महान देवता शून्य' से अपना विस्तार करता है और वही पालन तथा सहार करता है। अत यदि एकेश्वरवाद मे ईश्वर जगत में पृथक्" हैं तो प्रतिबिंबवाद म वह जगत से 'परे' है और साथ ही उसम व्याप्त भी। मेरे विचार स सूफी काव्य के अधिकाश प्रतीक इन दोनों सिद्धातों के समन्वय पर आश्रित है और यही कारण है कि सूफी प्रतीको म भारतीय अद्वैतन्दर्शन का भी तिलतदुल रूप प्राप्त होता है। अत सूफियो का प्रतिबिंबवाद एकेश्वरवाद, सर्वात्मवाद सभी सिद्धात अद्वैत भावना पर ही

---

१ सूफी काव्य सग्रह स० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० २०

२ स्टेडीज इन तसव्वुफ, द्वारा खाजा खान प० १७

आश्रित हैं और यही कारण है कि सूफीया का रहस्यवाद इन सब तत्वों की मिलीजुली अभिव्यक्ति है। इस प्रवृत्ति में ईरानी रहस्यवादी प्रवृत्ति का भी योग है। प्रेम भाव की प्रगाढ़ अनुभूति के कारण इस रहस्यवादी परम्परा म सूफी साकी शराब और प्याले का भी समुचित स्थान है। इन प्रतीकों की धारणा म भावात्मक तथा साधनात्मक तत्वों का सुन्दर समन्वय हुआ है। यह कहना अधिक समीचीन होगा कि इन प्रतीकों का प्रयोग प्रेमी साधना की अभिव्यक्ति म उस तत्व चिंतन का प्रतिरूप है जिसम प्रेमी मानव और प्रेमपात्र साध्य का तात्विक सम्बध इङ्गित होता है। वह प्रेम साधना रति तथा काम पर ही आश्रित है जो माधुर्यपूर्ण है। इसी कारण से, सूफियो क आलम्बन प्राय किशोर ही होते हैं क्योंकि रति का जितना मोहक एव उल्लासपूर्ण सम्बध किशोरावस्था या यौवनावस्था से हो सकता है उतना कदाचित् अन्य अवस्थाओं से सम्भव नहीं है। माशूका एव साकी पर्यायवाची शब्द प्रतीक है जो सूफी प्रेमपरक साधना में रति (आध्यात्मपरक) के आलवन होने के कारण परमात्मा या खुदा क प्रतीक माने गए हैं। हिन्दी सूफी काव्य म साकी का वर्णन अपरोक्ष रूप से ही गृहीत हुआ है उसका अन्तर्भाव कवियो ने प्रेमिका के स्वरूप म ही सुन्दरता से किया है। जब माशूका (साकी) प्रतीक है तब उसके अग प्रत्यग भी प्रतीकात्मक अर्थ के द्योतक माने गए। जिन सूफी कवियो ने भारतीय कथानकों को लिया है उन्होंने नायिका के नख शिख अग अग को लोकोत्तर अर्थ देने का भरसक प्रयत्न किया है। यह तथ्य इस बात को स्पष्ट करता है कि उन्होने भारतीय नामधारी नायिकाओ को फारस क साकी या माशूका के रूप म चित्रित करने का भी प्रयत्न किया है।

साकी का अर्थ है मैं (शराब) का पिलाना। यह मैं एक तात्विक अर्थ की ओर सकेत करता है जिसका प्रतीकार्थ उल्लास है, अमृत है।[1] भारतीय शब्द जो उसका पर्याय माना जा सकता है वह सोम है जो अमरता या अमृत का प्रतीक है। यह मैं ही वह माध्यम है जिसके द्वारा साधक और साध्य परमात्मा और आत्मा मे सम्बध स्थापित होता है वह शराब के द्वारा ही अतीन्द्रिय जगत म पहुँच जाता है और अपने परमप्रिय से एकात्म भाव की अनुभूति करता है। साधक या प्रेमी इस आनदानुभूति मे एक प्रकार से फना की दशा मे पहुँच जाता है। सूफियो ने ईश्वर के चार गुण माने हैं—जात जलाल जमाल और कमाल जो क्रमश शक्ति ऐश्वर्य माधुर्य एव अद्‌भूत के रूप हैं। इन चार गुणों मे से साकी

---

१ तसव्वुफ और सूफी मत द्वारा चद्रबली पांडेय पृ० १०७

जमाल का प्रकटीकरण है जो साधक को सुरा के द्वारा अनुभूतिजन्य होती है। इसी माधुर्य भाव से ऐश्वर्य तथा रहस्य भावना का भी स्वरूप मुखर होता है।

यह साकी मैं और प्याला—सूफी साधना के आधार स्तम्भ है। हिन्दी के सूफी कवियों ने इन्हें ग्रहण तो अवश्य किया है पर उनके काव्य म नवल ये ही वस्तुएँ नहीं हैं—इसके अतिरिक्त उनम और कुछ भी है। अत यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि सूफी का एकमात्र ध्येय अपने काव्य को प्रियतमा शराब और प्याले से ही आबद्ध करना नही था वरन् अपने काव्य को जीवन और जगत के कठोर सत्य पर भी आश्रित करना था जो भारतीय महाकाव्यो की प्रमुख विशेषता रही है। यही कारण है कि सूफी काव्य म इन प्रतीको का प्रयोग प्रसगवश हुआ है उनका वहाँ पर स्थान तो है पर एकछत्र साम्राज्य नही है जसा कि हमे उमर खैयाम अत्तार हाली में प्राप्त होता है।

जायसी ने अपने काव्य म नायिका को प्रियतमा का रूप दिया है। पद्मावती को प्रियतमा के रूप मे चित्रित करते हुए रत्नसेन के समागम पर कवि ने मिलन-शराब" का जिक्र किया ह—

विनय करहिं पद्मावति बाला।
सुधि न सुराही पियऊँ पियाला ॥[१]

इस कथन में सुरा का सकेत तो अवश्य ह पर साकी का रूप नितान्त भारतीय प्रभाव के कारण पृष्ठभूमि मे चला गया ह। फारस आदि देशो की साकी कभी विनय नहीं करती है परन्तु जायसी ने भारतीय प्रभाव के कारण नायिका को भी नायक के समान प्रेम विह्वल दिखाया है। यह जायसी की समन्वयकारी प्रवृति का फल ह।

आनद का 'रस' पीना ही मिलन के समय ध्येय होता है तभी साधक का मन, उसकी इन्द्रियो तथा आत्मा एकात्म भाव का आनद प्राप्त करती ह। तभी तो नूर मोहम्मद ने कहा ह—

दे मदिरा भर प्याला पीवौ।
होइ मतवार कायर सीवौ ॥[२]

१ जायसी ग्रथावली पद्मावती रत्नसेन भेंट खण्ड पृ० १६०
२ इन्द्रावती द्वारा नूरमोहम्मद प० २२ स्वप्न खण्ड

साधक का बस यही लक्ष्य है कि उसे एक भरा हुआ शराब का प्याला मिल जाए तो उसका मानस जगत प्रियतम के चरणों पर लोटने लगे—

एक पियाला भरि भरि दीज ।
झेल पियारि मानस लीज ।।[१]

यही भावना जायसी में भी प्राप्त होती है जब वह केवल मात्र सुरापान की इच्छा करता है—देनेवाले के स्वरूप से उसे सरोकार नहीं है—

प्रेम-सुरा सोइ प पिया । लख न कोई कि काहू दिया ।।[२]

साधक की केवल यही इच्छा है कि उसके रोम रोम में यह शराब इस तरह व्याप्त हो जाय कि उसे बार बार माँगने की भी आवश्यकता न पड़े ।[३] इसी प्रकार नूर मोहम्मद ने इस प्रेम सुरा को रात और दिवस पीने की बात कही है जिससे मन बलवान् हो जाय ।[४]तथ्य तो यह है कि मानसिक दृढ़ता के बिना साधक प्रियतम के निकट पहुँच ही नहीं सकता है इसी सत्य को ध्यान में रखकर नूर मोहम्मद ने 'मन के बलवान होने की ओर संकेत किया है ।

इस प्रेम मदिरा का संकेत रूमी ने भी किया है । वह कहता है— मैं प्रेम की मदिरा पान कर मदमस्त हो गया हूँ । दोनों जहाँ को त्याग चुका हूँ । [५] इसी मदिरा को पीकर जीवात्मा परमात्मा के महाअस्तित्व से सम्बन्ध स्थापित करती है । इसी भाव को विदेशी सूफी कवि शबिस्तरी ने इस प्रकार व्यंजित किया है— तू यह मदिरा पी जिससे अहंकार को भूल जाय और समझने लगे कि एक बूँद का अस्तित्व उस महा सागर के अस्तित्व से संबंध रखता है ।'[६] इन उदाहरणों से यह स्पष्ट भासित होता है कि हिंदी सूफी कवियों के भावों में कितना साम्य है ? परन्तु इस साम्य के होते हुए भी सुरा का एक अन्य पक्ष भी हिंदी में प्राप्त होता है जो विप्रलम्भ शृंगार से सम्बन्ध रखता है जो कदाचित् विदेशी कवियों में नहीं प्राप्त होता है—

---

१ वही पाती खंड पृ० ७८
२ जायसी ग्रन्थावली रत्नसेन पद्मावती भेंट खण्ड, पृ० १६०
३ वही पृ० १६१
४ इन्द्रावती मानिक खण्ड पृ० १३२
५ ईरान के सूफी कवि, स० बाँकेबिहारीलाल पृ० १८८
६ वही, पृ० २६०

बहुत बियोग सुरा मैं पीया ।
समोगी मद चाहत हीया ।।[1]

इसी प्रकार जायसी ने सुरा का प्रयोग एक अत्यत रहस्यमय रूप मे किया है। उसने सात समुद्रो के वणन प्रसग म सुरा समुद्र का भी सकेत किया है— इसको पान करनेवाला व्यक्ति भाँवरि" लेन लगता है इस कथन के द्वारा उसने सुरा को एक मुकाम का ही रूप प्रदान कर दिया है। जसा कि प्रथम सकेत हो चुका है कि शराब का महत्व इसी मे है कि वह आत्मा और परमात्मा के बीच की दूरी को कम करती है अथवा दोनो को मिलाती है उसी प्रकार सुरा समुद्र भी मुकामातो मे वह मुकाम है जिस पार करने पर साधक प्रियसाध्य' से मिलनानद की दशा तक पहुँचता है। अत इन सब प्रयोगों के आधार पर यह कहना अत्युक्ति न होगी कि हिंदी के सूफी कवि जायसी ने (अन्यों ने भी 'सुरापान" के प्रचलित तात्विक अथ में अन्य अर्थों का भी समन्वय किया है परतु यह समन्वय इतना सूक्ष्म है इतना अपरोक्ष है कि धरातल पर दृष्टिगत नहीं होता है।

साकी का सुरा से अयोन्य सम्बध है। हिंदी सूफी कविया न अपनी नायिकाओ—पद्मावती तथा इद्रावती आदि—को उसी की भावभगिमा मे रूपातरित करने का प्रयत्न किया है। फिर भी सूफी कवियो ने उनकी भावना म (जायसी म) समानताओ के अतिरिक्त अनेक नव तत्वो का भी समाहार किया है। जहाँ तक विदशी सूफी कवियों का प्रश्न है उसमे भी प्रिया का रूप अत्यत मुखर है जो उसके प्रतीक रूप की ओर सकेत करता है। जायसी मे और विदेशी सूफी कवियों मे सबसे बडी समानता यही है कि दोनो धाराओ म प्रियतमा' का स्वरूप मूलत रतिपरक है अथवा अधिक व्यापक अथ म कहे तो उनका रूप अनुभूतिपरक है जिसमें तत्व और रूप content and form का सुदर समन्वय प्राप्त होता है। दूसरी प्रमुख समानता जो दोनों धाराओ मे प्राप्त होती है वह है नायिकाओ के नख शिख एव विभिन्न अगों का लोकोत्तर रूप प्रदान करना। इस दिशा मे यह कहा जा सकता है कि भारतीय सूफी कवियो ने ईरान तथा फारस के कवियो की परम्परा को यथोचित रूप से ग्रहण किया है। उदाहरण स्वरूप केश को ले सकते है। सूफी मान्यतानुसार प्रियतमा के केश माया के प्रतीक हैं—इस तथ्य की प्रतिध्वनि जायसी ने पद्मावती के रूप-वणन प्रसग म इस प्रकार की ह —

---

१ इद्रावती पृ० १७६

२ जा० ग्र० सात समुद्र खण्ड, पृ० ७६

बेनी छोरि झारि जो बारा ।
सरग पतार होई अंधियारा ।।[१]

यह माया का ही अंधकार है जो स्वर्ग तथा पाताल सर्वत्र व्याप्त है। इससे भी स्पष्ट संकेत एक स्थान पर प्राप्त होता है—

ससि मुख, अंग मलयगिरि बासा ।
नागिन झांपि लीन्ह चहुं पासा ।।
ओनई घटा परी जग छाहा ।
ससि के सरन लीन्ह जनु राहा ।।[२]

माया के इस छांह का क्षेत्र कितना विस्तृत है इसकी व्यंजना इस प्रकार की गई है—

अस फंदवार केस के परा सीस गिउं फांद ।
अस्टौ कुटी नाग सब अरुझि केस के बांद ।।[३]

इसी भाव का संकेत नूर मोहम्मद ने भी इन्द्रावती के सौंदर्य वर्णन में अलिया के द्वारा करवाया है—

एक कहा लट नागिन कारी ।
डसा गरन भी गिरा भिखारा ।।[४]

इन सभी उदाहरणों में केश के प्रतीकार्थ की ओर संकेत प्राप्त होता है एवं संसार पर उसके एकमात्र प्रभुत्व का भी संकेत मिलता है। विदेशी सूफी कवि हाफिज ने भी केश का वर्णन इसी अर्थ में किया है—

---

१ जा० ग्र० नखसिख वर्णन खण्ड पृ० ४६
२ वही मानसरोदक खण्ड, पृ० २८
३ वही, नखसिख खंड पृ० ४७
४ इन्द्रावती, फुलवारी खंड पृ० ६०

'तेरी काली अलकों के जाल मे यह हृदय जाकर अपने आप फँस गया।'[1]

इससे भी स्पष्ट रूप एक अन्य स्थान पर प्रकट हुआ है—

'अपने मुख पर से अलकों को हटा ले जिससे तेरे रूप-सुधा को पीकर ससार चकित हो जाय और प्रेम से मतवाला हो जाय। तुम्हारी प्रत्येक लट मे पचास-पचास फदे पड़े हुए हैं। भला यह टूटा हुआ हृदय उनसे किस प्रकार जीत सकता है।[2]

इन सब प्रतीकात्मक सदर्भो के प्रकाश म यह स्पष्ट हो जाता है कि जायसी तथा अन्य कवियों मे प्रियतमा का रूप विदेशी कवियों की भाँति व्यक्तिगत नहीं है। जायसी ने जसे केश वर्णन के द्वारा व्यक्तिगत रूप के साथ साथ उस विस्तृत क्षेत्र की व्यजना प्रस्तुत की है जो समस्त चराचर प्रकृति को केश' की सापेक्षता में अत्यत मुखर कर देता है। यह बात केवल केश के बारे में ही सत्य नहीं है पर अन्य अगो के वर्णन मे इसी प्रकार की प्रवृत्ति प्राप्त होती है—

चतुरबेद मत सब ओहि पाहीं।
रिजु जमु, साम अथर तन माहीं॥
एक एक बोल अरथ चौगुना।
इद्र मोह, ब्रह्मा सिर धुना॥
अमर भागवत पिंगल गीता।
अरथि बूझि पडित नहिं जीता॥[3]

यहाँ पर मानो साकी का पूर्ण भारतीयकरण कर दिया गया है और उसे एक तात्विक रूप मे व्यजित किया गया है। तात्विक दृष्टि से परम तत्व से ही वेदों का प्रादुर्भाव हुआ है जिनका एक एक शब्द अनेक अर्थों का व्यजक है। यह तो हुआ प्रियतमा की वाणी का विस्तृत प्रतिफल। इसी प्रकार दतपक्ति पर जायसी का कथन लोकोत्तर अनुभूति को अत्यत स्पष्ट रूप प्रदान करता है—

रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती।
रतन पदारथ मानिक मोती॥[4]

---

१ ईरान के सूफी कवि पृ० ३२२
२ वही, पृ० ३४८–३४६
३ जायसी ग्रंथावली, नखसिख खंड, पृ० ५०
४ जायसी ग्रंथावली, नखसिख खंड, पृ० ५०

इसी तरह की उक्ति वरुनी पर भी है जो प्रतीक रूप को स्पष्ट करती है कि उस प्रियतमा के दृष्टि-वाणों से सारा ससार बिधा हुआ है, दूसरे शब्दो मे प्रिया का 'नूर' समस्त जगत मे व्याप्त है।

> ओहि बान्ह अस को जो न ।र
> बेधि रहा सगरौ ससारा ॥[1]

इन सब उदाहरणो से स्वय सिद्ध है कि सूफी कवि जायसी ने किस प्रकार भारतीय प्रियतमा मे साकी के तत्वो का समन्वय किया है। मानसिक क्रियाओ में जहाँ एक ओर विश्लेषण की प्रवृत्ति होती है वही पर विश्लेषित तत्वो मे समन्वय की प्रवृत्ति भी लक्षित होती है। इस विश्लेषण एव समन्वय मे चेतन तथा अचेतन क्रियाओं का समान महत्व रहता है। साकी या प्रिया की धारणा में मानसिक क्रियाओं की समन्वयात्मक अभिव्यक्ति प्राप्त होती है। दूसरी ओर जायसी आदि मे इस मानसिक क्रिया की अभिव्यजना आध्यात्मपरक हो गई है। अत सूफी काव्य में साकी का नायिका रूप (प्रियतमा) तात्विक दृष्टि से आध्यात्मिक मनोविज्ञान का सुन्दर विकास कहा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त सूफी काव्य मे नायिका की भावना म अनेक नवमूल्यो का भी समहार प्राप्त होता है। यह समाहार या तो परिस्थितिजन्य या कथा रूप के कारण है। विदेशी सूफी कवियो ने प्रियतमा को अधिकतर एकांतिक रूप म ही चित्रित किया है परतु जायसी आदि ने उसे जनजीवन एव समाज की सापेक्षता मे चित्राकन किया है। इसी से इद्रावती तथा पद्मावती का स्वरूप अधिक व्यापक अथ-समष्टि का द्योतक है। सूफी मान्यतानुसार प्रियतमा एक ऐसा व्यक्तित्व है जो प्रेमी को अपनी ओर प्रत्यक्ष रूप स आकृष्ट करती है परतु 'वह स्वय उसकी ओर आकर्षित नहीं होती है। इसी प्रकार केवलमात्र जीवात्मा ही उसके विरह एव प्रेम मे तड़पना है पूवराग की ज्वाला से दग्ध होता है परन्तु प्रियतमा की ओर स एसी चेष्टाओं का अभाव रहता है। इस कमी को सूफी भारतीय कवियों ने भारतीय प्रभाव के फलस्वरूप पूरी की। उन्होंने दोना ओर के प्रेम को विरह को समान महत्व दिया है। उनका दृष्टिकोण एकांगी नहीं है उन्होंने अपनी नायिकाओं के द्वारा दो छोरों को एक स्तर रेखा में लाने का सफल प्रयत्न किया है। पद्मावती

---

1 वही, पृ० ४६

मे जहाँ एक ओर प्रेम-भावना का सुन्दर विकास प्राप्त होता है, वही उसमे कर्म भावना की सुन्दर परिणति है। वह अलाउद्दीन के आक्रमण के समय अपने कर्त्तव्य का निश्चय करती है अथवा राजा रत्नसेन के बंदी हो जाने पर अपने नारीत्व का कर्मप्रधान एवं सतीप्रधान परिचय भी देती है। जो आलोचक यह मत रखते हैं कि जब रत्नसेन तथा पद्मावती का मिलन हो गया तब प्रतीकात्मक दृष्टि से कथा का अंत हो जाना चाहिये था—कथा का उत्तरार्ध किसी भी प्रतीकात्मक संदर्भ को पूरा नहीं करता है। उनके इस मत का उत्तर यहाँ स्वयं प्राप्त हो जाता है। जायसी आदि ने अपनी नायिकाओं में पूर्ण भारतीय नारीत्व के प्रतीकात्मक अर्थ को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। कदाचित् इसी हेतु उन्हें कथा के उत्तरार्ध को बढ़ाना पड़ा है। इस विस्तार के मूल में यही तथ्य भासित होता है कि प्रियतमा का एकांतिक रूप भारतीय विचारधारा के प्रतिकूल है, उसे कर्त्तव्यप्रधान रूप में, मानवीय भावनाओं, क्रियाओं एवं संवेदनाओं के संदर्भ में दिखाना भी अपेक्षित है। ठीक है कि आध्यात्मिक मिलन हो गया, और यहाँ पर 'सब कुछ समाप्त हो गया। परन्तु क्या जीवात्मा परमपद तक पहुँच कर, माया और संसार आदि के प्रलोभनों में फँस कर, फिर अपनी अधोगति नहीं कर सकती है? यहाँ पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखने की आवश्यकता है जिसकी ओर स्वयं कवि ने ग्रंथ के अंत में अपने अन्योक्ति कोष मे संकेत किया है। मान वहाँ पर रत्नसेन है बुद्धि पद्मावती है, अलाउद्दीन माया और चेतन शैतान के प्रतीक है।[१] मन अत्यन्त चंचल होता है, वह स्थिर होकर भी फिर चलायमान हो जाता है। क्या विश्वामित्र का मन समाधि में स्थिरप्रज्ञ होकर भी, अप्सरा के मनोमोहक वाह्य प्रभावों के द्वारा अपने उच्च स्थान से डिग नहीं गया था? यही हाल रत्नसेन का भी हुआ वह बुद्धिरूपी पद्मावती से एकाग्र होकर भी वाह्य प्रलोभनों के कारण (अलाउद्दीन तथा राघव चेतन) माया के जाल में फँस कर अपना अधःपतन कर लिया। ऐसा ज्ञात होता है 'पद्मावत' का उत्तरार्ध इसी मानसिक अधःपतन की करुण कथा है जहाँ मन ऊर्ध्वगामी होकर फिर रसातल का भागी हो जाता है? यह उत्तरार्ध मन की चलायमान प्रवृत्ति के प्रति साधक को ही नहीं, पर संसार के मनुष्यों को भी चेतावनी देता है। जब मन इस प्रकार अधोगति को प्राप्त हो जाय तब बुद्धि की क्या दशा होगी? मनोविज्ञान के अनुसार बुद्धि मन से सूक्ष्म है जो 'मन' को अधिकार में रखती है जब मन निरोधात्मक दशा में हो। भगवान कृष्ण ने भी गीता में कहा है कि पदार्थ से इंद्रियां सूक्ष्म है, इन्द्रियों से मन सूक्ष्म है, मन से बुद्धि सूक्ष्म है और जो बुद्धि से

---

१ जा० ग्र० उपसंहार पृ० ३४१

भी महान या सूक्ष्म है वह 'आत्मा' है।[1] यदि बुद्धि की बागडोर ढीली पड़ जाय या मन बुद्धि के अनुशासन से मुक्त हो जाय तो वह क्रमश बाह्य वासनाओं एव प्रलोभनों के कारण अपने निजत्व को ही खो देता है। तब निदान बुद्धि भी हताश होकर निश्चेष्ट हो जाती है। एक प्रकार से मानव बुद्धि मरणप्राय हो जाती है। बुद्धि की इसी करुण समाप्ति की कथा पद्मावत' का उत्तरार्ध है और पद्मावती की दीन दशा उस समय साकार हो उठती है जब वह स्वय अग्नि की लपटों मे समा जाती है। पद्मावत की पूर्ण कथा को ध्यान मे रखकर [मन—रत्नसेन बुद्धि —पद्मावती जायसी के दिये कोषानुसार] यह कहा जा सकता है कि रत्नसेन और पद्मावती क परस्पर विकास और उन दोनों की अन्योन्य अधोगति की करुण कथा ही यह काव्य है जहाँ, मानवीय चेतना मे बुद्धि तथा मन का अन्योन्य सबध-उनका विकास और फिर उनका करुणामय अध पतन क्रमिक रूप मे दिखाया गया है। मेरे विचार से जायसी ने अपनी प्रियतमा को एक साथ इतने विस्तृत क्षेत्र का वाहक बनाकर, उसे जहाँ एक ओर आध्यात्मिक मनोवैज्ञानिक एव दार्शनिक क्षेत्रों का समष्टि रूप म चित्राकन किया है वहीं उसकी धारणा में मानव-जीवन के कर्त्तव्यप्रधान रूप का और ऐतिहासिकता का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया है।

---

१ श्रीमद्भगवद्गीता कर्मयोग प० १३२ श्लोक ४२

क्या 'पद्मावत' का कोश प्रक्षिप्त है ? एक विश्लेषण | ५

पद्मावत के कवि ने कथा काव्य के अंत में जो कोश दिया है, वह अनेक आलोचकों तथा भाषा वैज्ञानिकों के द्वारा प्रक्षिप्त माना गया है। डा० माताप्रसाद तथा डा० कमल कुलश्रेष्ठ ने इस कोश को निरर्थक एवं कवि रचित नहीं माना है। डा कमलकुलश्रेष्ठ का मत है कि मन के दो प्रतीक हैं रत्नसेन और सिंहल तथा माया के तीन प्रतीक हैं—नागमती अलाउद्दीन और राघव-चेतन। अतः कथा के पात्रों के और इस कोश में दिये गये। पात्रों में काफी अंतर दृष्टिगत होता है जो कोश को बरबस प्रक्षिप्त तथा निरर्थक ही घोषित करता है।"[१]

कोष में दिए गए पात्रों के प्रतीकार्थ संकेत इस प्रकार हैं—

'चित्तौड़ तन का प्रतीक है जिसका राजा रत्नसेन मन है। सिंघल हृदय है पद्मावती बुद्धि है नागमती दुनिया धंधा है सुआ गुरु है और राघव तथा अलाउद्दीन क्रमश शैतान और माया के प्रतीक हैं[२]।", अब देखना है कि कवि ने अपनी कथा के माध्ययम से इस कोश का कहाँ तक पालन किया है। मेरा विवेचन इसी आधार पर आश्रित है और जिसके विवेचन में मैंने मनोवैज्ञानिक तथा अध्यात्मिक भावभूमियों का आश्रय लिया है।

पद्मावत् के पात्रों के प्रतिकार्थ के लिए अध्यात्म तथा मनोविज्ञान दोनों दृष्टियों से देखना आवश्यक है। यह तथ्य प्रत्यक्ष रूप से स्वयं कोष ही से प्रकट होता

---

१ जायसी ग्रंथावली, स० डा० माताप्रसाद गुप्त भूमिका पृ० १३ तथा मलिक मुहम्मद जायसी द्वारा डा० कमल कुलश्रेष्ठ पृ० ९८

२ जायसी ग्रंथावली स० रामचन्द्र शुक्ल उपसंहार ३४१

भी महान या सूक्ष्म है वह 'आत्मा' है।[1] यदि बुद्धि की बागडोर ढीली पड़ जाय या मन बुद्धि के अनुशासन से मुक्त हो जाय तो वह क्रमशः बाह्य वासनाओं एवं प्रलोभनों के कारण अपने निजत्व को ही खो देता है। तब निरुपाय बुद्धि भी हताश होकर निश्चेष्ट हो जाती है। एक प्रकार से मानव बुद्धि मरणप्राय हो जाती है। बुद्धि की इसी करुण समाप्ति की कथा 'पद्मावत' का उत्तरार्ध है और पद्मावती की दीन दशा उस समय साकार हो उठती है जब वह स्वयं अग्नि की लपटों में समा जाती है। पद्मावत की पूर्ण कथा को ध्यान में रखकर [मन—रत्नसेन, बुद्धि—पद्मावती जायसी के निर्देशानुसार] यह कहा जा सकता है कि रत्नसेन और पद्मावती के परस्पर विकास और उन दोनों की अयोग्य अधोगति को चरण किया हो यह काव्य है जहाँ मानवीय चेतना में बुद्धि तथा मन का अन्योन्य संबंध—उनका विकास और फिर उनका करुणामय अधःपतन क्रमिक रूप में दिखाया गया है। मेरे विचार से जायसी ने अपनी प्रियतमा को एक साथ इतने विस्तृत क्षेत्र का वाहक बनाकर, उसे जहाँ एक ओर आध्यात्मिक मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक क्षेत्रों का समष्टि रूप में चित्रांकन किया है वहीं उसकी धारणा में मानव जीवन के कर्त्तव्यप्रधान रूप का और ऐतिहासिकता का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया है।

---

१ श्रीमद्भगवद्गीता कर्मयोग पृ० १३२ श्लोक ४२

कथा 'पद्मावत' का कोश प्रक्षिप्त है ? एक विश्लेषण | ५

पद्मावत के कवि ने कथा काव्य के अंत में जो कोश दिया है, वह अनेक आलोचकों तथा भाषा वैज्ञानिकों के द्वारा प्रक्षिप्त माना गया है। डॉ० माताप्रसाद तथा डा० कमल कुलश्रेष्ठ ने इस कोश को निरर्थक एवं कवि रचित नहीं माना है। डा० कमलकुलश्रेष्ठ का मत है कि मन के दो प्रतीक हैं रत्नसेन और सिंहल तथा माया के तीन प्रतीक हैं—नागमती अलाउद्दीन और राघव-चेतन। अतः कथा के पात्रों के और इस कोश में दिये गये पात्रों में काफी अंतर दृष्टिगत होता है जो कोश को बरबस प्रक्षिप्त तथा निरर्थक ही घोषित करता है।'[1]

कोश में दिए गए पात्रों के प्रतीकार्थ संकेत इस प्रकार हैं—

'चित्तौड़ तन का प्रतीक है जिसका राजा रत्नसेन मन है। सिंघल हृदय है, पद्मावती बुद्धि है, नागमती दुनिया धंधा है, सुआ गुरु है और राघव तथा अलाउद्दीन क्रमशः शैतान और माया के प्रतीक हैं[2]।", अब देखना है कि कवि ने अपनी कथा के माध्यम से इस कोश का कहाँ तक पालन किया है। मेरा विवेचन इसी आधार पर आश्रित है और जिसके विवेचन में मैंने मनोवैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक भावभूमियों का आश्रय लिया है।

पद्मावत के पात्रों के प्रतीकार्थ के लिए अध्यात्म तथा मनोविज्ञान दोनों दृष्टियों से देखना आवश्यक है। यह तथ्य प्रथम रूप से स्वयं कोश ही में प्रकट होता

---

१ जायसी ग्रंथावली, सं० डा० माताप्रसाद गुप्त भूमिका, पृ० १- तथा मलिक मुहम्मद जायसी द्वारा डा० कमल कुलश्रेष्ठ पृ० ६८

२ जायसी ग्रंथावली सं० रामचन्द्र शुक्ल उपसंहार ३४१

है। उसमे चित्तौड़, सिंघल, रत्नसेन और पद्मावती मानव मन तथा शरीर से ही सम्बन्धित हैं। नागमती, राघव तथा अलाउद्दीन भौतिक जगत से सम्बन्धित हैं जो मानव मन तथा बुद्धि के मार्ग मे व्यवधान रूपमे आते हैं। स्वयं जायसी ने 'उपसंहार" के अन्तर्गत ये पंक्तियां प्रारंभ में ही कही हैं जो सारी कथा को शरीरान्तर्गत ही संकेत करती हैं—

चौदह भुवन जो तर उपराहीं।
ते सब मानुष के घट माहीं॥[1]

इस प्रकार जायसी ने मानव शरीर तथा उसके बाहर की शक्तियो का अन्योन्य संबंध ही उपस्थित किया है। मन या रत्नसेन मानसिक क्रियाओं की क्रमिक अवस्थाओं से होता हुआ बौद्धिक क्षेत्र (पद्मावती) मे पहुंचने में समर्थ होता है। दूसरे शब्दों मे यही मानसिक आरोहण है जो क्रमश: बुद्धि तथा आत्मा का साक्षात्कार करता है यहां पर हमें भारतीय आध्यात्मिक मनोविज्ञान का स्वरूप प्राप्त होता है। इसके अनुसार इन्द्रियों तथा मानसिक क्रियाओं से भी उच्चतर है जिसकी ओर मानव मन आरोहण करता है[2]। इसी की प्रतिध्वनीप्रसिद्ध विकासवादी वैज्ञानिक चिंतक ली काम्टे डू नू (Lecomte du Nouy) के इस मत मे भी प्राप्त होती है कि मानव का भावी विकास भौतिक अथवा शारीरिक क्षेत्र में न होकर मानसिक तथा नैतिक क्षेत्र में होगा क्योकि वह शारीरिक क्षेत्र में अन्य स्तनधारियों (Mammals) से सबसे अधिक विकसित है।[3] गीता मे इस आध्यात्मिक मनोविज्ञान के प्रति स्पष्ट संकेत है जो मेरे इस सम्पूर्ण विवेचन का आधार भी है। वहां कहा गया है कि "इन्द्रियो से महान् पदार्थ है मन इन दोनों से उच्च है बुद्धि मन से उच्च है और जो बुद्धि से भी सूक्ष्म है, वह आत्मा है।"[4]

अतः मानसिक जगत अनुभव ही क्रमश: उच्च स्तर (आरोहण) में अनुभूति का रूप ग्रहण कर लेता है इस अभियान में मन (रत्नसेन) के सम्मुख तीन व्यवधान आते हैं, प्रथम नागमती तथा उसके बाद राघव और अलाउद्दीन। कवि ने यह अद्भुत योजना सोद्देश्य की है जिसका विवेचन अपेक्षित है।

---

१ जायसी ग्रन्थावली, पृ० ३४१

२ हिंदू साइकलॉजी द्वारा स्वामी अखिलानन्द पृ० ७०

३ ह्यूमन डेस्टनी द्वारा ली काम्टे डू नू, पृ० ७८-८०

४ गीता कर्मयोग, श्लोक ४२, पृ० १३२

कवि ने नागमती को गोरखधधा का प्रतीक माना है। कवि ने उसे कही पर भी मन (रत्नसेन) के प्रयत्नों मे बाधक चित्रित नही किया है जिस प्रकार राघव तथा अलाउद्दीन को। इसका प्रमुख कारण तीनों पात्रों की धारणा का सूक्ष्म अन्तर है नागमती तो रत्नसेन की पहिलवियाही" पत्नी है वह तो मन का एक अभिन्न अग हैं। लौकिक क्षेत्र म वह ससार -चक्र का प्रतीक है जो मन के साथ प्रारम्भ से लगी हुई है। अत रत्नसेन से उसका जो भी सबध कवि को मान्य है वह ससार सापेक्ष है। जीव के लिए ससार का रूप हेय तथा व्यथ नहीं हैं क्योकि उसी की आधारशिला पर वह अनुभव तथा ज्ञान का अजन करता है। इस दृष्टि स नागमती मन की एक प्रवृत्ति है जो प्रवृत्तिमूलक है। स्वय कवि ने इस तथ्य का स्पष्ट सकेत किया हैं और उसका पद्मावती से सापेक्ष महत्व प्रदर्शित किया है—

धूप छाँह दोउ पीय कै सगा।
दूनो मिल रहहि इक सगा॥
गग जमुन तुम नारि दोउ लिखा मुहम्मद जोग।
सेव करो मिलि दूनो लो मानहु सुख भोग॥[1]

यही कारण है कि कवि ने नागमती को एक आदश नारी का रूप दिया है क्योंकि मानसिक उत्थान के लिये निम्न मानसिक स्तर एव बाह्य जगत (नागमता के उन्नयन का आध्यात्मिक महत्व है न कि उसके तिरोभाव का। उपनिषद की शब्दावली मे कहे तो नागमती प्राण की प्रतीक है जो इद्रियों के संघात् रूप का शब्द है प्राण मे ही समस्त इद्रिय क्रियाओं का सयमन होता हैं अत मन ही प्राण है। इसीसे प्राणमय कोष के बाद मनोमय कोष को स्थान दिया गया है मेरे विचार से कवि ने नागमती को जो गोरखधधा कहा हैं उसका मनोवज्ञानिक रहस्य यही है।

अब रहा माया और शतान का पक्ष। मिलन के पूण न होने मे अलाउद्दीन तथा राघव दोनों का क्रियात्मक योग है। सत्य में 'मन" और 'बुद्धि' (आत्मा, परमात्मा) के मिलन के बाद इन शक्तियों का क्रियात्मक रूप हमारे सामने आता है। यहाँ पर शतान का रूप सामी परम्परा से गृहीत हुआ है। सामी परम्परा मे शतान ईश्वर का अश है जो आदम और हौवा को स्वग से च्युत करता हैं। यहाँ पर राघव पद्मावती तथा रत्नसेन के मिलन हो जाने के बाद शतान की भाँति उनम पायक्य का

---

१ जायसी ग्रन्थावली, पृ० २२५ नागमती पद्मावती भेंट खड

१ वृहदारण्यकोपनिषद्, अध्याय २, पृ० ४५७ (गीत प्रेस उप० भाष्य)

बोज भारो की कोशिश करता है। राघव शतान का वह रूप है जिस कवि ने इन २०१० द्वारा शतान ही कहा है जो प्रमाण है—

> तु मतन मोरहि समुझाव।
> मारा तो कह को समझाव।[1]

"पद्मावती' म शतान को माया का दूरच माना गया ह क्योंकि वह अलाउद्दीन म पाप को, एक प्रकार से पूरा करने म सहायता प्रदान करता ह। यहां हम कह सकते हैं कि अलाउद्दीन (माया) का क्रियात्मक रूप यह राघव चेतन (शतान) ह। अत कवि ने इन दोनों पात्रों के द्वारा एक अत्यत सूक्ष्म अतर हमारे सामने रखा है जो सामी परम्परा की भारतीय परिणति है। अत म तीनों पात्र (नागमती राघव अलाउद्दीन) माया के प्रतीक नहा हैं वरन् उनका प्रतिकार्य अपने म स्वतत्र पथ की अवतारणा करता ह।

कथा के उत्तराध का विस्तार भी कवि ने साभिप्राय किया है और वह भी मन तथा बुद्धि के पारस्परिक सबध को समग रखने के लिए। आलोचकों के अनुसार यह उत्तराध का अश विस्तार व्यथ ह क्योंकि आध्यात्मिक प्रतीक की दृष्टि से, कथा का अत मिलन के बाद ही हो जाना चाहिए था। ठीक है आध्यात्मिक मिलन हो गया और यहां पर सब कुछ समाप्त हो गया। परन्तु क्या मन या जीवात्मा परम पद' तक पहुंचकर माया और ससार तथा शतानादि क प्रलोभनों म फस कर फिर अपनी अधोगति नहीं कर सकती है? यहां पर मनोवज्ञानिक दृष्टि से देखना आवश्यक ह। मन अत्यत चचल होता ह। यदि वह एक बार स्थित प्रज्ञ हो भी गया तो विश्वामित्र की भांति, अप्सरा के मनमोहक प्रभाव क कारण फिर डिग भी सकता ह। वह बुद्धि रूपी पद्मावती से एकाग्र होकर भी बाह्य प्रलोभनों के कारण, फिर माया के आवरण में फस गया ऐसा ज्ञात होता ह कि कथा का उत्तराध इसी मानसिक अध पतन की करुणा कथा ह जहां मन ऊध्वगामी होकर फिर रसातल का भागी हो सकता ह जब मन इस प्रकार अधोगति को प्राप्त हो गया तब बुद्धि' की क्या दशा होगी यदि बुद्धि की बाग डोर ढीली पड़ जाय या मन बुद्धि के अनुशासन से छूट जाय, तो वह क्रमश बाह्य प्रभावों एव प्रलोभनों के कारण अपने निजत्व को खो देता ह। इस दशा में बुद्धि मरणप्राय और निश्चेष्ट हो जाती ह। बुद्धि की इसी करुण समाप्ति की कथा पद्मावती का उत्तराध है और पद्मावती की दीनदशा उस समय साकार हो जाती ह

---

1 जायसी ग्रथावली, राघव चेतन देश निकाला खड, पृ० २३३

जब वह स्वय अग्नि की लपटो मे समाजाती ह अत सम्पूर्ण कथा को ध्यान मे रख कर यह कहा जा सकता है कि "मन' और "बुद्धि" के परस्पर विकास और फिर उनके अन्योन्य अधोगति की करुण कथा ही यह "महाकाव्य" ह जहाँ मानवीय चेतना में मन तथा बुद्धि का सम्बन्ध, उनका विकास और फिर उनका अध पतन दिखाया गया ह।

जहाँ तक सुआ का प्रश्न है, वह 'गुरु' का रूप है जिसपर सदेह की कोई गुंजायश नहीं है। दूसरी ओर चित्तौड़ शरीर का और सिंघल हृदय का प्रतीक है। शरीर और हृदय का अन्तर इतना स्पष्ट है कि उस पर अधिक कहना व्यर्थ है। शरीर का राजा मन है जो इन्द्रियों पर अधिकार भी रखता है और कभी-कभी चचल भी हो जाता है। ये दोनो स्थितियाँ पद्मावत् मे स्पष्ट है जिसका मैं विवेचन कर चुका हूँ। बुद्धि (पद्मावती) और 'हृदय' (सिंघल) का अन्योन्य सम्बन्ध है क्योंकि कवि ने पद्मावती का निवास सिंघल माना है। यहाँ पर कवि दोनो म सामरस्य दिखाना चाहता है जो प्रसाद की कामायनी का ध्येय है। परन्तु उत्तरार्ध में, यह समरसता विच्छिन्न हो जाती है और बिना भावना (हृदय) के बुद्धि भी मृतप्राय हो जाती है।

अस्तु, मैं, उपयुक्त कारणो के प्रकाश मे, पद्मावत् के कोश को प्रक्षिप्त नहीं मानता हूँ।

मीरा और सूर में प्रेम-भक्ति के प्रतीक

६

प्रतीक का संस्कृत पर्यायवाची शब्द प्रतिनिधि है जिसका अर्थ यही है कि जो किसी भाव, विचार अथवा धारणा का प्रतिनिधित्व करे, वही प्रतीक है। अत प्रतीक का मुख्य काय किसी भाव अथवा विचार को विशिष्ट रूप देना है जिसके द्वारा वह विचार या भाव सादृश्यता के आधार पर प्रतीक से अपना साम्य स्थापित कर सके। जब तक वस्तु और भाव मे साम्य नहीं होगा प्रतीक की स्थिति स्पष्ट नही हो सकेगी। इस प्रकार सक्षेप मे प्रतीक का मुख्य काय विचारोद्भावना है[1] चाहे वह स्वतन्त्र रूप मे हो अथवा अलङ्कारों के आवरण मे।

गोपी भाव—कृष्णकाव्य म प्रेम भक्ति के प्रतीकों का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है क्योंकि कृष्णकाव्य के मूल आधार स्तम्भ कृष्ण राधा और गोपियाँ स्वय प्रतीक हैं जिनके द्वारा किसी न किसी तात्विक अर्थ की व्यजना होती है।[2] इन प्रतीकों का आश्रयभूत तत्व ही प्रेम भक्ति या रागानुगा भक्ति ही है। सूरदास तथा अन्य कवियो ने प्रेम भाव का आदर्शीकरण गोपी अथवा राधा भाव के द्वारा व्यक्त किया है। उनका प्रेम माधुर्य भाव से परिव्याप्त होने के कारण कृष्ण की ओर उत्तरोत्तर बढ़ता हो जाता है और अन्त म उनकी तद्रूपता कीटभृङ्ग के समान परिलक्षित होती है।

---

१ ए नैचुरल हिस्ट्री आफ माइण्ड द्वारा ए० डी० रिटची (१९१२) पृ० २१

२ राधा परमात्मा के आनन्द की पूर्ण सिद्ध शक्ति है, गोपियाँ रसात्मक सिद्धि कराने वाली शक्तियों की प्रतीक हैं और कृष्ण पूर्ण 'सच्चिदानन्द' रूप के प्रतीक। पूर्ण विवेचन के लिए देखिए अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय पृ० ५००-५०६ द्वारा डा० दीनदयालु गुप्त, भाग २ स० २००४)।

मीरा म 'गोपी माव' की परिणति, व्यक्तिगत प्रेम साधना के सस्पश से अत्यत माधुयपूण हो गई है। उनका 'गोपी माव' स्वय मे एक प्रतीकात्मक अथ का सुदर स्वरूप है। मीरा का पूण व्यक्तित्व ही मानो 'गोपी माव' मे साकार हो उठता है और साथ ही उसके रतिपूण प्रेम की मावना यही पर आकर 'मधुर भाव' मे लय हो जाती है। यही मधुर भाव आत्मा का धम है जिसकी चरम परिणति मीरा के गोपी भाव म प्राप्त होती है। सूर के गोपी भाव का आलम्बन प्रत्यक्ष न होकर अप्रत्यक्ष है वह गोपियो के द्वारा व्यक्त हुआ है। परन्तु मीरा का गोपीभाव उनके अत करण का प्रतिरूप है जिसमे उनकी अनुभूति अत्यत एकान्तिक है और गोपिया की तरह उसमें विरह का अत्यधिक आग्रह है। मीरा के गोपी भाव म तादात्म्य योग का मधुर रूप प्राप्त होता है "जहाँ जसे मी और जिस प्रकार भी हरी' रीझे वसा ही 'बनाव सिंगार' करना होता है[१] अथवा उनका मुरारी' तो 'हिरदे मे बसा हुआ हुया है जिसका वह पलपल दरसण' किया करती है'[२] 'दिन रात खेलकर उसे रिझाने का उपक्रम करती रहती है" क्योकि मीरा की 'प्रीति पुराणी' है 'जनम-जनम' की है पूरब जनम' की है—उस प्रीत का तभी तो उन्हे जनमजमान्तर से अधिकार है।[३] कितना गहरा और कितना रतिपूण माधुयमाव है इस गोपीमाव मे ? मीरा ने अपनी प्रेम मक्ति' का प्रतीकीकरण इसी गोपी भाव के द्वारा सफलता स किया है।

सम्बन्ध प्रतीक योजनाएँ—मीरा के इस व्यक्तिगत गोपी भाव के अतिरिक्त सूर अथवा मीरा ने स्थान-स्थान पर ऐसे सम्बन्ध प्रतीको की योजना प्रस्तुत की है जिसके द्वारा भक्त का भगवान् के प्रति या प्रेमी का प्रेम पात्र के प्रति एकात्म प्रेमभाव व्यजित होता है। जब यह प्रेम मक्ति अपनी चरमावस्था को प्राप्त हो जाती है और साधक उसे व्यक्त करन मे असमथ हो जाता है तब वह अपनी प्रेमानुभूति को प्रतीकों के द्वारा व्यक्त करता है और गूंगे का मधुर फल चखने[४] की अनुभूति को प्रतीकात्मक विधि से व्यक्त करता है।

---

१ मीराबाई की पदावली स० श्री परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १६५, पद १६ (स० २०१४)।

२ वही, पृ० १०५, पद १५।

३ वही, पृ० १०६ पद २०, पृ० १३६ पद १२५ तथा पृ० १४२ पद १३१।

४ सूरसागरसार, स० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० ६, (स० २०११)।

इन सम्बन्ध प्रतीकों मे मुख्यत अन्योन्याश्रित सम्बन्ध ही प्राप्त होते हैं, इसी से उनके प्रयोग से यह स्पष्ट ध्वनित हो जाता है कि उनमे साध्य साधक प्रेमी प्रेमपात्र, विषय विषयी अथवा भक्त और भगवान् का अन्योन्य सम्बन्ध ही चित्रित किया गया है। सत्य मे, इस प्रेमपूर्ण सम्बन्ध मे द्वयता की भावना का होना अत्यन्त आवश्यक है, परन्तु इस द्वयता मे एकता का प्रतिपादन करना ही इन प्रतीकों का मुख्य ध्येय है। इसे ही हम भक्त कवियों का अद्वैत-दर्शन कह सकते हैं जिसकी सुन्दर अभिव्यक्ति उनके सम्बन्ध प्रतीक हैं। इसी द्वयता में अद्वैत की सुन्दर परिणति ही अपेक्षित है। इसी प्रेम भाव की व्यजना सूरदास ने भौंरे और कमल के द्वारा प्रकट की है—

> भौंरा भोगी बन भ्रम (रे) मोद न मान ताप।
> सब कुसमनि मिलि रस कर (प) कमल वधाये आप॥[1]

जीवात्मा (भँवरा) चाहे ससार के विषय भोगो में, एक प्रेमी की तरह, चाहे अनेक स्थानो का भ्रमण ही क्यो न करे पर अन्त मे वह अपने साध्य या प्रेम पात्र 'कमल' के बिना शान्ति नही पा सकता है। इसमे साध्य और साधक की द्वैत भावना के साथ साथ उस अद्वैत की झलक भी प्राप्त होती है जो 'भक्ति भाव' के लिये परमावश्यक है। इसी जीव को (मञ्जु) सम्बोधित करते हुये सूर ने अद्वय प्रेम तत्व' की व्यजना की है—

> मञ्जी री, भजि श्याम कमल पद
> जहाँ न निसि को वास।[2]

हे आत्मा, उस परमसाध्य के चरणों में मन लगा जहाँ अविद्या अथवा अज्ञानान्धकार (निसि) का वास नहीं है। जब तक जीवात्मा अविद्या और अज्ञान मे लिप्त रहेगी तब वह सत्य रूप में, परमात्मा की अनुभूति प्राप्त न कर सकेगी। वह भौंरा जो एक मन वचन प्राण से कमल का प्रेमी है, उसके सामने चम्पक वन की क्या महत्ता है? जब मन साध्य तत्व में प्रेम मग्न हो गया—एकीभूत हो गया तब उसके अन्तर्चक्षुओं के सामने यह अस्थिर विश्व (चम्पक) और उसके

---

१ सूरसागर स० नन्ददुलारे वाजपेयी पृ० १०६ पद ३२५ (स० २००५) प्रथम खण्ड।

२ वही पृ० ११२ पद ३३६।

विषयभोग केवल घटनामात्र रह जाते हैं, गोपियाँ इसी भाव को प्रतीकात्मक विधि से इस प्रकार कहती हैं—

सूर मञ्जु जो कमल के विरही,
चम्पक वन लागत चित थोरे।[1]

इस सम्बन्ध प्रतीक योजना के अतिरिक्त अन्य सम्बन्ध योजनायें भी हैं जिनमे मानवेतर प्राणियो अथवा पदार्थों को प्रतीक का रूप प्रदान किया गया है और उसके द्वारा प्रेम भक्ति को आदर्श की श्रेणी तक पहुंचा दिया गया है। सत्य मे ये योजनायें, रूढ़ि परम्परा भी है जिनका पालन प्राचीन काल से होता आ रहा है और सूर तथा मीरा ने भी इन परम्परागत 'प्रतीकों' के द्वारा प्रेम भक्ति का निरूपण किया है। इन प्रतीकों के द्वारा (चातक, मीन दीपक, पतङ्ग आदि) भक्त कवियो ने जिस प्रेमपूर्ण भावभूमि का प्रस्तुतीकरण किया है, उसे हम "मनोवैज्ञानिक-अध्यात्मवाद" की संज्ञा दे सकते हैं। उनकी समस्त मनोवृत्तियों का पर्यवसान उस समय चित्त में हो जाता है और वे जागृत स्वप्न एवं सुषुप्ति अवस्थाओ से ऊपर उठकर परमानन्द स्वरूप 'कृष्ण' या हरि' (ब्रह्म के समान) की भावना मे लीन हो जाते हैं। इस मनोविज्ञान का संकेत हमें माण्डूक्योपनिषद् मे इस प्रकार मिलता है—

यदा न लीयते चित्त न च विक्षिप्यते पुनः।
अनिङ्गनमनाभास निष्पन्न ब्रह्म तत्तदा॥[2]

अर्थात् जिस समय चित्त सुषुप्ति मे लीन न हो और फिर विक्षिप्त न हो तथा निश्चल और विषयाभास से रहित हो जाय उस समय वह ब्रह्म रूप ही हो जाता है। हमारे भक्त कवियो ने ऐसे ही चित्त के द्वारा 'सगुण ब्रह्म' का ज्ञान प्राप्त किया था क्योंकि प्रतीक का महत्व इसी में है कि साधक उनके द्वारा अपने आराध्य की अनुभूति प्राप्त कर सके।[3] प्रेम भाव में यह अनुभूति परमावश्यक है, इसीसे भक्त कवियो ने अपने हृदय की प्रेम भक्ति का प्रतीकीकरण 'चातक-वृत्ति' के द्वारा किया है। महाकवि तुलसी ने भी चातक को आदर्श भक्त का प्रतीक बनाकर, उसके

---

१ सूरसागर द्वितीय खण्ड पृ० १८४७ पद ३८५४ (स० २००५)

२ माण्डूक्योपनिषद् पृ० १८४ श्लोक ४६ अद्वैत प्रकरण, (उपनिषद् भाष्य गीता प्रेस स० २०१३)

३ गीता रहस्य द्वारा बालगङ्गाधर तिलक पृ० ५८०, भाग १ (१९३५)

द्वारा भक्ति के आध्यात्मिक रहस्य का उद्घाटन किया है। परन्तु कृष्ण-काव्य में चातक वृत्ति का उतना विस्तार नही प्राप्त होता है क्योंकि तुलसी की भांति, उसके स्वतन्त्र सन्दर्भ की अवतारणा यहा पर लक्षित नही होती है। सूरदास ने गोपी प्रेम के अन्तर्गत चातक को एकनिष्ठ प्रेम का प्रतीक व्यंजित किया है—

सुनि परिमति पिय प्रेम की (रे) चातक चितव न पारि।
घन आसा सब दुख सहै प अनत न जाव वारि॥[1]

घन की एक मात्र आशा ही चातक को अपेक्षित है चाहे उसके सामने कितने ही दुखो एव आपदाओ के वज्रपात होने लगें। प्रेमी भक्त चातक के इसी भाव को तुलसी ने भी ग्रहण किया है—

उपल करषि गरजन तरजि, डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि कबहु दूसरी ओर॥[2]

तुलसी की भक्ति में चातक दास्य भाव का प्रतीक है जब कि वह मीरा और सूर मे माधुय भाव का प्रतीक अधिक स्पष्ट रूप म प्राप्त होता है। मीरा की चातक (पपीहा) वृत्ति मे विरह का ही आधिक्य है, और वह भी व्यक्तिगत। पपीहा मानो उनके विरहपूर्ण हृदय' का ही प्रतीक है जिसके माध्यम से वे अपने विरह प्रेम को साकार रूप देती है यथा —

पपइया म्हारा कब री बर चितार्यां ॥टेक॥
म्हा सोवू छी अपणे भवण मा पिय पिपु करतां पुकार्या।
दाध्या ऊपर लूण लगायां हिवड़ो करवत सार्या॥[3]

पपीहे की भाति गोपियों ने अपने विरह अथवा प्रेम की व्यंजना को चातक पर आरोपित कर एक अत्यंत अर्थगर्भित प्रतीक की अवतारणा इस प्रकार की है —

---

१ सूरसागर, भाग प्रथम पृ० १०६ पद ३२५ तथा पृ० १५४० (द्वितीय भाग) पद ३२३१ (सभा)

२ तुलसी ग्रन्थावली खड २ स० रामचन्द्र शुक्ल दोहावली पृ० १ दोहा २८३ (स २००४)

३ मीरांबाई पदावली, पृ० १२६—१२५ पद ८३ व ८४

सखी री चातक मोहि जियावत
जसहिं रैनि रहित हौ पिय पिय तसहि वह पुनि गावत ।
अतिहि सुकण्ठ दाह प्रीतम क, तारु जीभ न लावत ।।[1]

तारु जीभ न लावत' म चातक की वत्ति मानो भक्त के एकनिष्ठ प्रेम म एकाकार हो गई है।

कृष्ण काव्य म चातक वृत्ति के अतिरिक्त चकई, मीन और पतङ्ग के द्वारा भी प्रेम की व्यजना प्रस्तुत की गई है। मीरा ने मीन अथवा दीपक के द्वारा भी प्रेमाभिव्यजना प्रस्तुत की है वह कवियित्री के आनन्दपूर्ण प्रणय भावना की प्रतीक है —

नागर नन्दकुमार लाग्यो थारो नेह ।।टेक।।
पाणी पीर ण जाणई मीन तलफि तज्यो देह ।
दीपक जाण्या पीरणा, पतङ्ग जल्या जल खेह ।
मीरा रे प्रभु सावर रे थे विण दह अदह ।।[2]

इसी एकात्म प्रेम भावना को सूर ने भी दीपक पतङ्ग और जल मीन के द्वारा अभिव्यक्त किया है।[3] इसी प्रम-सम्बध का एक अत्यत सुन्दर स्वरूप सूर में उस समय प्राप्त होता है जब व मानवेतर जड पदार्थों के सम्बध के द्वारा प्रेम भाव की व्यजना करते हैं जो प्रेमी एव प्रेमपात्र (आत्मा व परमात्मा) के सापेक्ष महत्व की ओर सकेत करते हैं। सरिता एव तडाग का एसा ही सम्बध है —

सरिता निकट तडाग क, निकमी कूल बिदारि ।
नाम मिट्यो सरिता भई, कौन निवार वारि ।।[4]

यह उदाहरण प्रकृतिगत रहस्य भावना का सुन्दर उदाहरण है जहा प्राकृतिक पदार्थों एव क्रियाओं के द्वारा किसी तात्विक रहस्य का निर्देश किया जाता है।

---

१ सूरसागर भाग दो पृ० १३६० पद ३३३८ (सभा सस्करण)
२ मीराबाई की पदावली पृ० १३३ पद १०५
३ सूरसागर भाग प्र० पृ० १०७, पद ३२५ (सभा)
४ सूरसागर द्वितीय भाग पृ० ८२८ पद १६८० (सभा)

साधनागत प्रसग प्रतीक—कृष्ण काव्य में उपयुक्त सम्बन्ध प्रतीको के अतिरिक्त ऐसे प्रतीकात्मक सन्दर्भ मिलते हैं जो भक्ति प्रेम साधना के माग की दुरूहताओ एव कठिनाइयो को रखते हैं। सूफियो मे जो माग की कठिनाइयों का एक दुरूह रूप प्राप्त होता है, उसके स्थान पर यहा माधुयपरक रूप ही प्राप्त होता है सूरसागर मे द्वारिका चरित के अ तगत विरह विदग्धा गोपियो के निम्न वचन साधनात्मक प्रतीकाथ की ओर सकेत करते हैं।

हौं कसे क दरसन पाऊँ।
बाहर भी बहुत भूपनि की बूझत बदन दुराऊँ।
भीतर भीर भोग भामिनि की, तिहि ह्वा काहि पठाऊँ।[1]

अपने प्रिय का दशन किस प्रकार प्राप्त किया जाय क्योकि बाह्य प्रलोभन एव ओर आकर्षित करते हैं और दूसरी ओर भोग विषयो का बाहुल्य अपनी ओर खींचता है, इन दो के मध्य मे 'परमाराध्य' का दशन कसे किया जाय ? इसी प्रेम भाव का निरूपण माधुय भाव के कारण मीरा में अत्यन्त मोहक रूप से व्यक्त हुआ है।

जोगिया जी निसिदिन जोऊ बाट ।।टेक।।
पाव न चाल पथ दुहेलो आडा औघट घाट।
नगर आई जोगी रम गया रे मो मन की प्रीति न पाइ।[2]

'औघट घाट' के द्वारा मीरा ने उन समस्त बाधाओं का केन्द्रीभूत स्वरूप प्रस्तुत कर दिया है जो भक्ति माग की बाधाओं का प्रतीक है। इन बाधाओं के फलस्वरूप मीरा का जोगी (आराध्य) ससार में व्याप्त होकर भी, उनके हृदय में स्थान न पा सका क्योकि हृदय मे जो प्रीति अपेक्षित है, उसका शायद अभाव है। सत्य रूप में राणा का साप की पिटारी सूली विष का प्याला[3] आदि भेजना और मीरा के सामने उनका अमृतवत् हो जाना जहाँ एक ओर प्रेममर्गत माग की कठिनाइयों की ओर संकेत करता है (सप जो काल का और विष ससार की विषयवासनाओं का प्रतीक माना जा सकता है) वहीं दूसरी ओर भक्ति की परम शक्ति का परिचय देता है। यदि हम इन ऐतिहासिक घटनाओं को (सप व पिटारी)

---

१ सूरसागर सार स० धीरेन्द्र वर्मा पृ० १६५
२ मीराबाई की पदावली, पृ० ११५ पद ४४।
३ वही पृ० ११३ पद ३७ ३८ ३९ व पृ० ११४ प० ४१।

प्रतीकात्मक रूप मे ग्रहण करे तो मेरे विचार से, इतिहास के साथ-साथ एक ऐसे उच्च मानसिक एव आत्मिक स्तर का अनावरण होगा जिसकी ओर सकेत करना ही मीरा का ध्येय रहा हो। यहा पर ऐतिहासिकता एव प्रतीकात्मकता का सुन्दर निवाह होता है जैसा कि 'कामायनी' मे अथवा 'पद्मावत' मे भी प्राप्त होता है।

साधक की अन्तिम स्थिति मिलनावस्था की होती है जिसमे आनन्द की अभिव्यजना प्रतीको के द्वारा भी प्रकट होती है। मीरा मे मिलन की रम्य अनुभूति झिरमिट खेलने[1] की लालसा से साकार हो उठी है। यह 'खेल' उसके जीवन भर का खेल है और इसी से 'झिरमिट' आध्यात्मिक प्रतीक का रूप है। इसी मिलनानन्द की चरम परिणति उस समय होती है जब आनन्दानुभूति की अभिव्यक्ति अनेक प्राकृतिक एव लौकिक व्यापारो के द्वारा व्यक्त होती है। सत्य मे, मीरा ने मिलन के समय जिस भावभूमि का सृजन किया है वह अनेक प्रतीको के द्वारा व्यक्त हुआ है। 'गणगौर' सावन के बादल दादुर पपीहा का बोलना और होली तथा फाग का उन्मादपूर्ण वर्णन करना—ये सबके सब व्यापार मिलन से उद्भूत आनन्दानुभूति के ही प्रतीक है जिसके द्वारा मीरा ने अपनी हृदयगत आनन्दानुभूति को प्राकृतिक व्यापारो के द्वारा साधारणीकरण किया है। होली का एक वर्णन इसी तथ्य का प्रतीक रूप है—

> रङ्ग भरी राग भरी राग सूँ भरी री।
> होली खेल्या स्याम सग रङ्ग सूँ भरी री ॥टेक॥
> उडत गुलाल लाल बदला री रङ्ग लाल
> पिचका उडावा रङ्ग रङ्ग री झरी री ॥[2]

लाल रग अथवा गुलाल अनुराग अथवा प्रेम का प्रतीक है जिससे साधिका पूर्ण रूप से ओतप्रोत है। इसी प्रकार सावन के 'बादल' प्रेमानन्द की रस वृष्टि के प्रतीक हैं जिससे मीरा का सारा व्यक्तित्व ही आप्लावित है।[3] सूर की गोपिया भी ऐसी आनन्दानुभूति मे उस समय दिखाई देती हैं जब वे फाग अथवा वसन्त-लीला की रसानुभूति का अनुभव करती हैं। मीरा का मिलन गोपियों के मिलन से भिन्न है। मीरा की मिलनावस्था व्यक्तिगत है और विरह के बाद उनको मिलन की

---

१ वही पृ० १०६ १०८ पद २३।
२ मीराबाई की पदावली पृ० १४५, पद १४८
३ वही पृ० १४४ पद १४६।

अनुभूति भी प्राप्त होती है, परन्तु गोपियो का मिलन, विरह की अवतारणा तो करता है पर अन्त मे (द्वारिका चरित्र में) वे कृष्ण मे कुरुक्षेत्र मे मिलती हैं पर मिल कर भी नही मिल पाती हैं। गोपियों का यह 'दुखान्त मिलन' दुख और सुख दोनों से परे है। यदि शेक्सपियर ने रोमियो और जूलियट की मृत्यु के द्वारा दुखान्त की अवतारणा की है तो सूर ने गोपियों को जीवित रखते हुए भी दु खान्त की सृष्टि की है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार महाकवि कालीदास ने 'अभिज्ञान शाकुतल में शकुन्तला की ट्रेजेडी का मृत्युपरक चित्राङ्कन न कर जीवित दशा में उसकी ट्रेजडी का रूप मुखर किया है। मेरे विचार से, दु खात का स्थान भारतीय महाकाव्यों म मृत्यु का द्योतक नही है पर वह कलुषताओ एव वीभत्सताओ का प्रतीक है।

सगुण भक्ति काव्य मे महामुद्रा साधना का स्वरूप ७

सिद्धो की तान्त्रिक साधना मे 'महामुद्रा, शून्य की उस स्थिति को कहते हैं जिसम इस शून्य तत्व को प्रज्ञोपाय योगप्रणाली मे नैरात्म बालिका प्रज्ञा या महामुद्रा रूप मे ग्रहण किया जाता था।[1] इस महामुद्रा प्राप्त साधक की स्थिति महासुख (महासुह) चक्र में मानी जाती थी। आगे चलकर स्वय सिद्धो तथा बौद्धों मे ही इस साधना का (नारीपरक) एक अत्यन्त कलुषित एव वासनापूर्ण रूप प्राप्त होता है स्वय सरहपा ने इसका घोर विरोध किया था क्योंकि नारी मुद्रा का जो प्रतीकार्थ था उसे भूलकर लोग विलास एव ऐन्द्रिय लोलुपता के चक्र में फस गए थे।[2] सत्य में महामुद्रा, प्रज्ञा और उपाय तथा शिव और शक्ति के मिलन का 'युगनद्ध, आनन्दपरक रूप था जो भविष्य में निरा स्त्री और पुरुष के सम्भोग का द्योतक शब्दमात्र रह गया।

सगुणभक्त कवियों ने मुद्रा' शब्द का उपयुक्त अर्थ ग्रहण नही किया है वरन् उनमे जो मुद्रा के तथा मुद्रा साधना से कुछ सम्बन्धित शब्दो (यथा योगिनी, हस्तिनी चित्रिनी आदि) के नवीन अर्थपरक प्रयोग प्राप्त होते हैं, वह एक प्रकार से किसी सीमा तक सन्तो के 'मुद्रा' शब्द से प्रभावित हैं। परन्तु इसके साथ साथ इन सगुण भक्त कविया ने अपनी प्रेमभक्ति साधना के अनुसार इस शब्द को अपनी भावभक्ति में एक विशिष्ट स्थान दिया है। सन्तों ने विशेषकर कबीर ने, जिन्होंने यदा कदा इस शब्द का प्रयोग किया है, उसका एकमात्र कारण उसके पतित अर्थ के

---

१ सिद्ध-साहित्य द्वारा डा० धर्मवीर भारती पृ० ३३६ (प्रयाग १६५५)।

२ उत्तरी भारत की सन्त परम्परा द्वारा श्री परशुराम चतुर्वेदी पृ० ४१ (प्रयाग—स० २००८)।

प्रति एक सचेतन प्रतिक्रिया थी जोकि उस समय भी अनेक इतर साधना प्रणालियों में प्रचलित थी। इसी प्रकार की स्थिति राम तथा कृष्ण काव्य में भी प्राप्त होती है क्योंकि इन कवियों ने सामान्यतः मुद्रा के प्रतीक रूप को कबीर आदि की भाँति एक प्रतिक्रियात्मक रूप में ही ग्रहण किया है और यहाँ तक कि सूरदास ने भ्रमरगीत प्रसङ्ग में मुद्रा के प्रति हीन भाव भी ग्रहण किया है, इस पर यथास्थान विचार किया जायगा। परन्तु यह सब होते हुए भी भक्त कवियों ने 'मुद्रा' को नवीन अर्थ तत्वों के स्पन्दन से भी स्पन्दित किया है जो उनकी समन्वयात्मक एवं उदार वृत्तियों की परिचायक है। महामुद्रा से सम्बन्धित कुछ शब्दों (यथायोगिनी आदि) की एक सबल परम्परा इन कवियों में प्राप्त होती है जिसके प्रकाश में यह कहा जा सकता है कि इन शब्दों के प्रतीकात्मक अर्थ में हमारे कवियों ने विस्तार ही किया है उन्हें समय तथा वातावरण के अनुकूल ढालने का सुन्दर प्रयत्न किया है।

'मुद्रा' शब्द की परम्परा हमें रामकाव्य में भी प्राप्त होती है जिसका वह रहस्यात्मक अर्थ नहीं है जो कुछ सीमा तक सन्तों में और पूर्ण रूप से सिद्धों में प्राप्त होता है। केशवदास ने मुद्रा शब्द को बाह्य आकृति अथवा कहीं नहीं पर एक विशिष्ट यौगिक साधना के वाचक शब्द रूप में सम्मुख रखा है। सिद्धों में महामुद्रा साधना का जो योगपरक स्वरूप था उसका यहाँ पर सर्वथा अभाव है और यह शब्द केवल मात्र एक पारिभाषिक अर्थ का द्योतक ही रह गया है केशव ने एक स्थान पर इस शब्द के अर्थ में एक नवीन तत्व का समावेश किया है जो विजय का 'सिक्का' जमाने की लोकोक्ति के अर्थ में ग्रहण किया गया है यथा–

> मुद्रित समुद्र सात मुद्रा निज मुद्रित कै
> आई दिसि दिसि जीति सेना रघुनाथ की।[1]

इस उदाहरण से यह स्पष्ट होता है कि भक्तिकाव्य में मुद्रा की नारीपरक साधना का अर्थ लोप हो गया था या हो रहा था परन्तु दूसरी ओर भक्त कवियों में 'मुद्रा' शब्द के रूढ़ि अर्थ के स्थान पर नवीन अर्थ तत्वों का भी समाहार प्राप्त होता है। हम कह सकते हैं कि भक्त कवियों ने मुद्रा के जटिल साधनात्मक रूप के स्थान पर उसके सहज एवं भक्तिपरक स्वरूप कीप्रतिष्ठा की है। परन्तु इसके साथ साथ मुद्रा का अर्थ बाह्य आकृति से ग्रहण करते हुये उसके तान्त्रिक रूप के प्रति

---

१ रामचन्द्रिका द्वितीय भाग स० लाला भगवानदीन ३५ प्रकाश पृ० २४० (प्रयाग १९५०)

एक निषेधात्मक प्रवृत्ति को भी प्रश्रय दिया है। यही कारण है कि सूर की गोपियों ने इस शब्द का प्रयोग निर्गुण तथा तान्त्रिक अनुष्ठानों की सापेक्षता में, अपने प्रेमपरक साधना की उच्चता दर्शाने के लिये भी किया है—

मुद्रा न्यास अंग आभूषन, पतिव्रत त न टरौ।
सूरदास यहै व्रत मेरो, हरि पल नहिं बिसरौ ॥[1]

यही नहीं, पर कहीं कहीं पर पूरी योग प्रणाली के अङ्गों की ओर भी संकेत प्राप्त होता है जैसे सीम, सेली, कथा केश, मुद्रा और भस्म आदि।[2] इन सभी प्रयोगों में मुद्रा का अर्थ एक विशिष्ट बाह्य आकृति का द्योतक है जिनके सामने गोपियों का 'पतिव्रत' कहीं अधिक महान है वे अपने प्रेम धर्म को 'मुद्रा साधना' की समकक्षता में बलिदान नहीं कर सकती हैं। कुछ इसी प्रकार की प्रवृत्ति कबीर में भी दर्शित होती है जब वे कहते हैं—

क्या सींगी मुद्रा चमकाव
क्या विभूति सब अंग लगावें।[3]

यहां पर भी मुद्रा के प्रति एक प्रत्यक्ष विद्रोह की भावना दृष्टिगत होती है, परन्तु गोपियों में यह विद्रोह इतना स्पष्ट नहीं है पर वह अप्रत्यक्ष रूप में केवल उदासीनता का परिचायक है।

इसके अतिरिक्त मुद्रा के प्रतीक रूप में, कृष्ण काव्य में एक रोचक अर्थ का समावेश प्राप्त होता है इस प्रयोग को भी हम एक प्रकार से निषेधात्मक अथवा हास्यास्पद कोटि में रख सकते हैं। सूर ने समस्त ऐसी विचारधाराओं को 'माटी की मुद्रा' की संज्ञा दे डाली जो सगुण अथवा भक्ति भावना की उपासना-पद्धति के विपरीत पड़ती थी दूसरे शब्दों में उस समय की प्रचलित तान्त्रिक यौगिक तथा अन्य साम्प्रदायिक अनुष्ठानों के प्रति एक अवहेलना का रूप इस शब्द के द्वारा व्यंजित होता है। पंक्ति इस प्रकार है जो उद्धव (मधुकर) के प्रति गोपियों का व्यंग्य भी कहा जा सकता है – तिन मोहन माटी के मुद्रा मधुकर हाथ पठायो।[4]

---

१ सूरसागर, पृ० १४५५/३५५१ तथा पृ० १३०४/४०४० (खण्ड दूसरा) (सभा) (काशी सं० २०१०)
२ वही पृ० १४६६/३६६४
३ कबीर ग्रन्थावली पृ० ३०७/३५५ सं० डा० श्यामसुन्दरदास (काशी १६२८)
४ सूरसागर सार सं० डा० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० १६२ (भ्रमर गीत)

यहाँ पर उद्धव का सकेतवाचक शब्द 'मधुकर' है जो निगु ण ब्रह्म का आख्याता है । ऐसे निगु ण रूह को 'मुद्रा' न कहकर उसे 'माटी की मुद्रा' कहने से यही ध्वनित होता है कि गोपियो को इस 'मुद्रा' के प्रति जो कृष्ण ने उद्धव के हाथो गोपियो के पास भिजवाइ है एक सचेतन प्रतिक्रिया का रूप प्राप्त होता है। इससे यह भी प्रतीत होता है कि किस प्रकार किसी प्रतीक विशेष के द्वारा किसी मत' के प्रति एक व्यग्यात्मक दृष्टिकोण अपनाया जा सकता है ?

महामुद्रा साधना के कुछ शब्दो की एक बलवती परम्परा भक्ति काव्य मे प्राप्त होती है जिनके स्वरूप मे सगुण कवियो ने यथोचित अपनी भावनानुसार नव अथ तत्वो का समावेश किया है । इन शब्दो म योगिनी पद्मनी चित्रनी और यक्षिणी प्रमुख हैं । इन सब म योगिनी शब्द का इतिहास प्रतीक की दृष्टि से, अत्यन्त रोचक कहा जा सकता है क्योकि प्रत्येक काल मे इसके प्रतीक रूप का अथ विस्तार ही होता गया है । रामकाव्य मे योगिनी का प्रयोग अनेक स्थाना पर प्राप्त होता है जिसके आधार पर उसका प्रतीकाथ भी स्पष्ट हो जाता है । सिद्धो म जोगिनी एक विशिष्ट साधना का नारीपरक रूप था जिस अथ का अभाव रामकाव्य म प्राप्त होता है । सन्तो में इस शब्द का कोई विशेष आग्रह नही है वह केवल एक शब्द मात्र का निर्वाह ही ज्ञात होता है । तुलसी ने शङ्कर की बारात के समय जोगिनियो का नाम लिया है जो शङ्कर के गण के समान प्रतीत होती हैं जो एक प्रकार से भयानक रूप की प्रतिरूप ही कही जा सकती हैं यथा—

'सग भूत प्रेत पिशाच जोगिन विकट मुख रजनीचरा ।'[1]

जोगिनी का इसी प्रकार का भयावह रूप रामायण युद्ध के समय तुलसीदास ने प्रयुक्त किया हैं—

जोगिन भरि भरि खप्पर सचहिं ।
भूत पिचाच बधू नभ नचहिं ॥[2]

अब प्रश्न है कि जोगिनी शब्द का जो प्राचीनतम सिद्ध साधना का रूप था उसका एक प्रकार से यह निम्न रूप रामकाव्य म किस प्रकार से ग्रहण हुआ ? तान्त्रिक साधना म मुद्रा युगनद्ध का भी रूप था जिसने प्रज्ञा और उपाय, शिव और

---

१ रामचरितमानस तुलसी बालकाण्ड, पृ० ११५ (गीताप्रेस गोरखपुर स० २०११)
२ वही लङ्काकाण्ड पृ० ८२४

शक्ति के रूप म गृहीत हुये थे और आगे चल कर महामुद्रा साधना के अन्य रूपो का रूपान्तर शिव क साथ भी हो जाना एक सम्भावना हो जाती है। यही कारण है कि जोगनी शब्द का उपयुक्त रूप राम काव्य में प्राप्त होता है।

इस रूप के अतिरिक्त रामकाव्य में जोगिनी की भावना एक समाधि रूप से भी सम्बन्धित प्राप्त होती है जसा कि केशवदास की यह पक्ति सकेत करती है—

> सिद्ध समाधि सज अजहूँ न कहूँ
>
> जग जोगिन देखत पाई ।[१]

यहा पर जोगिनी का योगपरक रूप भी ध्वनित होता है। परन्तु कबीर ने जोगिनी को इस अर्थ म प्रत्यक्ष रूप से ग्रहण नहीं किया है पर उसे एक प्रकार से शुद्ध चित का प्रतीक ही माना है जिसके जागृत होने पर काम, क्रोध का नाश हो जाता है यथा—

> काम क्रोध गोऊ भया पलीता
>
> तहाँ जोगिणी जागी ।[२]

कबीर का यह जोगिनी रूप, सूक्ष्म रूप से देखने पर, साधनापरक होते हुये भी कुछ सीमा तक हृदय अथवा चित्त से भी सम्बन्धित है जिसका एक सुन्दर भावात्मक विकास हम कृष्णकाव्य की भाव भूमि मे प्राप्त होता है। कम से कम योगिनी शब्द का प्रतीक रूप और उस शब्द का अर्थ विस्तार कृष्णकाव्य की मूल देन कही जा सकती है जिसने परम्परा से त्याज्य (सन्तो तथा सूफियो में ऐसी प्रवृत्ति यत्र कदा मिल जाती है जो सामान्य नहीं है) एक शब्द प्रतीक को अपनी प्रेमपरक साधना म एक नवीन अर्थ वाहक ही नही बनाया पर उसके द्वारा एक आन्तरिक मनोवृत्ति का मानवीकरण प्रस्तुत किया है। स्वय सूरदास न एक ओर और मीरा ने दूसरी ओर इस जोगिन शब्द को अपनी प्रेम भक्ति भावना मे इतना घुला मिला दिया है कि वह उनकी अपनी धरोहर सी हो गई है। इस शब्द की समस्त प्राचीन निषेधात्मक एव साधनात्मक जटिल रूपो को तिलाञ्जलि देकर मीरा ने प्रधान रूप से अपनी व्यक्तिगत साधना का अपनी विरह जनित अवस्था का एव अपनी चिरकालीन गोपी भावना का एक सुन्दर साकार रूप इस शब्द के द्वारा प्रस्तुत किया है। तभी

---

१ रामचन्द्रिका छठा प्रकाश पृ० ८६

२ कबीर ग्रन्थावली, स० डा० श्यामसुन्दरदास पृ० १११/७४

तो मीरा के निम्न शब्द जोगिन भावना के प्रतीक कहे जा सकते हैं जिसमें योगपरक शब्दों का प्रयोग तो अवश्य हुआ है पर उनकी पृष्ठभूमि में योग भावना का मुख्य रूप प्राप्त नहीं होता है यह तो स्वयं मीरा की व्यक्तिगत प्रेम साधना, आराधना एवं गोपी प्रेम की चरम आत्माभि-व्यक्ति कही जा सकती है—

माला मुन्द्रा मेखला रे बाला
खप्पर लूँगी हाथ।
जोगिन होइ जुग ढूँढसू रे
म्हारा रावलियारी साथ ॥[1]

यह सम्पूर्ण योगिनी का बाह्य भेष केवल एक आन्तरिक लालसा का प्रतीक है जो प्रिय से मिलने की इच्छा से प्रबल हो गई है उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति तो निम्न पंक्तियों में स्वयं फूट पड़ती है—

सावण आवण कह गया बाला
कर गया कौल अनेक।
गिणता गिणता घस गई रे
म्हारा आंगलयारी रेख ॥
पीव कारण पीली पड़ी बाला, जोबन बाली वेस।
दास मीरा राम भजि कै तन मन कीन्हो पेस।[2]

अत मीरा का जोगिन भेष केवल बाह्य मुद्रा मात्र नहीं है वह उनके हृदय एवं अन्त करण का दिव्य एवं भावपूर्ण भेष है जो ऊपर से दिखाई नहीं देता है पर राख के अन्दर छिपी चिनगारी की तरह अव्यक्त रहता है जो प्रिय के मधुर संस्पर्श से स्वमेव प्रज्वलित हो उठता है। सूर की गोपियाँ भी कृष्ण के विरह में जोगिन बनने की बात कहती हैं जो सन्दर्भानुसार एक अन्तर के भावपूर्ण प्रेम का प्रतीक ही है—

---

१ मीराबाई की पदावली स० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १३७ पद ११७ (प्रयाग २०१०)

२ मीरांबाई की पदावली, पृ० १३७/११७।

सिंगी मुद्रा कर खप्पर ल धरिहौं जोगिन भेष ।[1]

सूरदास ने जोगिन के जगने का भी एक स्थान पर सकेत किया है जिसमे तान्त्रिक प्रभाव का पुट है । लका काण्ड मे सिन्धुतट पर सुग्रीव, अगद आदि के आने पर जोगिनी का जागृत होना कहा गया है—

चले तब लखन सुग्रीव अगद हनू
जामवन्त नील नल सब आयौ ।
भूमि अति डगमगी जोगिनी सुन जगी
सहस फन सेस को सीस काँप्यो ।।[2]

यह योगिनी का रूप तुलसी-वर्णित योगिनी से साम्य रखता है जो भयानक रूप की ओर सकेत करता है ।

जोगिन शब्द के अतिरिक्त अपरोक्ष रूप से पद्मिनी का आदश सगुण काव्य म भी मान्य रहा है । रामकाव्य में सीता का और कृष्ण-काव्य मे राधा का पद्मिनी रूप अपनी चरम अभिव्यक्ति मे प्राप्त होता है । तुलसी ने सीता को कहीं पर भी पद्मिनी नहीं कहा है, पर सीता का माधुयपरक रूप पद्मिनी का ही है यहाँ तक कि केशवदास ने एक स्थान पर सीता को पद्मिनी प्रकार का भी कहा है ।[3] जो सीता की स्थिति है वही राधा की भी है कि सूर ने स्पष्ट रूप से राधा को पद्मिनी प्रकार चित्रित नही किया है । परन्तु फिर भी सीता व राधा के रूप वणन उनके एकनिष्ठ प्रेम उनके हाव भावों और रतिपरक क्रियाओं में समानता होने हुए भी दृष्टिकोण का विशेष अन्तर है । रामकाव्य का दृष्टिकोण मर्यादापूर्ण होने से वहाँ पर रति का रूप उस दृष्टि से उच्छृखल नही है जिस दृष्टि से कृष्णकाव्य में प्राप्त होता है । केशवदास मे रति का यह मर्यादित रूप कुछ सीमा तक उच्छृखल प्रतीत होता है पर वह अपवादस्वरूप ही है पूरे रामकाव्य की प्रवृत्ति न ी मानी जा सकती है । केशव ने तो एक अन्य स्थान पर पद्मिनी को चित्रिनी तथा पुत्रिनी' के साथ भी वर्णित किया है—

सब प्रेम की पुण्य की पद्मिनी सी ।
सब पुत्रिनी चित्रिनी पद्मिनी सी ।।[4]

---

१ सूरसागर सार स० डा धीरेन्द्र वर्मा, पृ० १३२
२ सूरसागर (सभा) नवम स्कन्ध पृ० २२७/५५१
३ रामचन्द्रिका भाग दो ३३ प्रकाश पृ० २१२ ।
४ वही २८ प्रकाश पृ० १०८ ।

अत सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि सूर की राधा मे पद्मिनी का सुन्दर विकास प्राप्त होता है जो हमें सूफीकवि जायसी की 'पद्मावति' में ही प्राप्त होता है। जायसी ने पद्मिनी नारी को 'पद्म' रङ्ग का कहा है जिसमें सोलह कलायें अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति को प्राप्त होती है वह न तो बहुत मोटी होती है और न बहुत दुबली।[१] नूरमोहम्मद ने तो अपनी नायिका इन्द्रावती को स्पष्ट रूप से पद्मिनी प्रकार का कहा है—

है पद्मिनि इन्द्रावति प्यारी ।
ताको बदन रूप फुलवारी ।।[२]

इस प्रकार केवल राम तथा कृष्णकाव्य मे ही नहीं पर अन्य काव्यो म भी पद्मिनी नारी की प्रधानता रही है जो कवि की भावभूमि के अनुसार रूपान्तरित होती रही है। सीता में वह मर्यादापूर्ण आदिशक्ति के रूप मे राधा में वह रतिपूर्ण आह्लादिनी शक्ति के रूप में, और पद्मावती मे सूफी साकी या माशूका के रूप मे— एक साथ विभिन्न भावभूमियों मे रूपान्तरित हो सकी है। पद्मिनी प्रकार का प्रतीक एक अत्यन्त विशाल सन्दर्भ को रूप मेरे विचार से अपने अन्दर समेटे हुये है।

महामुद्रा साधना के इन मुख्य शब्द प्रतीको के विवेचन के अतिरिक्त अन्य नारी प्रकारो में चित्रिनी तथा यक्षिणी नाम केवल रामकाव्य (केशव मे) प्राप्त होता है जिनमे से चित्रिनी की ओर ऊपर सकेत हो चुका है। केवल एक स्थान पर केशव ने यक्षिणी का सकेत किया है जो लका वर्णन के प्रसङ्ग में एक नारी प्रकार के रूप मे प्रयुक्त हुआ जो पक्षियों (तोता मना) को पढाती है—

कहू यक्षिणी पक्षिणी ल पढाव ।
नगी कन्यका पन्नगी को नचाव ।।[3]

जायसी ने यक्षिणी नारी की सिद्धि राघवचेतन जसे शतान को बतलायी है—

राघव पूजा जाखिनी दुइज देखावा साझि ।[४]

---

१ जायसी ग्रन्थावली स० रामचन्द्र शुक्ल स्त्री भेद खण्ड पृ० २३२ (प्रयाग १६३५)
२ इन्द्रावती स० डा० श्यामसुन्दरदास पृ० १६, सप्त खण्ड (काशी १६०६)
३ रामचन्द्रिका, तेरहवाँ प्रकाश, पृ० २२६ स० लाला भगवानदीन ।
४ जायसी ग्रन्थावली, स्त्री भेद खण्ड पृ० ४२० ।

परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो जायसी मे यक्षिणी एक तान्त्रिक हेय नारी प्रकार है जबकि केशव में वह एक हीन नारी रूप नही कही जा सकती है पर है वह सन्दर्भानुसार एक राक्षसी। अत यक्षिणी प्रकार के अर्थों मे कवियो ने अपनी मनोवृत्ति के अनुसार परिवतन किया है और वह भी बहुत ही सीमित। अत उनके स्वरूप पर योगिनी की तरह किसी प्रकार की धारणा का स्थिर करना नितान्त असम्भव है। समष्टि रूप से हम यही कह सकते हैं कि महामुद्रा साधना के शब्द प्रतीको मे मुद्रा के अतिरिक्त योगिनी तथा पद्मिनी प्रकारो को विशेष भावपरक नव अर्थों से समन्वित किया है और कवियो ने इन शब्दो को अपनी सगुण साकार भावना मे तिल-तन्दुल का रूप प्रदान कर दिया है।

रीतिकालीन कवि-परिपाटियों के प्रतीक

८

रीतिकालीन कवि-परिपाटियो के दो प्रमुख वर्ग हैं—एक वनस्पति ससार का और दूसरा जीवधारियो का। यहाँ प्रथम वर्ग पर ही विचार अपेक्षित है।

कवि प्रसिद्धियों का आदितम रूप हम आदिम जातियों के वृक्ष तथा पौधो के पूजा भाव अथवा पवित्र भावना मे प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त दूसरा तत्व 'वृक्ष-दोहद' की भावना का भी है। इन दोनो तत्वो का समाहार कवि प्रसिद्धियो के उद्गम तथा विकास मे प्राप्त होता है। दूसरी ओर केवल मात्र 'वृक्ष शब्द की भावना को ही इन परिपाटियो का स्रोत नही माना जा सकता है जैसा कि डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है।[1] इसके अतिरिक्त कवि-परिपाटियों का उद्गम तथा विकास पौराणिक तथा धार्मिक स्रोतो से भी हुआ है। इन सभी तत्वो का एक समन्वित रूप हम परिपाटियो मे दृष्टव्य होता है।

आदिम जातियो मे जड पदार्थों मे भी सचेतन क्रिया का आरोप प्राप्त होता है इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप वृक्ष तथा पौधो की भावना से सचेतन क्रिया का आरोप किया गया है। वसे तो ये प्रथायें तथा विचार अंधविश्वास ही थे, पर उनके अंतराल मे प्रतीक सृजन का स्रोत एक सत्य है। फ्रेजर[2] ने अपने अत्यंत खोजपूर्ण ग्रन्थ में इस ओर सकेत किया है। इन अंध विचारो ने ही जिज्ञासा को जन्म दिया और क्रमश जड प्रकृति में मानवीय स्पदन को देखा गया। आदिम जातियो ने वृक्षों तथा पौधो के उत्पन्न होने मे और मानवीय प्रजननक्रिया मे एक धूमिल समानता का

---

१ हिंदी साहित्य की भूमिका—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० २२३

२ गोल्डन बाउ द्वारा फ्रेजर—ए स्टेडी इन मजिक एण्ड रिलीजन पुस्तक २ भाग १ अध्याय २, ३

अनुभव किया। इसी विश्वास ने वक्ष को उवरता का प्रतीक बताया। यही कारण है अनेक परिपाटियो मे मिथुनपरक अर्थ की भी अवतारणा प्राप्त होती है। ऐसे कुछ उदाहरण हैं—श्रीफल, अशोक तथा प्रियगु। इस मिथुन भाव मे दोहद (पुष्पोद्गम) का भी अथ समाविष्ट है। यह एक यौनपरक (sexual) क्रिया है।

प्रश्न है कि दोहद की प्रवृत्ति का आरोपण नारी की क्रियाओ पर क्यो किया गया? इसका उत्तर हमे आदिम जातियो (आर्येतर) के विश्वासो मे मिलता है। अनेक आदिम जातियों मे प्रजनन क्रिया के प्रथम अनुक वृक्षा स नारी के प्रजनन अगो के स्पश करने की प्रथा का सकेत मिलता है। इससे यह समझा जाता था कि स्त्री की उवरा शक्ति का विकास इस विशिष्ट पौधे या वृक्ष मे स्पश के सम्भव है। फलत इस अधविश्वास के कारण वक्षो की उवरा शक्ति से स्त्री का उत्तरोत्तर सम्बध बढता गया, और अत म स्त्री के अङ्गो के स्पश से पौधा तथा वृक्षो का पुष्पित तथा विकसित होना, एक प्रकार से, कवि प्रसिद्धि म परिवर्तित हो गया।

वक्ष की इस उवरा शक्ति से पुराणो मे वर्णित यक्षों गधर्वों तथा अप्सराओं का भी अपरोक्ष सम्बध है। नागो तथा यक्षो का देवता 'वरुण' है। वरुण जल का अधिपति है। वरुण स सम्बधित यक्षि तथा यक्षणिया भी अपदेवता के रूप मे रामायण तथा महाभारत में भी माय रहें।[1] अतएव इनका सम्बध वृक्ष की उवरा शक्ति तथा जल से माना गया। अत यक्ष को उवरता का प्रतीक माना गया। दूसरी ओर गधव और अप्सरायें भी उवरता के प्रतीक हैं। इनका घनिष्ट सम्बध इद्र से रहा। गधव जल या सोम का रक्षक है[2]। ऋग्वेद में सोम को देवताओ के पिता का सृजनकर्ता भी कहा गया है। यह सोम वृक्ष पवता पर प्राप्त होता है जहाँ गधव वास करते हैं[3]। दूसरी ओर, गीता तथा उपनिषद् मे गधव को अमानवीय जीव भी कहा गया है। यहा तक कि कृष्ण ने अपने को गधर्वो मे चित्ररथ की सज्ञा प्रदान की है[4]। इस प्रकार गधव शब्द एक विस्तृत क्षेत्र की व्यञ्जना करता है। इसी प्रकार अप्सरायें भी जल से सम्बधित हैं जो उर्वरता की प्रतीक हैं।

---

१ हिंदी साहित्य की भूमिका—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० २२९

२ हिंदू धार्मिक कथाओं के भौतिक अर्थ—त्रिवेणी प्रसाद सिंह, पृ० ८८

३ इपिक्स मिथ्स एण्ड लीजेन्डस आफ इन्डिया—पा० थामस, पृ० ६

४ गीता विभूति योग श्लोक २६ पृ० ३६२ तथा वृहद् उपनिषद् अध्याय ३ पृ० ६६२।

निरुक्तिकार नु अप्सरा की व्याख्या अपसृ अर्थात् जल में 'सरण' करनेवाली नारी रूपिणी शक्ति से माना है। ऐसी स्त्रियों की कल्पना पाश्चात्य देशों में साइरन, मरमेड तथा निम्फ के रूपो में प्राप्त होती है[1]।

इन सब विवरणों से सिद्ध होता है कि यक्ष, गधर्व तथा अप्सरायें, किसी न किसी रूप मे, जल तथा वक्ष से सम्बधित हैं। वरुण भी जल का अधिपति है। जब वरुण का स्थान इन्द्र ने ग्रहण कर लिया, तो ये गधर्व और अप्सरायें वरुण के हाथ से च्युत होकर इन्द्र के दरबार के गायक हो गए। इसी से, यक्ष और यक्षिणी तथा गधर्व और अप्सरायें एकार्थवाची शब्द मान गए हैं।[2] यहा तक कि कामदेव और वरुण मूलत एक ही देवता हैं जो उर्वरता के प्रतीक होने के कारण वक्ष से सम्बधित हैं। जल का एक अन्य प्रतीक 'कमल' भी है जिसमे वरुण और उसकी स्त्री वास करते हैं। भारतीय साहित्य म कमल जल और जीवन का प्रतीक होने से अत्यत मगलमय माना है। कवि परिपाटियों मे कमल और कामदेव का प्रमुख स्थान है। इस प्रकार इस प्रसग मे जिन कल्पित रूपों की अवतारणा की गई है, उनका प्रयोग कवि प्रसिद्धियो के रूप में सस्कृत साहित्य मे लकर आधुनिक साहित्य तक मे होता रहा।

मैंने रीतिकालीन कवियो म बिहारी, मतिराम केशव और सेनापति के काव्य को ही विवेचन का आधार बनाया है। इन कवियो ने अनेक वृक्षा तथा फूलो को अपनी भावाभिव्यजना का प्रतीक बनाया है। ये प्रसिद्धिया उसी समय प्रतीक का काय करती हैं जब उनके द्वारा किसी भाव तथा विचार या वस्तु की व्यजना होती है और उस व्यजना मे उनका परम्परागत रूप भी स्पदित होता है।

चम्पक—चम्पक के प्रति यह प्रसिद्धि है कि वह रमणियो क मृदु हास से मुकलित एव पुष्पित हो जाता है। सत्य मे यह एक प्रसिद्धिमात्र है। मेघदूत में चम्पक के प्रति ऐसी ही प्रसिद्धि प्राप्त होती है[3]। रीतिकाल म चम्पक के प्रति ऐसी धारणा नहीं प्राप्त होती है परन्तु दूसरी ओर कवियो की भावाभिव्यजना मे वह अन्य सदर्भों की वाहक अवश्य बन गई है। एक स्थान पर बिहारी ने चम्पक को रूप सौंदय का व्यजक बनाया है —

---

१ हिंदू धार्मिक कथाओं के भौतिक अर्थ, पृ० ८८

२ हिंदी साहित्य की भूमिका—डा० द्विवेदी पृ० २३१

३ वही पृ० २४५

केसरि कै सरि क्यौं सकै, चंपक कितक अनूप।
गात रूप लखि जात दुरि जातरूप को रूप ॥[1]

यहा बिहारी ने चम्पक की प्रसिद्धि को व्यापक अर्थ देने का प्रयत्न किया है। दूसरी ओर मतिराम ने चम्पक और भौंर के द्वारा नीतिपरक अर्थ व्यंजना प्रस्तुत की है —

सुबरन, बरन सुबास जुत सरस दलनि सुकुमारि।
ऐसे चम्पक को तजै, तै ही भौंर गँवारि ॥[2]

यहाँ पर चम्पक को सद्गुणों का और भंवरे को उस व्यक्ति का प्रतीक बनाया गया है जो सद्गुणों से युक्त 'वस्तु' का त्याग कर देता है।

अशोक—अशोक एक अत्यंत रहस्यमय वृक्ष माना गया है। संस्कृत कवियों ने इसके गुच्छों तथा किसलयों का ही अधिक वर्णन किया है। ऐसी मान्यता है कि ये सुन्दरियों के वाम पदाघात से अथवा स्पर्श से खिल उठते हैं। राजशेखर तथा कालिदास ने इसी प्रसिद्धि को अपने काव्य मे स्थान दिया है।[3] मतिराम ने अशोक की इस प्रसिद्धि का अपने ढंग मे प्रयोग किया है—

तेरो सखी सुहागबर, जानत है सब लोक।
होत चरन के परस पिय, प्रफुलित सुमन अशोक ॥[4]

यहा पर अशोक की प्रसिद्धि का सहारा लेते हुए कवि ने उसे नायिका के हृदगत भावों का व्यंजक बनाया है।

मालती—इसका वर्णन कविगण वसंत तथा शरद् ऋतु मे नही करते हैं। रात्रि के आगमन पर ये प्रफुल्लित होते हैं। मतिराम ने इसका वर्णन किया है और उसे कामदेव (अतनु) की फुलवारी का एक वृक्ष माना है—

दिसि दिसि विगसित मालती निसि नियराति निहारि।
ऐसे अतनु अराम मे, भ्रम भ्रम भौंर निवारि ॥[5]

---

१ बिहारी-सतसई, सं० लक्ष्मीनिधि चतुर्वेदी पृ० ४२।१०२
२ मतिराम ग्रन्थावली, सतसई पृ० १७६।७४
३ हिंदी साहित्य की भूमिका—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० २३५
४ मतिराम ग्रन्थावली सतसई, पृ० २३७।६५२
५ वही पृ० १८६।१७७

मालती का विकसित होना नायिका के विकसित होने का प्रतीक है जब वह प्रिय के मिलन मोद के वशीभूत हो जाती है। उस समय मानो मालती का आरोपण संयुक्तावस्था की नायिका का भावात्मक रूप प्रस्तुत करता है। इस प्रकार मतिराम ने मालती की प्रसिद्धि को मिलनेच्छा का प्रतीक बनाया है —

सकल कला कमनीय पिय मिलन मोद अधिकात।
बिलसति मालति मुकुल निसि निसि, मुख मृदु मुसक्यात ।।[1]

मदार—रीतिकालीन कवियो में मदार के प्रति प्राप्त प्रसिद्धि का प्रयोग नहीं मिलता है। रीतिकाल मे जो भी प्रयोग प्राप्त होता है वह अपनी विशिष्टता लिये हुए है। मूलत उसका प्रयोग किसी भाव-विशेष की अभिव्यंजना के लिये हुआ है। अत हम कह सकते हैं कि रीतिकवियो ने परम्परागत परिपाटी का भी उल्लंघन किया है और साथ ही, उस वस्तु का अन्य विस्तार भी किया है। मदार के बारे मे यह पूर्ण सत्य है। मदार रमणियो के नम्र वाक्यों से कुसुमित होता है और इन्द्र के नंदनकानन का एक पुष्प है।[2] इस प्रसिद्धि मे कल्पना का ही अधिक आश्रय है। परंतु रीति कवियों ने उसमें यथार्थ दृष्टि का भी सुन्दर काव्यात्मक समावेश किया है। बिहारी का निम्न दोहा मेरे कथन की पुष्टि करता है जहाँ पर उसने आक (मदार) को मानवती नायिका का प्रतीक बनाया है जिसके पास उसका प्रिय (भवरा) भी प्रेम के लिये नही आता है, यथा—

खरी पातरी कान की, कौन बहाऊ बानि।
आक कली न रली करे अली अली जिय जानि ।।[3]

आक के प्रति यह सत्य धारणा है कि वह ग्रीष्म में भी फूला रहता है। बिहारी ने एक अन्य स्थान पर इस तथ्य का सहारा लेकर मदार को एक ऐसे निराश्रित एव त्याज्य व्यक्ति का प्रतीक बनाया है जो ससार मे किसी का भी दयापात्र नहीं है। फिर भी वह विपरीत दशाओं म अस्तित्व के लिये द्वन्द करता है —

जाके एकाएक हू जग ब्यौसाइ न कोय।
सो निदाघ फूले फरै आक डहडहौ होय ।।[4]

---

१ वही पृ० २१७।५४२
२ हिंदी साहित्य की भूमिका पृ० २५०
३ बिहारी सतसई पृ० २४।६८
४ वही, पृ० १११।४६६

चदन—चदन वृक्ष का महत्व काव्य मे व्यापक रहा है। इसके प्रति जो भी प्रसिद्धि काव्य में प्रचलित हुई, वह कवि-कल्पना मे अनेक भावभूमिया की वाहक बन सकी। रीतिकाल में हम इस प्रवृत्ति के स्पष्ट दर्शन होते हैं। कवि समयानुसार चदन वृक्ष मे फल फूल होते हैं पर सत्य इसके सर्वथा विपरीत है। अत यह प्रसिद्धि केवलमात्र एक कल्पना है। चदन के प्रति दूसरी प्रसिद्धि यह है कि यह केवल मलय पर्वत पर प्राप्त होता है और सर्पों से वेष्टित रहता है। जहा तक सर्प का प्रश्न है, यह सत्य है, पर इसका मलय पर्वत पर ही प्राप्त होना, एक कल्पना है। अत चदन के प्रति यह कहा जा सकता है कि इसकी प्रसिद्धि मे सत्य और कल्पना का सुदर समन्वय है। केशव ने चन्दन की दोनों प्रसिद्धिया का वर्णन किया है—

केशवदास प्रकाश बहु चन्दन के फल फूल।

अथवा

वर्णत चदन मलय ही हिमगिरि ही भुजपात।[1]

इसके अतिरिक्त केशव ने चदन को शृगार का एक अग भी माना है जिसे स्त्रिया प्रयुक्त करती हैं।[2] मतिराम ने मुख के सौंदर्य की सादृश्यता चदन से इस प्रकार प्रस्तुत की है—

उजियारी मुख इदु की परी कुचनि उर आनि।
कहा निहारति मुगधि तिय पुनि पुनि चदन जानि।।[3]

कमल—कवि समय है कि पद्म के सात प्रकारों में 'कुमुद' केवल जलाशयो में ही प्राप्त होते हैं। पौराणिक क्षेत्र में विष्णु के लिये श्वेत पद्म तथा शक्ति के लिये रक्तपद्म का वर्णन मिलता है।[4] इसी प्रकार पद्म की तरह नीलोत्पल का नदी तथा समुद्र मे वर्णन नहीं होना चाहिए। नील कमल का वैष्णव साहित्य मे भी सकेत प्राप्त होता है। असल मे यह कही भारत में होता है या नही इसमें विद्वानो को

---

१ कविप्रिया द्वारा केशवदास स० लाला भगवानदीन पृ० ३६ तथा ३९
२ कविप्रिया, केशव पृ० ३८
३ मतिराम ग्रन्थावली पृ० १८८।१७१
४ कल्याण सख्या २, फरवरी १९५० वर्ष २४ मे हिंदू सस्कृति और प्रतीक द्वारा प्राणकिशोर स्वामी पृ० ९४०

सदेह है। नीलोत्पल दिन मे नही खिलता है, परतु पद्म दिन म ही खिलते हैं और उनवे मुकुल हरे होते हैं।[1]

कमल या पद्म (सरोज-कज) का सकेत रीतिकाव्य म यदा कदा मिल जाता है, परतु प्रसिद्धि के तौर पर अत्यत न्यून। मेरे देखन म कमल की प्रसिद्धि का निषेधात्मक रूप ही मिलता है। सेनापति ने सरोज का सरोवर मे प्रफुल्लित होने का वणन निषेध रूप म इस प्रकार किया है।

दामिनी ज्यौं भानु ऐसे जात है चमकि ज्यौ न
फूलन हू पावत सरोज सरसीन के ।[2]

इसी प्रकार, नीलोत्पल की यह प्रसिद्धि कि वह रात्रि म ही खिलता है और दिन होने के साथ कुम्हलाने लगता है—इसका भावात्मक चित्रण मतिराम ने इस प्रकार किया है—

दुहूँ अटारनि में सखी लखी अपूरब बात।
उत इदु मुरझात है इत कज कुँम्हलात ॥[3]

इन प्रसिद्धियो के अतिरिक्त कमल को अन्य सदर्भो का भी प्रतीक बनाया गया है। वह प्रेम तथा प्रणय का भी प्रतीक है। कहीं वह नन के प्रफुल्लित होने तथा मुख की शोभा का प्रतीक माना गया है। केशव ने कमल को चमत्कारिक विधि से दो सदर्भो का वाहक बनाया है। उन्होने कमल के द्वारा वियोगिनी नायिका के नीर भरे नेत्रो का भाव कमल को उल्टा करके व्यजित किया है। दूसरी ओर, उसी कमल को कली बना कर लौटाने का अथ यही है कि जब रात्रि म कमल सकुचित हो जायेंगे। तब मैं तुमसे मिलूगा। सत्य मे यहाँ भाव सवेदना तथा प्रेम के मिलन सुख का सुन्दर प्रतीकात्मक निर्देशन प्राप्त होता है। पक्तियाँ इस प्रकार हैं जब गोप सभा म बठे कृष्ण के पास एक गोपी आती है और--

तिनको उलटो करि आनि दियो, केहूँ नीर नयो भरिक।
कहि काहे ते नेकु निहारि मनोहर फेरि दियो कलिका करिक ॥[4]

---

१ हिंदी साहित्य की भूमिका पृ० २४७
२ कवित्त रत्नाकर स० उमाशकर शुक्ल, पृष्ठ ६७।४७
३ मतिराम ग्रथावली पृ० १६३।२१७
४ कविप्रिया केशव, पृ० २००।४६

उपर्युक्त कवि-परिपाटियो के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन प्रतीकों का कलात्मक रूप ही कवियो को मान्य है। इन प्रतीकों म भाव तथा रूप (Form) दोनो का समन्वय प्राप्त होता है पर 'रूप' का आग्रह अधिक है। सत्य म रीति काव्य म रूढि परम्पराओ के पालन के साथ उन परम्पराओ म नवीन उद्भावनायें भी यदा कदा मिल जाती है। अत हम कह सकते हैं कि परिपाटीगत प्रतीक, भावो तथा सवेदनाओ की दृष्टि से, कही अधिक हृदयग्राही एव स्वाभाविक हैं। इन प्रतीकों के द्वारा हमारी प्राचीन परम्परा का एक कलात्मक उन्मेष ही प्राप्त होता है।

सेनापति के श्लेषपरक प्रतीक

६

अलकारो में प्रतीक की स्थिति सम्भव है। वस्तुत अलकारों का प्रतीकात्मक महत्व शब्द की लक्षणा तथा व्यजना शक्तियो पर निर्भर करता है। शब्द एव उसके अर्थ विस्तार पर ही अलकार की आधारशिला प्रतिष्ठित है। अनेक ऐसे काव्यालकार हैं जिनमे शब्द प्रतीको के अर्थ विस्तार पर रस का उद्रेक होता है। अलकारो मे यमक तथा श्लेष मे प्रतीक की स्थिति शब्द परक ही है।

श्लेष मे शब्द के अनेक अर्थ ध्वनित होते हैं परन्तु शब्द का प्रयोग एक बार ही होता है। शब्द का यह अर्थ वविध्य उस शब्द की विशिष्ट अर्थाभिव्यक्ति के कारण होता है। यहीं पर शब्द प्रतीक की स्थिति स्पष्ट होने लगती है और अन्त मे वह स्थिर हो जाती है। इस प्रकार, अर्थ समष्टि के अभिव्यक्तिकरण मे प्रतीक किसी शब्द विशेष का आश्रय ग्रहण करता है। यह शब्द उस सप्तखण्ड के समान है, जिसके अर्थ की अनेक रश्मियां इष्ट दिशाओं मे गतिशील होती हैं। अत, शब्द अनेकार्थी होकर विस्तृत सदर्भ (reference) को किसी विशिष्ट भाव या विचार म केन्द्रीभूत कर देते हैं। श्लेषगत प्रतीकों का औचित्य इसी तथ्य पर आश्रित है कि वहा पर केवल 'एक शब्द' सादृश्य के आधार पर दो सदर्भों मे स्थिर होकर प्रतीकात्मक व्यजना प्रस्तुत करता है। उदाहरणस्वरूप 'घनश्याम' शब्द को लीजिए। यह शब्द प्रतीकात्मक रूप उसी समय धारण करेगा जब वह मेघ के साथ साथ किसी अन्य भाव व्यक्ति या वस्तु की गतिशीलता मे स्थिर हो जाय। रीति काल के कवि सेनापति मे ऐसे प्रतीको का सुन्दर समाहार प्राप्त होता है।

सेनापति के श्लेष-वर्णन मे प्रतीकों की स्थिति दो बातो पर आश्रित है। प्रथम यह कि कवि श्लेष के द्वारा किसी भाव या विचार की उद्भावना किस सीमा तक कर सका है? दूसरे यह उद्भावना दो वस्तुओ की तुलना समानता अथवा असमानता पर आश्रित है। कुछ ऐसे भी प्रसग हैं जिनमे दो विपरीत वस्तुओं में अन्योन्याश्रित समानता दिखायी गयी है। यहाँ प्रतीक की दशा उसी समय मान्य

होगी, जब इन दोनों पक्षों में एक दूसरे की धारणा या भाव की समान व्यजना होगी। कुछ ऐसे भी उदाहरण हैं जिनमें एक 'शब्द' की संधि पर दो अर्थ-पक्षों की अवतारणा होती है और पक्ष दूसरे में स्थिर होकर प्रतीक के भाव को स्पष्ट करता है। इन प्रतीकों का अर्थ, शब्द विश्लेषण तथा अर्थ विविधता की सम्मिलित प्रक्रिया के द्वारा स्पष्ट होता है।

प्रथम वर्ग के अन्तर्गत कवि दो विपरीत वस्तुओं में समानता दिखला कर 'प्रतीक' की अवतारणा करता है। सामान्यतः यहाँ पर भी शब्द के विविध अर्थ कभी-कभी शब्द विश्लेषण के द्वारा व्यंजित होते हैं। सेनापति तथा बिहारी में इनका सुन्दर प्रयोग प्राप्त होता है। सेनापति ने एक स्थान पर गोपियों के प्रेम और दूसरी ओर कुब्जा के प्रेम में जो सदर्भानुसार दो छोर ही कहे जा सकते हैं समानता की अवतारणा कर एक के भाव को दूसरे का प्रतिरूप बना दिया है। इसमें जहाँ एक ओर काव्य चातुर्य के दर्शन होते हैं वहीं पर गोपियों के आंतरिक विक्षोभ की व्यंजना भी होती है।

> कुबिजा उर लगायी हमहू उर लगायी
>
> पी रहे दुहूँ के, तन मन वारि दीने हैं।
>
> वे तो एक रति जोग हम एक रति जोग,
>
> सूल करि उनके हमारे सूल कीने हैं॥
>
> कुबरी यौं कलिपहै हम इहाँ कल पहैं
>
> सेनापति स्याम समुझ यौ परबीने हैं।
>
> हम-व समान ऊधौ! कहौ कौन कारन ते
>
> उन सुख मान हम दुख मानि लीने हैं॥[1]

अर्थ स्पष्टीकरण के लिए दोनों पक्षों में जो श्लेष शब्द समान प्रयुक्त हुए हैं, उनकी तालिका निम्न है—

शब्द		गोपी पक्ष	कुब्जा पक्ष
उर लगायी	(अर्थ-विविधता)	प्रेम किया	प्रेम किया
पी रहे दुहू	(,)	प्रेमी रहे	प्रेमी रहे
रति जोग	(, ,)	योग	शृंगार भोग
सूल करि	(,)	मन में शूल (पीड़ा)	गले में माला पहनाना
कल पहैं	(शब्द-विश्लेषण)	सुख पायेगी (कल पहै)	दुःखी होंगी (कलप है)

---

1 कवित्त रत्नाकर स० प० उमाशंकर शुक्ल पहली तरंग, पृ० २१।६६

इसी प्रकार, एक अन्य कविता में सूम तथा दानी अंग विपरीत व्यक्तियों में समानता प्रदर्शित की गयी है।[1] इस प्रकार हम कह सकते हैं कि विपरीत धारणाओं तथा भावों का यह शब्द परक नाम ही अलंकरण प्रतीकों की कसौटी है। जिस बात को सेनापति अति विस्तार से कहते हैं, उसी बात को बिहारी सूक्ति रूप में कहते हैं। सेनापति का काव्य माधुर्य शब्द परक अर्थ समष्टि है तो बिहारी का काव्य-सौन्दर्य शब्द और ध्वनि से शासित अर्थ समष्टि का द्योतक है। एक उदाहरण है—

जोग जुगति सिखये सबै मनो महामुनि मैन।
चाहत पिय अद्वैतता कानन सेवत नैन॥[2]

इस दोहे में योगी और योगी (नायिका) के विपरीत भावों की व्यंजना प्रस्तुत की गयी है। यहाँ पर चार श्लेषगत शब्द हैं जोग (योग), पिय कानन तथा अद्वैतता। योग (जोग) शब्द का अर्थ योगी पक्ष में योग है तो नायिका पक्ष में संयोग सुख है। पिय का अर्थ एक पक्ष में ईश्वर है तो दूसरे पक्ष में प्रियतम है। अद्वैतता का अर्थ योगी पक्ष में परम तत्व से एकात्म भाव की अनुभूति है तो नायिका पक्ष में प्रिय से मिलन का प्रतीक है। कानन का एक पक्ष में अर्थ (नायिका) कानों तक है तो दूसरे पक्ष में उसका अर्थ वन है।

इन विपरीत योजनाओं में अनेक ऐसी भी योजनाएं हैं जो धार्मिक देवों से सम्बन्धित हैं। इन देवों में अभिन्नता का समावेश अवश्य किया गया है, पर सत्य में जहाँ तक उनकी धारणा का प्रश्न है, वे विभिन्न दृष्टिकोणों को स्पष्ट करते हैं। उदाहरणस्वरूप सेनापति ने एक स्थान पर राम की भावना का आरोप कृष्ण की भावना पर किया है।[3] इस प्रकार राम के द्वारा कृष्ण के प्रतीक रूप का स्पष्टीकरण होता है। प्रतीकात्मक अर्थ की दृष्टि से पौराणिक व्यक्तियों के रूप का कोई न कोई प्रतीकार्थ अवश्य होता है। सेनापति के ऐसे उदाहरणों को हम इसी दृष्टि से प्रतीक के रूप में ग्रहण कर सकते हैं।

इन विपरीत योजनाओं के अतिरिक्त दूसरा वर्ग ऐसे उदाहरणों का है जो एक 'शब्द' की संधि के द्वारा दो पक्षों की अर्थ समष्टि की व्यंजना प्रस्तुत करते हैं। उदाहरणस्वरूप सेनापति का निम्न छन्द लीजिए जिसमें उमाधव व शब्द की संधि (विश्लेषण) करने पर दो पौराणिक व्यक्तियों शिव और विष्णु की समानता प्राप्त होती है—

---

१ वही पहली तरंग, पृ० १६।४०
२ बिहारी सतसई सं० गिरिजादत्त शुक्ल गिरीश, पृ० २०।५४
३ कवित रत्नाकर पहली तरंग पृ० २२।६६

सदा नन्दी जाको आसाकर हैं विराजमान
नीको घनसार हू त बरन है तन को।
सन सुख राख सुधा दुति जाके सेखर हैं,
जाकै गौरी को रति जो मथन मदन को।।
जो है सब भूतन को अंतर निवासी रमै
धर उर भोगी भेष धरत नगन को।
जानि बिन कहै जानि सेनापति कहै मानि,
बहुधा उमाधव को भेद छाडि मन को।।[1]

श्लेष शब्द		शिव पक्ष	विष्णु पक्ष
सदा नन्दी	(शब्द विश्लेषण)	नदी के साथ	सदा आनन्दमय (सदानदी)
आसाकर	(„ „)	हाथ	वरदहस्त
घन सार	(अर्थ विविधता)	कपूर सा सुन्दर वर्ण	कपूर सा वर्ण
सन सुख	(शब्द विश्लेषण)	योग मे समाधिस्थ	क्षीरसागर मे शयन का सुख (सयन सुख)
सुधा दुति	(अर्थ विविधता)	जिनके मस्तक पर चद्रमा	सुधावर्ण द्युतिवाला
सेखर		आसमान है (सेखर)	शेषनाग
गौरी की रति	(शब्द विश्लेषण)	पार्वती का शृगार (काम)	जिसकी उज्ज्वल कीर्ति है जो मदो को नष्ट करता है (गौरी की रति मदन मथन)
सब भूतन	(अर्थ विविधता)	समस्त भूतो मे	सब गणो के
रमै	(„ „)	व्याप्त है	रमा या लक्ष्मी
धरत नगन को	(„ „)	जो नग्न रहता है	जो पर्वत को धारण करता है (गोवर्धन)

---

१ कवित्त रत्नाकर, पहली तरंग, पृ० १२।३८

सेनापति के काव्य चातुर्य में इस प्रकार के श्लेषगत प्रतीकों में घनश्याम शब्द भी विशेष महत्व रखता है जो एक साथ मेघ और कृष्ण पक्ष का समान अर्थबोधक शब्द है। कवि मेघ की भावना का आरोपण कृष्ण के प्रतीकार्थ में करता है जब तक कि उस वस्तु (मेघ) का क्रमिक अर्थ विस्तार कृष्ण की भावना को पूर्णरूपेण अपने में समेट नहीं लेता है। सेनापति ने गोपियों के व्याज के द्वारा, मेघ की सादृश्यता कृष्ण से इस प्रकार प्रतिष्ठित कर दी है—

सेनापति जीवन अधार निरधार तुम,
जहाँ को ढरत तहाँ टूटत अरसते।
उन उन गरजि गरजि आये घनश्याम
ह्वै के बरसाऊ एक बार तो बरसते ।।[1]

अथवा

सारंग धुनि सुनावै घुन रस बरसावै
मोर मन हरषावै अति अभिराम हैं।
× × ×
सप संग लीन सनमुख तेरे बरसाऊ
आयो घनश्याम सखी मानो घनस्याम हैं ।।[2]

यहाँ पर श्लेषपरक शब्द सारंग मोर सप तथा घनस्याम है। सारंग का अर्थ मेघ पक्ष में घन गर्जन है और कृष्ण पक्ष में वेणु ध्वनि है। मोर का अर्थ क्रमशः 'मयूर और मेरा है तथा सप का अर्थ क्रमशः 'विद्युत और ऐश्वर्य है। इस प्रकार शब्दों की अर्थ विविधता मेघ को कृष्ण का प्रतीक बना देती है बिहारी ने भी, एक स्थान पर श्लेषपरक शब्दों के विविध अर्थों के द्वारा मेघ को कृष्ण का प्रतीक रूप प्रदान किया है—

बाल बेलि सूखी सुखद इहि रूखी रुख घाम।
फेरि डहडही कीजिए सुरस सींचि घनस्याम ।।[3]

---

१ वही, पृ० २१
२ कवित्त रत्नाकर पहली तरंग पृ० ४।१२
३ बिहारी सतसई पृ० ६४।२१६ तथा इसी भाव का एक दोहा मतिराम ग्रन्थावली पृ० २४०।६७८ में भी प्राप्त होता है।

यहाँ पर बाल बेलि, डहडही और सुरस श्लेषपरक शब्द हैं जो क्रमश मेघ पक्ष मे नवविकसित बेल' हरित या मुकलित और जल के अर्थों को और कृष्ण पक्ष मे गोपी (नायिका) प्रफुल्लित' एव प्रेम रूप रस के अर्थों को एक साथ व्यजनाकर मेघ की भावना को कृष्ण के रूप म स्थिर कर देते हैं।

इसके अतिरिक्त सेनापति ने कृष्ण के प्रतीकत्व को एक अत्यन्त अद्भुत वस्तु 'कमान' के द्वारा व्यजित किया है। कवि ने कमान के काय-यापारो को कृष्ण की निष्ठुरता एव उदासीनता का एक सुन्दर प्रतिरूप ही बना डाला है। इस साहश्य भावना को कुछ शब्द अपनी व्यजना मे गतिशील होकर दो अर्थों म व्यजित करते हैं। 'ज्यारी शब्द कमान के पक्ष म 'जारी' (प्रत्यचा) का और कृष्ण पक्ष मे 'साहस का अथ देता है। दूसरा शब्द गोसे' है जो कृष्ण पक्ष मे 'एकांत' का और कमान पक्ष मे धनुष की दोनो नोका का वाचक है। तीसरा शब्द तीर' है जिसका अथ क्रमश बाण तथा सयोग है। इसी प्रकार एक पूरी पक्ति 'पहिली नवनि लही जाति कौन भाँति हैं' दोनों पक्षो के अर्थों को स्पष्ट करती है। कृष्ण पक्ष म इस पक्ति का व्यग्याथ यह हुआ कि गोपिया कृष्ण के द्वारा जो सम्मान एव प्रेम पहले प्राप्त करती थी, उसे वे अब कसे प्राप्त करें जब कृष्ण निष्ठुर हो गये हैं। दूसरी ओर कमान पक्ष म इसका अथ यह हुआ कि कमान को पहले सा झुकाव कसे प्राप्त हो ?[1]

श्लेष प्रतीकों में साहश्य भावना का दूसरा रूप उन उदाहरणो से प्राप्त होता है, जिनम किसी विशिष्ट सवेदना अथवा भाव (सौंदय श्री) को मुखर रूप दिया जाता है। मूलत किसी नारी का सौंदय वणन हमारे भावा को सुखानुभूति की ओर उन्मुख करता है। कदाचित् इसी भाव को व्यक्त करने के लिए सेनापति ने नवग्रहो के वणन के द्वारा किसी नायिका के सौंदय की सुन्दर व्यजना प्रस्तुत की है। निम्न छन्द म रेखाकित शब्द नवग्रहो का सकेत करते हैं जिनका बारा पक्ष में अथ कोष्ठक मे दिया गया है—

> अरुन (सूय लाल) अधर सोहै सकल वदन चद (मुख),
> मगल (शुभ) दरस बुध (बुद्धिमत्ता) बुद्धि क विसाल हैं।
> सेनापति जासौ जिव (युवा) जन सब जीवक है (बृहस्पति, जीवनी शक्ति)
> (नारी)
> कवि (शुक्रग्रह पडित नारीपक्ष मे) अति मदगति (शनि धीमी चाल)
> चलति रसाल हैं।।

---

१ कवित्त रत्नाकर पहली तरग पृ० ६ १०।२६

तम चिकुर (काले रंगवाला राहु जिसका अर्थ काले केशों से ध्वनित होता है।)

केतु काम (काम ध्वजा की विजयनिधि)

जगत जगमगत जाके जोति जाल हैं।

अवर लसत भुगवति सुत रासिन को,

मेरे जान बार नवग्रहन की माल है॥[१]

इसी प्रकार कवि ने कहीं पर अमरावती या इन्द्रपुरी के वर्णन द्वारा 'भावती प्रियतमा' के रूप सौंदर्य की व्यंजना की है[2] तो कहीं पद्मिनी नारी के मुख की सुंदरता को व्यक्त करने के लिए तामरस या कमल का प्रयोग किया है।[3]

इन रूप चित्रों के अतिरिक्त रीतिकाव्य की भावभूमि में प्रेम तथा विरह का महत्वपूर्ण स्थान है। इस विरहजनित अवस्था का वर्णन करने के लिए कवि ऐसे प्रतीकों का चयन करता है, जो विरहिणी के भावों तथा संवेदनाओं की तीव्रतम व्यंजना कर सकें। ऐसे प्रतीकों का चयन *भाव साम्य* तथा *क्रिया साम्य* के आधार पर होता है। जीवधारियों का जगत् एक ऐसा ही माध्यम है, जो विरह को तीव्रतम रूप में अभिव्यक्त करता है। सेनापति ने विरहावस्था की तीव्र व्यंजना करने के लिए 'हरिनी' को व्रज विरहिणी का प्रतीक बनाया है। कवि कहता है—

हरिन है संग बैठी जोबन जुगारति है।

तिन ही कौ मन-वच क्रम उमहति है।

जाको मन अनुराग बस ह्वं क रह्यौ मधु,

बडे बडे लोचननि चंचल चहति है॥

सेनापति बार बार सिंगार तहाँ

मदन महीप घात सुख न लहति है।

कुंज कुंज छाह तन तपनि बरावति है,

हरिनी ज्यौं व्रज की विरहिनी रहति है॥[४]

---

१ कवित्त रत्नाकर पहली तरंग पृ० १०।३१

२ वही, पहली तरंग पृ० ७।२२

३ वही पृ० ७।२१

४ कवित्त रत्नाकर पृ० २७।८४

		हरिनी पक्ष	विरहिणी पक्ष
हरिन	(शब्द विश्लेषण)	हरिन	हरि या कृष्ण नही है (हरि न हैं)
तिन	(ग्रथ विविधता)	घास	उन्ही को (कृष्ण)
मधु	(,, ,)	पानी	प्रेम भाव
लोचननि चचल	(शब्द विश्लेषण)	चचल नेत्र	ग्रचचल या निश्चल नेत्र (लोचन निचचल)
मदन	(ग्रथ विविधता)	गर्विष्ट	काम

इन श्लेषगत प्रतीको के ग्रध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि सेनापति ने इन चामत्कारिक प्रतीको के द्वारा मानवीय भाव जगत् मानवीय जीवन एव धार्मिक जगत् के रूपो को व्यजनात्मक शली म रखन का प्रयत्न किया है। मूलत कवि ने किसी भाव या वस्तु की व्यजना के लिए जिन प्रतीको का प्रयोग किया है उनम से कुछ नवीन हैं ग्रौर कुछ परम्परा के हैं। इससे यह भी स्वय साक्ष्य है कि रीतिकाव्य के समस्त प्रतीक रूढि परम्परा के ही नही हैं, उनमे से ग्रनेक स्वय कवियो के ग्रपने हैं। यही प्रवत्ति हमे रीतिकाव्य के ग्रन्योक्तिगत प्रतीका मे भी द्रष्टव्य है। समस्त प्रतीकात्मक उद्भावनाएँ स्वाभाविकता की ग्रपेक्षा कलात्मकता की ग्रार ग्रधिक उन्मुख प्राप्त होती हैं ग्रौर यह तथ्य ग्रलकारगत प्रतीको के बारे मे पूर्ण सत्य है। यही कारण है कि इन प्रतीको म विचारोद्भावना का वह रूप नही मिलता है जो कबीर, सूर तथा जायसी मे प्राप्त होता है। परन्तु फिर भी यह कहा जा सकता है कि श्लेषगत प्रतीको म कलात्मकता के साथ-साथ कहीं-कही पर भाव जगत् का सुन्दर रूप व्यजित हाता है।

आधुनिक रचना-प्रक्रिया और विसंगति | १०

आधुनिक मूल्यों तथा प्रतिमानों को लेकर अनेक वाद विवाद होते रहे हैं और उनके संदर्भ में नाना विसंगतियों के महत्व को स्वीकारा गया है। आधुनिक रचना प्रक्रिया में विसंगतियों का जो स्वरूप तथा उनका विवादमक प्रयोग दिखाई देता है, उसने जहाँ शिल्पगत प्रभाव डाला है, वहीं रचनाकार के भावात्मक एवं बौद्धिक चेतना को एक नवीन दिशा प्रदान की है। इस विसंगति के पीछे कौन सी मनोवृत्तियाँ तथा परिस्थितियाँ, कार्य करती रही हैं इसका विश्लेषण अपेक्षित है। इसके लिये मैं केवल एक क्षेत्र वैज्ञानिक प्रगति को ही अपने विवेचन का आधार बनाकर विश्लेषण प्रस्तुत करूंगा।

विसंगति के विवेचन से पूर्व यह आवश्यक है कि हम इस पर विचार करें कि विसंगति है क्या? वैसे तो इसे परिभाषित करना कुछ कठिन है क्योंकि शब्द की अर्थ प्रतीति से सभी परिचित हैं। फिर भी रचना प्रक्रिया के संदर्भ में विसंगति का अर्थ वह यथार्थमूलक मनोवृत्ति है जो बाहरी परिस्थितियों से उद्भूत होकर उन्हीं परिस्थितियों एवं परिवेशों के प्रति एक विचित्र आक्रोश है जो ऊपर से तारतम्यहीन लगता है, पर अंदर से उसमें एक संवेदनात्मक संगति होती है। शायद इसी अर्थ में हम विसंगति को एक तात्विक रूप में देख सकते हैं। इसी कारण विसंगति का महत्व आधुनिक काव्यात्मक भाषा में एक आंतरिक क्षमता के रूप में देखा जा सकता है जो भाषा के स्तर पर अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है जिसका विवेचन यथास्थान होगा। विसंगति के अंतर्गत हम अनेक तत्वों को शामिल कर सकते हैं, और हो सकता है कि ये तत्व अनेकों को पर्यायवाची लगें। उदाहरणस्वरूप, विडंबना

निरथकता, अथहीनता ऐसे ही तत्व हैं जो अपनी भूल अथवत्ता म विसगति के वे समान ही नगन हैं। कदाचित इसी से क्लीथ बुक्स ने अपनी पुस्तक वेलराटमन' मे विसगति एव विडम्बना का काव्य भाषा की आतरिक क्षमता क रूप मे स्वीकारा है और विसगति की आधुनिक स्थितियो एव मन स्थितियों के घात प्रतिघात का एक अभियक्तिकरण माना है।

इस तथ्य के प्रकाश म हम वज्ञानिक प्रगति की बात को उठाते हैं। इसके दो पक्ष हैं। एक पक्ष उसके तकनीकी प्रगति से सम्बधित है और दूसरा पक्ष उसके अनुसधानो म उद्भूत चितन व दशन का वह क्षेत्र है जो मानव, विश्व तथा प्रकृति के प्रति अनेक प्रस्थापनाए प्रस्तुत करता है। यही पक्ष विज्ञान के दशन की ओर सकेत करता है जिसकी ओर आज का विज्ञान क्रमश गतिशील है। हमारी अनेक परम्परागत मूल्यो की धरणा म इस प्रगति ने परिवतन भी किया है तो दूसरी ओर अनेक मूल्या को, नकारा भी है। अत विज्ञान की दृष्टि स कोइ भी मूल्य निरपेक्ष नही होता है वह सापक्षिक होता है। प्रसिद्ध वज्ञानिक चितक श्री जे सूलीवन ने मूल्या के विश्लेषण क अतगत इस तथ्य को सामने रखा है कि भौतिकी (Physics) का सत्य ससार हमारे इद्रियानुभव से काफी परे है और उसके अनेक मूल्य अस्थायी है और सम्पेक्षिक। (The Limitations of Science) P 162

इस दृष्टि से 'विसगति' को हम निरपेक्ष रूप मे ग्रहण नही कर सकते हैं क्योंकि उसका सवत्र परिस्थितियो और मन स्थितिया की सम्पेक्षता मे है। विज्ञान की प्रगति न तकनीकी सुविधाओ का वरदान मानव को १८ वी शताब्दी से देना आरभ किया। इस प्रगति ने यारूप की समस्त समाजिक धार्मिक एव राजनतिक परिस्थितियो मे केवल क्राति ही उपस्थिति नही की पर उसके साथ साथ उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद की शोषण प्रक्रिया को जन्म दिया। इग्लड की औद्योगिक क्राति ने मशीनी सभ्यता को जन्म दिया और इन मशीनो ने मानव को शापित एव कुठित भी काफी किया। प्रथम तथा द्वितीय महायुद्ध की विभीषिकाओ ने मानव के अतरमन को आदोलित किया और इसका फल यह हुआ कि क्रमश मानव को निरथकता एव विसगतियो का शिकार बनना पडा और वह अपने को अकेला, अजनबी समझने लगा। इस अजनबीपन तथा अकेलेपन के बोध के पीछे उसकी आतरिक विक्षुब्धता का ही प्रदशन है जो द्वितीय महायुद्ध के बाद रचाना प्रक्रिया मे अत्यत उभर कर आया। रचनाकार न निरथकता एव विसगतियो के एक घुटनपूर्ण वातावरण को प्रस्तुत किया। काफ्का, सात्र तथा इलियट के साहित्य को इस दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट होता है कि उनम प्रयुक्त विसगतियो तनाव, मृत्युसत्रास तथा घुटन विघटन की समस्त प्रक्रियाय समसामयिक परिस्थितिया का सापेक्षता मे देखी

जा सकती हैं। टी० एस० इलियट की वेस्टलैंड' रचना आदि मानवीय उपपत्तियो
पर आधुनिक तनाव तथा व्यग्यपूर्ण विसगतिया (राजनीतिक सामाजिक) को
सामने रखती है। इसी प्रकार कामू के एक नाटक 'क्लीगुला' मे क्लीगुला को एक
एतिहासिक व्यक्ति के रूप मे चित्रित किया है जो अपने सदेश का दूसरो तक पहुचाने
के लिये सबसे अच्छा माग यह समझता है कि वह बिना कारण दूसरा को करल
करवाता चले। बात तो यह अत्यत विसगतिपूर्ण है, पर यह उस मनोवत्ति का
सूचक है जो तानाशाही मनोवत्ति पर एक तीखा व्यग्य है। अत आज के रचनाकार
के लिये विसगतियो का महत्व माय है क्योकि अस्तित्व तथा परिस्थिति की तनावपूर्ण
स्थिति मे व्यक्ति विसगतियों का शिकार होता ही है। परतु इन विसगतिया को
अथवत्ता प्रदान करना ही आज के रचनाकार का दायित्व है और इस दृष्टि से हमारे
आज के अनेक कवि तथा नाटककार प्रयत्नशील हैं। मैं यह मानता हू कि विसगति
की दृष्टि से, आज की कविता तथा नाटक अधिक प्रेरित हो रहे है।
इसका कारण है उसका आतरिक रूप से रचनाकार की रचना प्रक्रिया से
सीधा सम्बधित होना क्योकि आज के जीवन की विघटनपूर्ण स्थितियो का चित्रण
करना और वह भी ईमानदारी से आज के रचनाकार की पहली तथा अतिम शत
है। वसे तो ईमानदारी सदव ही कतिकार की शत रही है पर आज के
वविध्यपूर्ण उहापोह म इमानदारी का महत्व एक अपना विशिष्ट स्थान रखता है।
आज की विसगतियो को ईमानदारी से ग्रहण करना और उसके सही बिब को मानस
पटल पर उतार देना कि वह ऊपर की विसगति रचना प्रक्रिया म एक आतरिक
सगठन को व्यक्त करदे यही पर विसगति को अथवत्ता प्राप्त हो सकती है नही तो
विसगति केवलमात्र एक चमत्कार एव विदग्धता का रूप ही रह जायगी। कबीर की
उलटवासिया म भी विसगति प्राप्त हाती है पर वहाँ पर विसगति का रूप कहीं
अधिक क्लिष्ट और किसी मत अथवा सप्रदाय की भावभूमि को ही सामान्यत प्रकट
करता है पर आज की कविता म विसगति का जो भी स्वरूप मिलता है, वह उसक
परिवेश से कही अधिक सम्बन्धित है और यह किसी मत अथव पूर्वाग्रह के आधार
पर विकसित नहा हुआ है।

मैं अपने उपयुक्त मत को एक दो उदाहरणो से स्पष्ट करना चाहता हूँ। आज
की जीवन स्थितियों की विडबनापूर्ण दशाओं के पीछे एक एसी मन स्थिति बन
जाती है जो व्यथता एव अथहीनता का बोध देती है। यह अथहीनता जब किसी
अथवत्ता को व्यक्त (Significance) करती है, तब विसगति का अथबोध ए
महत्व को भी व्यजना करता है। आतरिक शून्य की अथहीनता का एक आधुनि
रूप निम्न पक्तिया म दर्शित है—

तुम्हें मालूम है—
दोना को वराबर बराबर
बाट सके,
जिससे धाय धाय, हाय हाय
वद हो जाए
और नाखून से भी नहीं
खुर और पूँछ से इतिहास लिखा जाय !

(श्रीराम वर्मा)

उपर्युक्त कविता को पढन से एक स्थिति का बोध हाना है जो हमे एक निष्क्रिय अथवत्ता के प्रति सचेत करती है। अतिम दो पक्तियों मे खुर और पूँछ के प्रयोग के द्वारा रचनाकार इतिहास की व्यग्यात्मक परिस्थिति को सदम की एक गरिमा से मडित करता है। परतु एक बात अवश्य है कि इस कविता मे अथबोध पहली कविता की अपेक्षा कही अधिक दुसह है क्योकि इस कविता के बिंब कवि की रचना प्रक्रिया मे उस हद तक घुलमिल नही गए हैं जो उसके अथ को गतिशील महत्व की गरिमा दे सकें। विसगति के रूप निर्माण की एक विशेषता यह भी मानी जा सकती है कि वह बिंबों एव प्रतीकों को किस सीमा तक एक अथवत्ता प्रदान कर सके है।

मेरे हाथ में कुछ नही है
फिर भी मेरी मुट्ठी
वद है।
यह बात किसी से न कहो—
क्योंकि—
हो न हो यह स्थिति तुम्हारी भी हो—
इसीलिय चुप रहो !—

(चद्रकात कुसनूरकर)

कवि की रचना प्रक्रिया के सदभ म विसगति का अथबोध उसकी एकात विसगति म न होकर, उसके द्वारा की गई एक व्यग्यात्मक एव तथ्यपरक वायड (Void) या शून्य का द्योतक है जो व्यक्ति और व्यक्ति के बीच मे घर करता

जा रहा है। एक दूसरी कविता श्रीराम वर्मा की है जिसमे कि केवल एक स्थिति का बोध होता है—

> दूध की तरह खून—
> गिरे तो गिरे
> मगर दुहेगे जरूर
> ताकि साँप और साँप काटे

अत विसगति के रूप निर्माण म एक अ य तत्व का भी विशेष हाथ है जो उपचेतनवाद से सम्बधित हैं। फ्रायडवाद के प्रभाव ने अनेक विसगतियो को जन्म दिया जो कहने को तो मानसिक थी पर वे मूलत परिस्थितिजन्य थी। इनकी अभिव्यक्ति इस तरीके से की गई कि व्यक्ति का यौन पक्ष बुरी तरह से रचनाकारा पर हावी हो गया ! सेक्स अपने म कोइ हेय मनोवत्ति नही हैं उसका जीवन प्रक्रिया म एक विशिष्ट स्थान है पर देखना यह है कि उसने किस सीमा तक रचना प्रक्रिया को अथवत्ता (Significance) प्रदान की है। मटो कृष्णचद्र कमलेश्वर आदि रचनाकारा मे सेक्स की मनोवृत्ति का जो विच्छखलित रूप प्राप्त होता है वह सामान्यत एक अद्भुत कुठा का ही प्रदशन है (मैं कहूँ कि फशन सा हो गया है तो अत्युक्ति न होगी) परन्तु इससे उत्पन्न विसगति बोध का मूल्य उसकी अथवत्ता म निहित माना जा सकता है। सत्य तो यह है कि जहा पर भी कोई भी विसगति अनगल प्रलाप की कोटि म आई कि उसकी अथवत्ता समाप्त हो जाती है। सेक्स की अनुभूति मे मात्रा का महत्व उतना नहीं है जितना गुण का। उसकी अनुभूति म प्रसार की अपेक्षा घनत्व अपेक्षित है ! यह बात ध्यान म रखनी है। कि व्यक्तित्व के विघटन म सेक्स उसी समय सहायक होता है जब उसकी अथवत्ता को ओझल कर दिया जाता है। आज का रचनाकार एक ऐसे नुकील बिन्दु पर खडा हुआ है जो उसे बार बार चुभन देता है पर पर वह एक रचनाकार की हैसियत से उसे झेलता हुआ विसगतियो के हुजूम स जूझता हुआ अथ की खोज म लगा हुआ है।

मनोविज्ञान से सम्बधित एक अ य क्षेत्र व्यक्तिवादिता का है जिसे 'अह' की सज्ञा दी जा सकती है। उपचेतन अवचेतन, तथा अस्तित्ववादी-दशन ने महायुद्ध के बाद व्यक्ति के आतरिक अह को उसके उस छिपे हुए चित्र को जो गहरी गुफाओ मे समाया हुआ है, उस उजागर किया है। इस चित्र ने विसगतियो कुठाओ की अभिव्यक्ति के नाम पर एक ऐस आदमी का रूप सामने आ रहा है। जो मूलत घिनौना कमजोर उपर स मुलम्मा चढाये हुये तथा विघटित व्यक्तित्व का एक चलता फिरता पुतला ही मालूम होता है। आज के

रचनाकार ने व्यक्ति की इस विसंगति को अर्थ देने की प्रक्रिया में एक कदम उठाया है जो अपने में एक उपलब्धि का रूप है। यदि विश्लेषणात्मक दृष्टि से देखा जाय तो व्यक्तिवाद के पीछे केवल मनोविज्ञान ही नहीं पर नीत्से हीगेल आदि दार्शनिकों की विचार प्रणाली का हाथ रहा है और अंत में अस्तित्ववादी चिंतन ने इस मनोवृत्ति को एक शक्तिवान् जीवन दर्शन के रूप में सामने रखा है। भारतीय वातावरण में यह एक विडम्बना रही है कि सांस्कृतिक प्रक्रिया में यहाँ का अशिक्षित वर्ग किसान मजदूर बाबू, अभागा तथा अजनबी रहा है क्योंकि वह रचना प्रक्रिया की केवल एक बाहरी तस्वीर है। मैं समझता हूं कि यदि इस वर्ग के लोग रचनाकार के दायित्व को निभाने में सफल होते (?) तो वे अपने परिवेश की विसंगतियों को कहीं अच्छे तौर पर अर्थवत्ता प्रदान कर सकते।

विसंगति का प्रभाव शिल्प तथा भाषा दोनों पर पड़ता है। मैं शिल्प और भाषा को एक ही तत्व के दो रूप मानता हूँ उन्हें रचनाप्रक्रिया में अलग नहीं किया जा सकता है जिस प्रकार भाव और कला को अलग नहीं किया जा सकता है। भाषा और शिल्प की दृष्टि से विसंगतियों का रचना प्रक्रिया में पिघल कर एक नये रूप में आना कुछ उसी प्रकार की प्रक्रिया है जो किसी कल्पना फैंटेसी आदि के पिघलन पर एक अभिव्यक्ति का रूप में आना। यही कारण है कि आज की भाषा में संवेदना तथा परिवेश दोनों की मिली हुई प्रक्रिया नजर आती है। बिखराव असातत्यता शब्दों का नवीन संदर्भ में प्रयोग और यहाँ तक उन शब्दों का शाब्दिक रूपों में इस प्रकार घुलमिल जाना कि वे हमारी आधुनिक संवेदना घुटन तथा विसंगति को एक अर्थमय तनाव की दशा में रूपांतरित कर सकें। नाटक तथा कविता में यह मनोवृत्ति अत्यंत व्यापक है। नाट्य शिल्प में रंगमंचीय विसंगतियाँ तथा वस्तु जनक विसंगतियों का बहुत कुछ दारोमदार आधुनिक शाब्दिक संवेदना से जुड़ा हुआ है। यह शाब्दिक संवेदना शिल्प के स्तर पर एक बिखराव को ऊपरी सतह पर प्रकट करती है पर यह बिखराव एक आंतरिक संगठन को भी व्यक्त करता है जो कथ्य की व्यंजना को परिवेश के अनुकूल व्यक्त करता है। उदाहरण स्वरूप निम्न कविता में ऐसा ही एक शिल्पगत बिखराव प्राप्त होता है जो आज की विसंगति को शिल्प के बिखराव में व्यक्त करती है। लक्ष्मीकांत वर्मा की लंबी कविता "एक एक्सट्रा' इसी विसंगति का एक सुन्दर उदाहरण है जिसमें आधुनिक जीवन की विसंगतिपूर्ण स्थितियों की व्यंजना प्राप्त होती है। एक शब्द चित्र लें—

एक दोस्त का घर है
जिस पर लिखा हुआ है शुभ लाभ स्वागतम्
मुझे आधी रात गए
उसी घर में घुस कर अपने दोस्त के पैसे चुराने हैं

चुराने हैं और चोरी करके निकलने के पहले

अपने दोस्त को इस तरह जगाना है

कि मैं जो कि चोर हू

और दोस्त जोकि दोस्त है

दोनो मिलकर दोस्त की तलाश करें

और अत तक चोर को न पकड पायें।

ऐसे अनेक उदाहरण अनेक कवियो से लिये जा सकते हैं जो विसगतिपूर्ण स्थितियां तथा तनावों को शिल्प के स्तर पर भी व्यजित करते हैं। शिल्प के इस रूप के कारण आज के अनेक कवियो म असगतियो का एक हुजूम सा प्राप्त होता है और हम कभी कभी उन पर अन्याय भी कर बैठते हैं क्योकि हमारी सवेदना का इस नवीन आयाम को पूर्णतया हृदयगम नहीं कर सकी है। उदाहरण स्वरूप मुक्ति बोध की कविताओ म एक ऐसी ही सवेदना तथा शब्द का बिबात्मक रूप प्राप्त होता है। मुक्तिबोध ने एक स्थान पर कहा है— मुझे लगता है कि मन एक रहस्यमय लोक है। उसमे अँधेरा है। अँधेरे म सीढियाँ हैं। सीढिया गीली हैं। सबसे निचली सीढी पानी मे डूबी हुई है। वहाँ अथाह काला जल है। उस अथाह जल स स्वय को ही डर लगता है। इस अथाह काले जल म कोई बैठा है। वह शायद मैं ही हू।" (एक साहित्यिक की डायरी पृ० ४) इस उदाहरण को देने का मकसद यह है कि आज की रचना प्रक्रिया म इन बिंबो को समझे बगर आज का नव सवेदना का समझना मुश्किल है। मन का यह अथाह जल जिससे स्वय को ही भय लगता है वह असल म आज अपने सही रूप म अपनी विसगतियो के साथ ठीक उसी प्रकार का चित्र प्रस्तुत कर रहा है जिसे हम अश्लील, बेहूदा तथा निरर्थक कह कर उससे भागते हैं पर जितना ही हम उसमे भागते हैं वह भयावह काला जल हमारे सारे व्यक्तित्व को जसे खोखला करता जाता है। आज का रचनाकार, व्यक्ति के इसी चित्र को उसके सामने रखता जा रहा है और इस चित्र के प्रस्तुतीकरण म वह एसी भाषा, शिल्प का प्रयोग करता है जो इस विसगति को जन शब्दो के द्वारा शिल्पगत बिखराव के द्वारा उसे सर्वाधित एव सप्रेषित करना चाहता है। आज का रचनाकार इस बिखराव के द्वारा उसम एक आतरिक तारतम्यता स्थापित करना चाहता है क्योंकि सृजनात्मकता के दायरे म बिखराव और सयोजन एक साथ चलते हैं और इसी समानान्तर गतिशीलता म सृजन प्रक्रिया अपनी राह को प्रशस्त करती है।

अत विसगतियो का अपना महत्व है जो आज के परिवेश की एक दशा है जिससे व्यक्ति घिरा हुआ है। रचनाकार का इन दशाओं से सापेक्ष सम्बध है परतु इस सम्बध को ही एकमात्र ध्येय मान कर, उसके वात्याचक्र मे फँसे रहना स्वय ही एक विसगति हो जाना है। प्रसिद्ध वनानिक चितक फ्रेड हायल ने सृष्टि रचना और व्यक्ति के सापक्ष सम्बध को एक भ्रमात्मक व्यामोह एव निरथक्ता-बोध की हद तक स्वीकार किया है। इस भ्रम एव निरथकता को वह अयवत्ता देना चाहता है और ईश्वर की धारणा उसी का अतिम पयवसान है जो एक भ्रम है, पर आवश्यक भी ह (द० नेचर आफ यूनीवस पृ० १००) क्या यह एक विसगति नहीं है पर इस विसगति को भी अथ प्रदान करने की चेष्टा है। आज क साहित्य म विसगतियो का मूल्य इसी अथवत्ता मे निहित हैं अयथा वह क्या है इस आप समझ ही सकते हैं।

प्रतिक्रियायें | ११

[क] +एकलव्य : एक विश्लेषणात्मक अनुशीलन

आधुनिक महाकाव्य और 'एकलव्य'

'एकलव्य' महाकाव्य हिन्दी महाकाव्यों की परंपरा में एक नई कड़ी के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। दूसरी ओर उसके प्रति यह कहना कि वह प्राचीन परम्पराओं को ही लेकर चला है उसके प्रति पूर्ण न्याय नहीं कर सकता है। यह अवश्य है कि कवि ने प्राचीन परम्पराओं की जान बूझ कर अवहेलना नहीं की है पर उन्हें आधुनिक काव्य शिल्प में यथोचित स्थान अवश्य देने का प्रयत्न किया है। उदाहरणस्वरूप मंगलाचरण देवी देवताओं की प्रशस्तियाँ कथानक व संगठन में संधियाँ अर्थप्रकृतियों अवस्थाओं की योजना (?) आदि ऐसे संकेत मिलते हैं जो आलोचकों को बरबस प्राचीन मान्यताओं के प्रकाश में विवेचन के लिए कटिबद्ध करते हैं। श्री राधकृष्ण श्रीवास्तव[1] तथा श्री प्रेमनाथ त्रिपाठी[2] ने अपने ग्रंथों में एकलव्य के कथानक को इसी दृष्टि से विवेचित किया है। मैं उस दृष्टि को अपने विवेचन में अपनाने में असमर्थ रहा हूँ क्योंकि 'एकलव्य' के कलात्मक सौंदर्य को उस दृष्टि से देखने पर उसे सीमित क्यों बनाई परम्पराओं में बाँधना ही होगा जो उनके प्रति अन्याय ही कहा जा सकता है। मैं शिल्प विधान के अन्तर्गत, इस विषय को आगे के पृष्ठों में लूँगा।

आधुनिक महाकाव्यों की परम्परा का सूत्रपात बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण से माना जा सकता है। जब गुप्त जी तथा हरिऔध ने अनेक महाकाव्यों का

+ एकलव्य—ले० डा रामकुमार वर्मा का महाकाव्य

१ एकलव्य—एक अध्ययन पृ० ३६ ४५

२ डा० रामकुमार वर्मा का काव्य प्रेमनाथ त्रिपाठी पृ० १६६ १७३

प्रणयन प्रारम किया। इस समय के महाकाव्यो का सबसे प्रमुख स्वर पौराणिक कथाग्रो का नवीन सदभ में प्रवतीण करना था। इसी कारण, इस काल के महाकाव्यो म वणनात्मकता तथा घटनाम्रो का क्रिया प्रतिक्रियात्मक रूप प्राप्त होता है। 'प्रिय प्रवास', जयद्रथबध', साकेत' ग्रादि काव्यों मे घटना तथा वणन का मुखरित रूप मिलता है, परन्तु गुप्त जी के 'साकेत जय भारत' तथा यशोधरा काव्यो में हम नाटकीय गीति-शली का भी यदा कदा सकेत मिलता है जो वणनात्मकता तथा घटनात्मकता का ग्रभाव प्रतीत होता है जो 'कामायनी' [कुरुक्षेत्र' तथा 'उवशी' के शिल्प विधान मे द्रष्टव्य है। इन महाकाव्यो की शैली कही ग्रधिक सकेतात्मक एव व्यजनापूण हो गई है। कुरुक्षेत्र' में कथानक नहीं के बराबर है ग्रौर उसमे विचारों का जो ग्रालोडन प्राप्त होता है वह ग्राधुनिक भावबोध को मुखर करता है। इसी परम्परा मे 'एकलव्य' महाकाव्य एक नई कडी के रूप म ग्राता ह जिसमें ग्राधुनिक युग बोध के साथ पौराणिक ग्राख्यान के एक धूमिल पात्र का सहारा लेकर कवि ने नाटकीयता एव सकेतात्मकता के साथ जो वचारिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत की है वह सत्य मे एकलव्य की महानता का परिचायक है। इस महाकाव्य का वचारिक वभव कथानक के घटनाचक्र मे समाहित न होकर, पात्रों तथा स्थितियो के सघष म सन्निहित है। इस मत का पूण विवेचन यथास्थान किया जाएगा।

प्रारम्भ के महाकाव्यो से उद्देश्य ग्रथवा ग्रादश का स्वर इतना प्रमुख हो जाता था कि कहीं कहीं पर वह ऊपर से थोपा हुग्रा सा प्रतीत होता था। गुप्त जी तथा हरिग्रौध जी म यह प्रवत्ति ग्रत्यन्त स्पष्ट है। यहा तक कि कामायनी' म भी इस प्रवत्ति को कवि बचा नही सका है यह दूसरी बात है कि कवि ने उसे ग्रधिक व्यजनात्मक रूप से रखने का प्रयत्न किया है। इस दृष्टि से एकलव्य' का स्थान ग्रपनी विशिष्टता को लिये हुए है। यहाँ पर उद्देश्य तो है पर वह उद्देश्य ऊपर से थोपा हुग्रा सा नहीं ज्ञात होता है। मेरा यह ग्रर्थ नही है कि कोई भी महान कृति उद्देश्यहीन होती है, पर इतना स्वयसिद्ध है कि उसका उद्देश्य इस प्रकार से व्यजित होना चाहिए कि वह पात्रों तथा स्थितियो के विकास में इस प्रकार से घुला मिला हो कि पाठक एक को दूसरे से ग्रलग करके देखने में ग्रसमथ हो। 'एकलव्य के उद्देश्य का विकास कवि ने इसी शिल्प मे प्रस्तुत किया है। एकलव्य तथा ग्राचाय द्रोण की मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाग्रों मे उद्देश्य जसे स्वय मुखर सा हो जाता है, कवि को इसकी ग्रावश्यकता कही पर भी नही पडी है कि वह स्वय ग्रपने विचारो को पाठको के ऊपर थोपने का प्रयत्न करें।

ग्राधुनिक महाकाव्यो को प्रारम्भिक दशा म नायक के महत्व तथा महानता को किसी न किसी रूप मे स्वीकार किया जाता रहा है। साकेत 'यशोधरा

'कृष्णायन' 'कामायनी' उर्वशी आदि महाकाव्यों में नायक अथवा नायिका के कुल शील का अवश्य ध्यान रहता था परन्तु एकलव्य की स्थिति इस परम्परा से नितान्त भिन्न है। यहां पर नायक' निषाद या अनार्य संस्कृति का प्रतीक है जिसे कवि ने एक ऐसे व्यक्तित्व का रूप दिया है जिसकी महानता, उसके कुल शील' का परिचायक है जो इस तथ्य को प्रकट करता है कि व्यक्ति जन्म से नहीं पर कार्य से महान् होता है। जहा तक आदर्शों का प्रश्न है उसे डा० वर्मा ने 'एकलव्य के चरित्र द्वारा व्यंजित किया है और उस आ श निर्माण म आधुनिक भाव बोध का भी यथोचित सहारा लिया है जो स्वाभाविक भी है और अनिवार्य भी। प्रसिद्ध इतिहास दार्शनिक टायनबी का मत है कि हम सम्पूर्ण इतिहास को अपने समय की दृष्टि से ही आंकते है और उसका मूल्यांकन करते हैं[1], यही बात कवि के लिए भी सत्य है जो किसी ऐतिहासिक अथवा पौराणिक आख्यान को ग्रहण कर अपने समय की दृष्टि' को उसमे अन्तर्हित भी करता है और साथ ही साथ उस आख्यान को एक नवीन परिप्रेक्ष्य में अवतीर्ण करने का प्रयत्न करता है। इस दृष्टि से 'एकलव्य' महाकाव्य आधुनिक दृष्टि को और आधुनिक विचार धारा को सुन्दर रूप में समक्ष रखता है। इस विचार धारा का क्या रूप है और उसकी अभिव्यक्ति किस धरातल पर हुई है, इसका सम्यक विवेचन यथास्थान किया जाएगा।

शिल्प-संगठन—शिल्प संगठन महाकाव्य का प्राण है क्योंकि इसी के आधार पर कवि अपने विषय को सम्प्रेषित करता है। अनेक सौन्दर्य शास्त्रियों ने शिल्प को विषय की अपेक्षा अधिक महत्व दिया है, परन्तु महाकाव्य की दृष्टि से दोनों का समान महत्व है क्योंकि विषय उसी समय महत्व ग्रहण करता है (जहां तक सृजनात्मक साहित्य का प्रश्न है) जब वह शिल्प' के सौंदर्य का निखार प्राप्त करता है। 'एकलव्य' के शिल्प मे ऐसा ही सौन्दर्य प्राप्त होता है क्योंकि उसका विषय जहाँ दो संस्कृतियों के संघर्ष को लेकर चलता है, वहीं एकलव्य एवं आचार्य द्रोण के मानसिक संघर्ष को भी अपना विषय बनाता है। वैसे तो विषय का विस्तार सीमित है पर कवि ने उस सीमा के अन्दर ही शिल्प के सौन्दर्य को इस प्रकार उभारा है कि महाकाव्य म शिल्प और विषय दोनों एकरस हो गए हैं।

(१) कथावस्तु की संगठना—कथावस्तु म विषय के प्रतिपादन को कलात्मक रूप में रखा जाता है। एकलव्य की 'वस्तु महाभारत की एकलव्य कथा से ली गई है जिसकी ओर स्वयं कवि ने भूमिका के अन्तर्गत संकेत किया है। इस कथा को जहाँ तक वस्तु नियोजना का प्रश्न है कवि ने अतीव कलात्मकता से उसे कल्पना तथा मनोविज्ञान के आधार पर संगठित किया है। इस दृष्टि से जिन

---

१ ए स्टडी इन हिस्ट्री टायनबी पृ० २६

आलोचकों ने एकलव्य की कथावस्तु को प्राचीन नाट्य सिद्धात पर आधारित माना है और उसी के प्रकाश म 'वस्तु' का विवेचन प्रस्तुत किया है उनके दृष्टिकोण को मैं गलत नहीं मानता हूँ, पर वह एक पिटी पिटाई परम्परा मात्र है जो यांत्रिक (Mechanical) सी हो गई है। मैं तो समझता हू कि आलोचक अपनी भी एक दृष्टि रखता है वह केवल परम्परा से चालित नहीं होता है। जसा कि कहा गया है कि 'एकलव्य की वस्तु' नियोजना मे तीन तत्व प्रमुख हैं—

(क) कल्पना

(ख) मनोविज्ञान

(ग) राजनीति

और इन्हीं तीन तत्वो के सम्मिलित प्रकाश मे, कवि ने दो सस्कृतियो के सघष तथा मनोविज्ञान को राजनीति के फलक पर उभारने का प्रयत्न किया है।

महाकाव्य म कल्पना का प्रयोग अत्यत दुलभ काय है। कल्पना कदापि दूर की उडान नहीं है वह सजनात्मक प्रक्रिया म मूलत सृजनात्मक (Creative) है। उसके द्वारा रचनाकार कथातन्तुओं को एक तकमय रूप मे अनुस्यूत करता है। जिस प्रकार एक वज्ञानिक कल्पना का प्रयोग तक तथा सयम से करता है उसी प्रकार एक कृतिकार की कल्पना जब सयम को तिलाजलि दे देती है तो वह कल्पना सृजनात्मक नही हो सकेगी। आज के वज्ञानिक युग में कल्पना इसी रूप मे माय हो सकती है। वह अब केवल उपमानो तथा असयमित तथा भावनाओं का रगस्थल नही है। एकलव्य मे कल्पना कही अधिक सृजनात्मक हो सकी है क्योंकि कवि ने उच्छृङ्खल कल्पना का बहुत कम आश्रय लिया है। एकलव्य का आचाय द्रोण के द्वारा अस्वीकृत होने का कारण कल्पना द्वारा शासित होने के साथ ही साथ, सम्प्रदायिक राजनीति के प्रकाश म एक नवीन सन्दभ उपस्थित करता है। एकलव्य म कल्पना अनेक रूपों में प्रयुक्त हुई है। पात्रो के मनोवज्ञानिक सघष मे एकलव्य जननी तथा नागदत्त जसे पात्रो का सृजन जिनके द्वारा कथावस्तु के सवेदनशील स्थलों को कवि सुन्दरता से उभार सका है। इसी प्रकार आचाय द्रोण का एकलव्य विषयक भावना का स्वप्न देखना और एकलव्य द्वारा साथवाहो से अपनी मा के पास सदेश भेजना आदि प्रसग कल्पित हैं, पर कथानक की गति मे और पात्रो के चरित्र विकास म इनका योगदान अत्यत स्पष्ट है। इसी स्थान पर पात्रो का जो मनोवज्ञानिक सघष दिया गया है वह भी कथा वस्तु को एक गरिमा देने म समथ है। सक्षेप में उपयुक्त तीनो तत्वो का एक सर्वांगीन रूप हमे इस महाकाव्य मे प्राप्त होता है जिसका यथा वसर विवेचन प्रसगवश होता रहेगा।

कथावस्तु के सदभ मे कल्पना का तकमय रूप हमे सग विभाजन मे प्राप्त होता है। कवि ने चौदह सर्गों के अतगत एकलव्य कथा को सत्य तथा कल्पना के

मायामो मे बाँधा है। प्रारम्भ के ७ सग (दशन परिचय अभ्यास, प्रेरणा प्रन्शन, और आत्म निवेदन) महाभारत के अय प्रसगो से जुडे हुए हैं। जिसमे आचाय द्रोण की विगत कथा तथा एकलव्य से उनका सम्बध निर्देश प्राप्त होना है जो कथा की पष्ठभूमि तथा वस्तु सगठना को एक निश्चित रूप प्रदान करता है। इस प्रकार प्रारम्भ के ये सग प्रधानतया क्षत्रिय नीति के सदभ म आचाय द्रोण के मनोविज्ञान को समझने के लिए आवश्यक हैं। सबसे बडी विशेषता इन सर्गों की यह है कि इनका सम्बध घटनाओ की अपेक्षा पात्रो के मनोविज्ञान को मुखर करन मे अधिक सहायक होते है, और यही कारण है कि महाकाव्य मे घटनाओं का जो भी तारतम्य है, वह मनोविश्लेपण पद्धति पर अधिक आश्रित है न कि घटनाचक्र के घात प्रतिघात म। इसी प्रकार अत के ५ सग (साधना स्वप्न लाघव द्वन्द्व और दक्षिणा) मुख्यत एकलव्य से सम्बधित हैं जो उसके चरित्र को मुखर करते हैं और महाकाव्य के उद्देश्य को व्यजित मात्र करते हैं।

(२) चरित्र विश्लेपण शिल्प —सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये तो सर्गों का विभाजन पात्रो के चरित्र विश्लेपण के अनुसार हो किया गया है। इस शिल्प के अन्तगत कवि न मूलत मनोवज्ञानिक आधार ही ग्रहण किया है। इस मनोवज्ञानिक स्थिति को कवि ने अनेक रूपो मे रखने का प्रयत्न किया है जो मनोविज्ञान के सिद्धातो को किसी न किसी रूप म रखते हैं। इसका अथ यह नही है कि मनोविज्ञान का यात्रिक प्रयोग काव्य की कसौटी हैं पर इतना निश्चित है कि यदि कृतिकार को मनोविज्ञान का ज्ञान है, तो वह अपन पात्रो को विभिन्न स्थितियो म डालकर उनकी मनोवृत्तियो को अधिक स्वाभाविक विकास दे सकता है। यदि एकलव्य के चरित्र विश्लेपण शिल्प का निरीक्षण किया जाए तो उसके प्रमुख पात्रो (एकलव्य के चरित्र विश्लेपण शिल्प का निरीक्षण किया जाए तो उसके प्रमुख पात्रो (एकलव्य, द्रोण अर्जुन आदि) को अनेक स्थितियो म डालकर आत्मकथन शली के द्वारा उनके चरित्र की रेखाओ को उभारा गया है। एकलव्य म यह आत्मकथन शली, पात्रो को स्वय आत्मविश्लेपण की ओर प्रेरित करती है जिसके द्वारा पाठक स्वय पात्रो के मनोविज्ञान म क्रमश प्रविष्ट होता जाता है और कृतिकार पात्रो को एक स्वतत्र वातावरण देता है कि वे नाटकीयता स स्वय अपना विकास कर सकें।

दूसरा तत्व जो चरित्र विश्लेपण शिल्प के अन्तगत प्राप्त होता है वह मनोविज्ञान के अनेक क्षेत्रों का है। इसके अन्तगत स्वप्न-मनोविज्ञान परा मनोविज्ञान बाल मनोविज्ञान, तथा ओडीपस-ग्रन्थि का एक सम्मिलित रूप मिलता है। एक अय विशेपता जो इस महाकाव्य म प्राप्त होती है वह यह है कि उपयुक्त मनोवज्ञानिक प्रकारों का एक सम्मिलित रूप ही प्राप्त होता है उन्हें हम नितात एक दूसरे से विलग कर नहीं देख सकते है। उदाहरणस्वरूप 'स्वप्न सग" के अन्तगत

आचार्य द्रोण का स्वप्न अचेतन मन की प्रक्रिया भी है और दूसरी ओर 'एकलव्य' का वह बालहठ (मनोविज्ञान) है जो असम्भाव्य को सम्भाव्य बना देता है। इसी प्रकार, बालमनोविज्ञान का वह प्रसग जब एकलव्य अपनी माता से हठ करता है और वह उसके हठ को स्वाभाविक रूप से 'स्वीकारती' हैं पर इस प्रसग म मनोविज्ञान की बहुचर्चित मान्यता 'ओडीपस ग्रन्थि' का वह रूप भी मिलता है जो माता तथा पुत्र का एक दूसरे के प्रति आकर्षण भाव है। यह मान्यता सभी स्थितियो तथा सम्बन्धों में मान्य नही है पर इस स्थल पर हम उस मान्यता के केवल एक अश को कार्यान्वित देखते हैं। ये सभी सम्बन्ध (माता-पुत्र पिता-पुत्री तथा बहन भाई) यौनपरक (Sexual) माने गए हैं और मैं समझता हूँ कि इसम कोई अन्याय नहीं है क्योकि ससार के जितने भी सम्बन्ध है वे सब यौन पर ही आधारित हैं परन्तु उनका रूप सभी स्थलों पर एक सा नही होता है। प्रत्येक सबध म भावना का बदलता हुआ रूप प्राप्त होता है और इसी भावना के परिवतन के साथ, यौन-सम्बन्ध भी परिवर्तित होते जाते हैं। एकलव्य का माता-पुत्र सम्बन्ध इस दृष्टि से पवित्र तथा महान ही है क्योकि उसम भावना का परिवर्तित रूप है। स्वय कवि ने बालहठ को इसी रूप मे ग्रहण किया है जिसमे नाटकीयता भी हैं और माता-पुत्र का प्रेम सबध भी—

'एक बात मेरी भी पड़ेगी तुम्हे माननी
कौन सी रे एकलव्य ? बात कभी टाली है ?"
'तब तो माँ ! कह दो कि बात तेरी मान गी
कह दो न माँ कि तेरी बात[1] !"

अन्तिम दो पक्तियों मे बाल हठ का सुन्दर रूप प्राप्त होता है।

एकलव्य म स्वप्न और परामनोविज्ञान का भी सुन्दर समाहार मिलता है। आधुनिक मनोविज्ञान के अन्तगत जहाँ इन्द्रियो की सहायता के बिना ज्ञान प्राप्त किया जाता है[2] उसे परामनोविज्ञान की सज्ञा दी जाती है। इसे ही हम प्रतिभज्ञान (Intuition) भी कहते है जिसका सुन्दर विवेचन आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने अपनी पुस्तक 'रहस्यवाद" मे प्रस्तुत किया है। इस दृष्टि से, एकलव्य के 'प्रेरणा सर्ग' का स्वप्न महत्वपूर्ण है क्योकि स्वप्न बिम्बो के द्वारा कवि ने एकलव्य के भावी जीवन का सकेत प्रस्तुत किया है। स्वप्न में वह देखता है (पृ० ७४ ७६) कि उसके सम्मुख आचाय द्रोण खडे हैं। मत्र का एक चक्र आता है और वह भयभीत हो जाता है। पास ही कूप की वीटिका पडी है। वह आश्वासन देती हैं—

कि 'मत्रशक्ति तुमको भी कूप से उठावेगी'

---

१ एकलव्य प्रेरणा सर्ग पृ० ७८

२ द न्यू फ्राउंटियर्स आफ मा माइन्ड लेज जे० बी० राइन, पृ० १९३

फिर एक मेघ खड़ा आता है जिसमे आचार्य द्रोण छिप जाते हैं। तत्पश्चात् एक मृत्तिका के ढेर मे अनेक पुष्प दृष्टिगोचर होते हैं। उनमे द्रोण का मुख दिखाई देता है और तभी एकलव्य अपना दाहिना हाथ बढ़ाता है और उसी समय एक सर्प उसके अंगूठे को डस लेता है। इस प्रसंग में अनेक बिम्बों का प्रयोग किया गया है जो भावी घटनाओं का संकेत करते हैं। द्रोण का बादल के पीछे छिप जाना इस बात को स्पष्ट करता है कि वे एकलव्य की साधना मे सहयोग न देंगे। वीटिका का आश्वासन एकलव्य की सफलता का प्रतिरूप है। मृत्तिका का ढेर, एकलव्य द्वारा निर्मित द्रोण की मूर्ति है, पुष्प श्रद्धा भावना के प्रतीक हैं तथा सर्प वह राजनीति का दंश है जो एकलव्य का अहित करता है। इस प्रकार प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक युग (Junq) का यह मत कि स्वप्न भावी जीवन का भी संकेत करते हैं[1]" एक सत्य प्रतीत होता है। इसी प्रकार 'ममता' सर्ग मे एकलव्य जननी का स्वप्न और एकलव्य-साधना का आचार्य द्रोण को आने वाला स्वप्न— ये ऐसे प्रसंग हैं जिनके द्वारा कवि ने एकलव्य और आचार्य द्रोण के मन संघर्ष को तीव्रतम करने की भूमिका प्रस्तुत की है जो आगे विकास को प्राप्त करती हैं। इस परा विज्ञान के अंतराल मे चरित्र विश्लेषण की दृष्टि से, एक अन्य तत्व भी प्राप्त होता है। जो अध्यात्म की ओर संकेत करता है जिसके द्वारा कोई ऐसी आन्तरिक शक्ति अवश्य है जो साधना के कठिन व्रत को पूरा करने मे समर्थ होती है जबकि साधक के सामने साध्य तो है पर प्रेरणा तथा मार्ग देने वाला गुरु नही। स्पष्टत यहाँ पर मनोविज्ञान आकर रुक जाता है और आत्मिक शक्ति का ऊर्ध्व लोक प्रकट होता है। यही भारतीय चिंतन पर आश्रित आध्यात्मिक मनोविज्ञान (Spiritual Psychology) है जिसका संधिस्थल हम एकलव्य के अंतिम सर्गो मे प्राप्त होता है। इन सब प्रसंगो के द्वारा एकलव्य और द्रोण के चारित्रिक वैभव को साकार ही नहीं किया गया है पर द्रोण के घुटते हुए मनोविज्ञान को सुंदरता से उभारा गया है।

(३) बिम्ब विधान —स्वप्न मनोविज्ञान के अन्तर्गत बिम्ब शब्द का प्रयोग किया गया है। आधुनिक भाषा प्रयोग में 'बिम्ब' प्रयोग का महत्वपूर्ण स्थान है। मैं 'एकलव्य' की भाषा और बिम्ब विधान को ही लूंगा पर भाषा के विवेचन के अन्तर्गत नाद अर्थ गुण और अलंकारों की परम्परागत परिपाटी का पालन करना मैं व्यर्थ समझता हूँ क्योंकि इस दृष्टि से भी एकलव्य पर अनेक समीक्षकों ने विचार किया है।[2]

---

१ साइकलोजी आफ द अनकाशस द्वारा युग पृ० ७८

२ उदाहरणस्वरूप 'एकलव्य एक अध्ययन' मे तथा डा० रामकुमार वर्मा का काव्य' नामक पुस्तकों मे इसी दृष्टिकोण का पालन किया गया है।

३ एजरा पाउंड का अभिमत उद्धृत नई कविता से डा० जगदीश गुप्त के निबंध से पृ० १८८

काव्य भाषा मे बिम्ब विधान एक महत्वपूर्ण तत्व है क्योकि जीवन में एक बिम्ब का प्रस्तुतीकरण कही अधिक महत्व रखता है अपेक्षाकृत बहुत सी कृतियो की रचना से।[1] यही कारण है कि आधुनिक बिम्बवादियो ने केन्द्रीभूत अथ को काव्य-भाषा का प्राण माना है। बिम्ब का काय अनुभूत वस्तु का प्रस्तुतीकरण हैं और प्रतीक का काय किसी विचार या प्रत्यय का प्रतिनिधित्व करना है। बिम्बात्मक-प्रतीक म प्रस्तुति तथा प्रतिनिधित्व दोनो का सयोग होता है। एकलव्य के बिम्ब इसी कोटि मे आते हैं। उनमे से सबसे प्रमुख बिम्ब धनुर्वेद' का हैं जो जीवन तथा दशन दोना क्षेत्रो की प्रस्तुति तथा प्रतिनिधित्व करता है। उदाहरणस्वरूप प्रकृति वणन के सकेत के लिए धनुष-सधान का जो बिम्ब कवि ने लिया है, वह सष्टि को ही एक सधान रूपक दे देता है। इस बिम्ब मे प्रस्तुति ही मुख्य है यथा—

रवि रश्मियाँ उठी ज्यो सूची मुख तीर हो,
छूटने ही वाले हो जो क्षितिज के चाप से।
मात्र सधान मे ही तिमिर वेध हो गया
प्रेरित हुआ है खग कलरव मत्र से।।[2]

इसी प्रकार धनुर्वेद का बिम्ब एकलव्य' की साधना का चित्र ही खड़ा कर देता है और कही पर एकलव्य का सधान बिम्ब भूत, भविष्य और वतमान का सधि-स्थल हो जाता है।[3] ऐसे स्थलों पर हमे बिम्बात्मक-प्रतीक की प्रस्तुति मिलती है।

'एकलव्य महाकाव्य के विराट फलक पर हमे कुछ ऐसे प्रकृति चित्रण भी प्राप्त होते हैं जो चित्र बिम्ब की सृष्टि करते हैं। इसमे ऐसे उदाहरण आते हैं जो किसी बिम्ब के द्वारा, प्रकृति के किसी पक्ष का चित्र साकार करते हैं। डा० वर्मा ने प्रकृति चित्रो के एसे प्रयोग अनेक ग्रन्थों में किए हैं पर एकलव्य मे ऐसे चित्र 'बिम्ब' की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। प्रात काल का वणन है जब आकाश पर श्वेत रग आ जाता है और नक्षत्र धूमिल पडने लगते है। इस चित्र को कवि ने स्वप्न और नीद के बिम्ब विधान से साकेतिक प्रस्तुति की है—

अम्बर की नीलिमा में श्वेत रग आ गया,
तारे कुछ फीके पडे वायु बही धीरे से।'
जसे स्वप्न सरक रहे हैं मन्द गति से,
और जीण नीद-पत्र गिरा दृग-वृन्त से।[4]

---

१ एजरा पाउण्ड का मत 'नई कविता' से पृ० १८८
२ एकलव्य पृ० ६७ प्रदशन सग
३ वही पृ० १२५
४ एकलव्य साधना सग पृ० ६११

इसी प्रकार एक शरद् चित्र म, शरद् आगमन का सकेत 'मथन' मे बिम्ब स लिया गया है—

आया शरद् प्रकृति का मीत ।
वर्षा के मथन से निकला ।
जसे यह नवनीत ।।[१]

यहाँ पर हम परम्परागत षटऋतुओ का वरणन मिलता है जिसमें रीतिकालीन वियोगनी नायिका के दशन तो होत हैं, पर सदम के परिवतन क कारण, वसी अनुभूति नही होती हैं क्योकि यह मा क पवित्र ममत्व से उद्भूत उद्गार हैं । इसके अतिरिक्त, मुझे एकलव्य म और सुन्दर बिम्ब नही मिल सके उदाहरण दृष्टात तथा उपमाओं का एक अनोखा कल्पना विलास ही मिला है जो सदा से कवि की प्रवृत्ति ही रही है ।

वचारिक परिप्रेक्ष्य —उपयु क्त शिल्प सगठना के विभिन्न तत्वो के प्रकाश में यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि एकलव्य का कला-पक्ष जितना उन्नत है, उससे कम उसका वचारिक पक्ष नहीं है । मैं तो इस निष्कष पर पहुँचा हूँ कि इस महाकाव्य मे विचार और शिल्प का एक सयमित रूप प्राप्त होता है । अधिकाशत वैचारिक स्थलो पर शिल्प-पक्ष कमजोर नहीं होने पाया है और महाकाव्य की महत्ता इसी तथ्य पर मूल्याकित की जाती है ।

'एकलव्य' का वचारिक वैभव दो आयामों को स्पश करता है और इन आयामो का सम्बध मानवीय ज्ञान का एक समर्पित धरातल है जो आधुनिक भाव बोध का सुन्दर परिचय देता है । ये दो आयाम हैं—(१) जीवन-दशन (२) वर्गादि दशन ।

(१) जीवन-दशन —एकलव्य का समस्त जीवन-दशन जगत-सापेक्ष है । उसका मूल है गतिशीलता और पूणता । एकलव्य तथा द्रोण क चारित्रिक विकास के द्वारा इस तत्व का समाहार किया गया है । यहा जीवन एक धनुर्वेद है जिसम प्रतिशोध की गतिशीलता है[२] परन्तु 'एकलव्य महाकाव्य इस प्रतिशोध को ही ध्येय नहीं मानता है, पर इस शक्ति के द्वारा जीवन म गति का समावेश चाहता है जो मिटती नही है पर अवतार लेती है ।[३] यही कारण है कि जीवन-नद का प्रवाह चिरन्तन है जिसका ध्येय सिंधु मे विलयन है ।

---

१ यही ममता सग, पृ० २४७
२ एकलव्य, दशन सग पृ० १४
३ वही दक्षिणा सग पृ० २७६

'और स्वय अपना प्रवाह देना सिन्धु को"[१] यही विलयन की पूर्णता का द्योतक है क्योंकि जीवन की गहराइयों मे ही ऐसी शक्तियाँ हैं जो परिवर्तन को और अपने को पूर्ण करने का निरन्तर प्रयास करती हैं।[२] यहाँ पर कवि ने लय-समाधि का जो महत्व प्रदर्शित किया है वह एकलव्य की साधना का चरमोत्कर्ष है। जीवन की गतिशीलता, जब अहकार तथा द्वेष का तिरोभाव कर, साध्य से एकीभूत हो जाती है तभी इस समाधि का रूप मुखर होता है। यह समाधि-दशा एक विशेष प्रकार की चैतन्यता है जो सुप्त रहती है और कोई प्रबल प्रेरणा पाकर गतिशील हो जाती है। यही प्रेरणा ही वह शक्ति है जो—

"चेतना में व्यक्त हुई गतिशील आत्मा सी,
सत्य के भी सत्य में प्रवेश चली पाने की।
दृष्टि एकलव्य की।"[3]

यह दृष्टि उसी समय प्राप्त होती है जब दृष्टि और लक्ष्य में सममाव हो, उनमें परस्पर कर्षण हो और उनके मध्य कोई व्यवधान न हो। आचार्य द्रोण के शब्दों में जब तक दृष्टि और लक्ष्य मे अनेक दृष्टियाँ तथा व्यवधान रहेंगे तब तक लक्ष्य भेद असम्भव है—

जब लक्ष्य भेदने में ये अनेक दृष्टियाँ
हैं तो लक्ष्य भेद होगा कैसे एक वस्तु का"[४]

अस्तु जीवन-दर्शन, का सबसे बडा तत्व गतियुक्त सम दृष्टि है जो लक्ष्य के प्रति आस्थावान् हो। एकलव्य की आस्था, श्रद्धा और त्याग की कसौटी पर खरी ही नहीं उतरती है पर वह अपने मे एक ऐसा मूल्य (Value) है जिसके बगर जीवन का अस्तित्व अर्थहीन माना गया है। इसी आस्था' के कारण स्वप्न भी सत्य बन जाते हैं। और साथ ही कल के भूले हुए स्वप्न भी सत्य बन जाते हैं।[५] इसी से, श्रद्धा और आस्था मे एक शक्ति होती है जो एकलव्य का कथानक प्रकट करता है।

(२) वैज्ञानिक दर्शन —जब हम आस्था का प्रश्न उठाते हैं, तो यह कहा जाता है कि विज्ञान ने हमारी आस्था को खण्डित किया है और हमारे अस्तित्व को

---

१ वही, पृ० २७६ , ,
२ एन आइडियलिस्ट व्यू आफ लाइफ राधाकृष्णन् मृ० ६१
३ एकलव्य, साधना सर्ग, पृ० १९९-२००
४ एकलव्य, अभ्यास सर्ग, पृ० ५८ ५९
५ एकलव्य, साधना सर्ग पृ० १९०

निरथक साबित किया है। परन्तु आधुनिक वज्ञानिक दशन मे आस्था का जो रूप प्राप्त होता है वह कोरी अ ध भक्ति का पोषक नही है उसकी आस्था सत्य की सापेक्षता मे है न कि उसकी निरपेक्षता मे वनानिक विचार सत्य अथवा ईश्वर को सापेक्ष मानता है, उसे ससार के साथ मानता है। वह ईश्वर को एक शक्ति रूप देता है जो एक परिवतनशील मूल्य है। हर युग की एक आस्था होती है और आधुनिक युग की भी अपनी विशिष्ट आस्था है जो विनान की देन है जो निरन्तर दशन तथा धम की अवस्थाओ मे परिवतन कर रही है। अस्तु आज के जितने भी मूल्य माने गए हैं, वे सापेक्षिक ही हैं। असीम भी सीमा क परिवेश म बध चुका है। प्रसिद्ध वज्ञानिक चितक आईस्टीन ने सापेक्ष सत्य को ही मूल्यवान् माना है। दिक काल का महत्व ही सापेक्षिक है और असीम की सीमा भी सापेक्षिक हो चुकी है। डा० वर्मा ने इस सम्पूण स्थिति का इस प्रकार सकेत किया है—

> नभ की दिशाएँ चौगुनी सी हुई जाती हैं,
> *सीमा हीन की भी सीमा दृष्टिगत होती है।*[1]

चार आयामो से युक्त दिक्काल ही सत्य है जिसके अन्दर समस्त ब्रह्माडो की सीमाए अन्तर्निहित है। आधुनिक वनानिक चिन्तन की यह सबसे बडी प्रस्थापना है। यही कारण है कि जब हम दिक् और काल (Time and space) के सापेक्षिक सत्य को ग्रहण करते हैं उसी के साथ हमे गति की महत्ता भी माननी पडती है। जीवन दशन के सदभ म 'गतिशीलता के महत्व पर विचार किया गया था, और वज्ञानिक चिन्तन म गति तो समस्त सृष्टि का एक मूलभूत तत्व ही है। प्रत्यक परमाणु अपनी क्रिया शीलता म ही सृष्टि करता हैं, प्रत्येक ग्रह और नक्षत्र गति सिद्धान्त का पालन करते हैं इन अणुओ का उल्लास (Veracity) ही सृष्टि का रहस्य है—

> सृष्टि के समस्त कण गति के प्रवाह मे,
> हैं रहस्य चक्र बीच नृत्य मे निरत से।
> मौन मे उल्लास किस भाति सूक्ष्म रूप से,
> करता निवास चेतना से ओतप्रोत हो।[2]

यदि अणु की रचना पर ध्यान दें, तो लगता है जसे एक एक विश्व मौन एक एक कण में'[3] है और इसकी अन्तरचना सौर मडल के समान ही प्राप्त होती है।

---

१ एकलव्य, पृ० १४ दशन सग
२ वही, पृ० २७६ दक्षिणा सग
३ वही स्तव, सग पृ० ५

आधुनिक वैज्ञानिक चिंतन विश्व रचना के प्रति एक अन्य दृष्टि को भी समक्ष रखता है जो विकासवाद (Evolution) से सम्बन्धित है। सृष्टि-रचना में जव (चेतन) और अजव (जड) दोनो का समान महत्व है अथवा जिसे हम अजव कहते हैं, वह ही जव का रूप धारण करता है। इस प्रकार जव और अजव (Organic and Inorganic) में तारतम्यता है – दोनो अन्योन्याश्रित हैं। डॉ० वमा ने इसी तथ्य को कायात्मक रूप दिया है और 'एक नाद' की जो धारणा सम्मुख रखी है वह जड और चेतन का एक तारतम्य मूलक आधार है, केवल उनमें प्रकार भेद है–

टूट गए बध जड और चेतन सभी
एक नाद मे हो लीन स्पन्दित से हो उठे।
यदि जड उस दिव्य राग का स्थायी है
तो समस्त चेतना है अंतरा आलाप सा ॥

अथवा

सचरणशील है, सदव कण-कण में
जड नहीं जड, वह चेतनावरण है।[1]

यही नहीं डा० वमा ने जड और चेतन को दृष्टि का भेद माना है अथवा दूसरे शब्दो में यह दृष्टि का सकोच ही है जो हमें जड और चेतन को अलग अलग देखने को प्रेरित करता है।[2] यही दृष्टि 'अद्वत दृष्टि है" जिसकी ओर विज्ञान गतिशील है।

महाकाव्यत्व —उपयुक्त तत्वो के विश्लेषण से यह निष्कष स्वयं साक्ष्य है कि 'एकलव्य', महाकाव्यों की परम्परा की दृष्टि से, कथावस्तु तथा चरित्राकन-शिल्प की दृष्टि से, वचारिक वैभव तथा उद्देश्य की महानता की दृष्टि से यथार्थ में, महाकाव्य के सभी प्रमुख तत्वों से समन्वित है। इस के अतिरिक्त शली को उदात्तता एव विराट भावो के अकन की दृष्टि से एकलव्य' महाकाव्य की भाव-भूमि की सफल अभिव्यक्ति करता है। इस पक्ष का अत्यधिक विवेचन समीक्षा ग्रंथो मे किया जा चुका है जिसकी ओर प्रथम ही सकेत हो चुका है उसकी पुनरावृत्ति यहाँ व्यथ है। दूसरी ओर मैंने उपर्युक्त जिन सदर्भों एव प्रकरणो का विवेचन किया है वे भी अपरोक्ष रुप से इसी तथ्य को सम्मुख रखते हैं कि एकलव्य महाकाव्य की उदात्त-भावना का परिचय देता है।

---

१ एकलव्य साधना सग पृ० २०२
२ वही साधव सग, पृ० २५३

इस दृष्टि से एकलव्य का महाकाव्यत्व उसकी प्रभावान्विति म तथा उसकी रसवत्ता म समाहित है। 'रस' की एक अबाध धारा मुक्त छन्दों म मुक्त होकर प्रवाहित हुई है। मेरे विचार से, रस-परम्परा को एक गतिशील आयाम इस महाकाव्य म दिया गया है। उसे मनोविज्ञान, विचार और भावनाओ के समान्वित धरातल पर उपस्थित किया गया है। यही कारण है कि रस निष्पत्ति केवल भावना तथा कल्पना के स्तर पर न होकर विचारो तथा सवेदनाओं के स्तर पर होती है। उपयुक्त वचारिक प्रतिप्रेक्ष्य के विवेचन से यह स्पष्ट है कि कवि की रचना प्रक्रिया मे 'रस' केवल एक प्राचीन परम्परा द्योतक न होकर वह आधुनिक भावबोध की भूमि पर भी प्रतिष्ठित है। यही कारण है कि डॉ० रामकुमार वर्मा ने इस महाकाव्य के द्वारा रस को विचारात्मक तथा सवेदनात्मक धरातलो पर एक साथ प्रतिष्ठित करने का सफल प्रयत्न किया है। यहाँ पर यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि रस की धारणा सभी स्थानो पर नही घटित की जा सकती है। आज की नई 'कविता को' हम रस सिद्धान्त पर घटित नहीं कर सकते हैं क्योंकि 'रस की अपनी सीमाएँ हैं और आज की कविता की अपनी सीमाए, उन दोनों को परस्पर मिला देने पर हम दोनों के प्रति अन्याय ही अधिक कर सकते हैं। डॉ० वर्मा के एकलव्य महाकाव्य की महत्ता इसी बात म निहित है कि उसम कवि ने बडे कौशल से आधुनिक भाव-बोध तथा शिल्प को रसाश्रित किया है। और फिर कवि सदव से 'रसवादी' परम्परा का पोषक रहा हैं और वह कसे उस परम्परा से दूर हो सकता था!

एकलव्य' का महाकाव्यत्व उसकी प्रभावान्वित मे निहित है जो सम्पूर्ण रूप से रस प्रक्रिया पर आधारित है। प्रभावान्वित मूलत कथावस्तु क स्वरूप पर निर्भर करती है एकलव्य की कथावस्तु का विकास मूलत क्रमागत है एव व्यवस्थित वह यूरोपीय महाकाव्य के रेचन (Cathrsis) सिद्धान्त को भी ग्रहण कर सका है। और उसे भी रस के अन्दगत समाहित कर सका है। रेचन सिद्धान्त म दो विरोधी भाव (भय और करुणा) कथावस्तु मे तीव्रता को प्राप्त होते हैं और मन इन दोनो के मध्य रेचन' द्वारा सतुलन तथा शान्ति की स्थापना करता है।[1] कथावस्तु को गति देन मे नियति शक्ति का भी हाथ रहता है। ऐकलव्य म ऐसी स्थितियाँ अनेक हैं। उदाहरणस्वरूप एकलव्य अपने अध्यवसाय द्वारा धनुर्वेद मे अपूर्ण लाघव प्राप्त कर लेता है और उसी समय द्रोण तथा राजनीति द्वारा उद्भूत विरोधी शक्तियाँ उद्भव होती है और अन्त म नियति स्वप्न' के द्वारा द्रोण को

१ एकलव्य एक अध्ययन, पृ० २२५

एकलव्य की साधना का सकेत देता है और इस प्रकार नियति एकलव्य के अनिष्ट की तयारी करती है। इस स्थान पर रेचन प्रक्रिया के दो रूप दिखाई देते हैं। एक का सम्बन्ध द्रोण से है और दूसरे का एकलव्य जननी से। आचाय द्रोण म प्रतिशोध भावना और वण भेदभाव मे उत्पन्न ग्लानि का रेचन होता है। वे अपने पुराने गुरु और गुरुकुल के आदर्शों को पुन पहचानते हैं, और इस तरह अपने व्यक्तित्व को सतुलित करते हैं। इसी प्रकार एकलव्य जननी अपने पुत्र के कटे अगुष्ठ को तथा आचाय द्रोण के रक्त रजित वस्त्र को देखकर भय और करुणा से भर उठती है। इसी के साथ पुत्र की दुदशा देखकर वह क्रोधित एव क्षुब्ध हो जाती है। इस प्रकार क्रोध का आलम्बन ग्रहण कर उसके भय और करुणा के भावो का रेचन होता है। इसी प्रकार पाठक के भावों का रेचन एकलव्य जननी के साथ होता है। इन प्रसगा के द्वारा, कवि ने सारे महाकाव्य मे एक प्रभावान्विति का समावेश किया है और इस प्रभाव की तीव्रतर अनुभूति उस समय और भी स्पष्ट हो जाती है जब कवि द्रोण तथा एकलव्य के अन्तद्वन्द्व को सम्पूर्ण यथावस्तु म प्राण प्रतिष्ठा करता है।

इन मूलभूत तत्वा के प्रकाश म एकलव्य महाकाव्य की उदात्तता और उसकी जीवत शक्ति स्वय साक्ष्य है। परन्तु फिर भी, समय' की गति ही यह बता सकेगी कि यह महाकाव्य उस उदात्तता को कहां तक कायम रख सकेगा? सभावित सत्य यह माना जा सकता है कि जिस मूल विषय तथा उससे सम्बन्धित जो चिन्तन का अनुभूतिपरक रूप है, वह अवश्य ही उसकी महानता को भविष्य मे स्थापित करेगा। जिस प्रकार एक वज्ञानिक अनुमान तथा प्रयोग के आधार पर भावी घटनाओ की कल्पना करता है उसी प्रकार आलोचक कृति के विषय तथा विचारो की गहनता के आधार पर उसके भावी स्थान के प्रति केवल अनुमान कर सकता और यही काय मैंने भी किया है और ईमानदारी से किया है क्योंकि आलोचक की ईमानदारी ही उसका सम्बल है और उसकी दृष्टि ही उस ईमानदारी का परिचायक है। एकलव्य महाकाव्य के रूप म एक ऐसी रचना है जो डॉ० वमा की सजनात्मक प्रतिभा का चरमोत्कर्ष माना जा सकता है कम से कम इस तथ्य को मैं बिना किसी पूर्वाग्रह के कह सकता हूँ। खामियाँ ता प्रत्यक कृति म होती है पर वे खामियाँ पृष्ठभूमि म चली जाती हैं जब समग्र रूप से, उस कृति के पडनेवाले प्रभावो का मूल्याकन उचित रूप से किय जाता है।

[ख] + मुझमें जो शेष है

इस पुस्तक की भूमिका म लेखक ने अपने को केवल मानवतावादी कवि न मान कर और भी कुछ माना है। कम से कम इस काव्य संग्रह म भट्ट जी की कविताएँ अनेक आयामो को छूती हैं, जिसमें सबसे प्रमुख स्वर आधुनिक जीवन की विडबना तथा ढहते हुए प्राचीन प्रतिमानों का स्वर है। इसके अतिरिक्त यह भी माना जा सकता है कि कवि का अलौकिक मानवतावादी दृष्टि को त्याग नहीं सका है, जो मेरे विचार से एक शुभ लक्षण है। यही कारण है कि 'महात्मा गाँधी', 'अमृत पुत्र' 'सत' ऋत-पुरुष आदि कविताएँ, इसी दृष्टिकोण को ले कर लिखी गयी हैं। विषय की दृष्टि से इन कविताओं में कोई विशेष नवीनता नहीं है क्योंकि इनमें प्रशस्ति तथा भावी मानव की कल्पना प्राप्त होती है।

अन्य कविताओं मे कवि की दृष्टि अधिक घनी तथा गंभीर है। उनमें आत्मनिष्ठता का स्वर प्रमुख है जो आधुनिक जीवन की विडबना तथा विघ्न खलता को अनेक बिंबों तथा प्रतीकों के द्वारा अभिव्यक्त करता है। उदाहरण स्वरूप 'जिंदगी और कूड़ा-ककट', साँप और मैं तथा विद्रोही (पृ ५३) कविताओं में जीवन की निरर्थकता तथा व्यक्ति की अर्थहीनता के सुदर दर्शन होते हैं। यथा

तुम्हारे लिए सारे तत्वज्ञान
काव्य के सदेश
महाप्राण का आवाहन
×
×
×
व्यथ है, व्यथ है
(केवल मनोविनोद
माया-जाल है भ्रम है)
इसीलिए मैं व्यथ हूँ
व्यथ हूँ।

(विद्रोही पृ० ५३ ५४)

+ उदयशंकर भट्ट का कविता-सग्रह। आत्माराम एण्ड सस, दिल्ली। सन् १९६५।

ऐसी कविताओ म अनास्था का स्वर होते हुए भी कवि की दृष्टि उस अनास्था मे आस्था का स्वर भी देता हुआ प्रतीत होता है। इस बिंदु पर आ कर कवि कही अधिक आशावादी भी हो गया है। कुल मिला कर इस सग्रह की उपयु क्त कविताएँ तथा अन्य कविताएँ पाठको को एक नया भावबोध देने मे अवश्य समथ होगी। यही पर कवि व्यक्तिनिष्ठता के दायरे मे न बँध कर अपने अस्तित्व के प्रति, जिसे उसने कभी नहीं पहचाना था ('मैंने नही पहचाना' प ३१–३२), उसे पहचानने का भी प्रयत्न करता हुआ प्रतीत होता है।

एक वग अन्य कविताओ का भी है, जिनकी सख्या सीमित ह। वह वग ह चीनी आक्रमण तथा राजनीतिक प्रभावा का। 'भृत्युभक्षी भारतीय हम' नामक कविता मे उपयु क्त राजनीतिक संवेदना का रूप प्राप्त होता है जो अह तथा गव की भावना ? से कुछ अधिक बोभिल है। इसी प्रकार बलिदान का गीत (प० ६७) तथा पुण्य प्रशस्ति' मे देश की गरिमा तथा त्याग के आवाहन का जो स्वर है, वह भी समयानुकूल है।

इस काव्य सग्रह मे भाषा का रूप आधुनिक जीवन के भावबोध को व्यक्त करने म सफल है परतु दूसरी ओर अनेक ऐसी कविताएँ हैं जिनमे भाषा तत्समप्रधान है और उसम वह लचीलापन तथा छटपटाहट नही है जो आधुनिक जीवन की विडबना से सबधित कविताओ मे है। 'जिंदगी और कूडा ककट' कविता मे ऐसी ही भाषा का रूप मिलता है जिसमे बिंब विधान भाषा को और भी निखार दे देता है।

काल की बुहारी से साफ किये जाने पर
झुक कर हवा के साथ
बेबस—
नवाये माथ
सूम के मसूबे से
अनचाही जिंदगी की तरह।

(प० ३)

इस प्रकार भट्ट जी की काव्य-भाषा मे एक नया लोच प्राप्त होता है।

[ग] + काव्य-चिंता

श्राचाय रमाशकर तिवारी एक प्रबुद्ध आलोचक हैं और उनकी पुस्तक 'काव्य चिंता इसका उदाहरण है। इस आलोच्य पुस्तक म लेखक ने भारतीय एव पाश्चात्य काव्य सिद्धांतो का विवेचन प्रस्तुत करते हुए उनका यदा-कदा मूल्याकन प्रस्तुत किया है! इस विवेचन म विद्वान लेखक की दृष्टि भारतीय चिंतन पर अधिक आश्रित है और इसके साथ नयी कविता प्रगतिवादी कविता पर उनका दृष्टिकोण उदार है जब कि वे भी डॉ० नगेन्द्र की भाँति रस सिद्धात के व्याख्याता एव समथक हैं। उन्हें 'भारतीय समीक्षा-शास्त्र' के प्रति प्रगाढ़श्रद्धा है और साथ ही अंग्रेजी साहित्य से व्यावसायिक सबध होने के नाते, उसकी उपलब्धियो के प्रति, उनके मन मे ममता का अनुभव भी है।" (प्राक्कथन पष्ठ ५)

प्रस्तुत पुस्तक म इस उदारतावादी दृष्टिकोण का परिचय प्राय उनके द्वारा लिखे सभी निबधो म द्रष्टव्य है। फिर भी अंतिम तीन निबध पाश्चात्य सौंदर्य चिंतन यूनानी सौंदर्य शास्त्र तथा 'वक्रोक्ति और अभिव्यजना' म लेखक ने मूल्याकन उपस्थित न कर, केवल उनका इतिहास ही प्रस्तुत कर दिया है जो पाठ्य पुस्तक के समान ज्ञात होता है। 'पाश्चात्य सौंदर्य चिंतन नामक निबध म प्लेटो से ले कर क्रोचे तथा स्टेन तक सौंदर्य की धारणा का क्रमिक विकास प्रस्तुत किया है। यदि लेखक ऐसे निबधो म भी भारतीय सिद्धातो का एक तुलनात्मक मूल्याकन प्रस्तुत करता चलता तो ये निबध अधिक उपादेयता तथा गभीरता की सृष्टि करने मे समथ होते। परतु इतना निश्चित है कि इन निबधो से पाश्चात्य सौंदयशास्त्र का एक सम्यक विवेचन एक स्थान पर मिल जाता है, जो अध्यापकों के लिए हितकर है।

+ रमाशकर तिवारी की पुस्तक। चौखबा विद्याभवन वाराणसी १। सन् १९६३। मूल्य ६ ००

स्वय आचाय तिवारी जी एक अध्यापक हैं और अध्यापक होने की प्रवत्ति कहीं न कहीं उभर कर आ ही जाती है परतु कहीं कहीं पर मूल्याकन की छोटें दृष्टिगत होती हैं पर इतिहास क्रम मे व लुप्त हो जाती हैं। उदाहरणस्वरूप लेखक १६ श० के अत तक, योरूपीय सौंदयशास्त्र के निर्माताओं का विवेचन करता हुआ इस निष्कष पर पहुचता है कि 'प्लेटो के काल से बामगार्टन के काल तक दो सहस्र वर्षों के बीच सौंदय निरूपण दशन के जाल से निकल कर स्वतत्र शास्त्र का स्वरूप ग्रहण करने की दिशा म निरतर प्रगति करता रहा।' (पृ० २००)

अन्य निबधो का क्षेत्र मूलत भारतीय काव्यशास्त्र और पाश्चात्य सौंदयशास्त्र से सबधित है। दूसरे शब्दो मे सभी निबध भारतीय काव्य सिद्धातो से सबधित हैं जिसमे यत्र तत्र पाश्चात्य सौंदय चिंतको का तुलनात्मक विवेचन भी है और सबसे ऊपर स्वय लेखक की अपनी कुछ प्रस्थापनाएँ। इस दृष्टि से, कवि का मूल्य मापन स्तरभेद 'रस निष्पत्ति और साधारणीकरण तथा 'सस्कृति, सभ्यता और साहित्य, नामक निबध विशेष रूप से पठनीय हैं। 'काव्य का प्रयोजन' तथा 'काव्य का मूल्य मापन निबधो मे] आचाय जी ने नव प्रतिमानों का स्वरूप-विश्लेषण तथा आधुनिक साहित्य म उनकी प्रतिष्ठा पर एक खुले दिमाग से चिंतन किया है। इन निबधो म उन्होंने तीन बातो पर विशेष बल दिया है। पहली बात जो उन्होंने मानी है, वह विभाव सिद्धात का अनुमोदन है जो प्रत्यक्षत रस सिद्धात की मान्यता है और पत महादेवी और प्रसाद म इनका सुदर बाहुल्य है। पाश्चात्य सौंदयशास्त्र मे वस्तुमूलक सबधक (आब्जेक्टिव कोरिलेटिव) का सिद्धात भी विभाव पक्ष का अनुमोदन करता है।

दूसरी बात है साधारणीकरण से सबधित। 'रस निष्पत्ति और साधारणीकरण निबध म, साधारणीकरण का सिद्धात सुपरिचित है जिसका आख्यान इस निबध म भी किया गया है। अभिनवगुप्त का साधारणीकरण सिद्धात, लेखक के अनुसार साख्य दशन पर आश्रित नहीं है जसा कि डॉ० राकेश गुप्त ने माना है। इसका खडन उन्होंने इस तकणा पर किया है कि अभिनव शवाद्वत के पोषक थे जहा प्रमाता और प्रमय दोनो एक हैं। इसके विपरीत साख्य दशन द्वतवादी है। (पृ० १५१) इस तकना म सत्य का अनुमोदन ही नहीं है पर मरे विचार से अभिनवगुप्त का साधारणीकरण सिद्धात द्वत के द्वारा अद्वैत की ही पुष्टि करता है। कवि और भावक पक्षों का इसमें 'अद्वत ही है।

लेखक साधारणीकरण को आधुनिक साहित्य पर पूर्णतया घटित नहीं मानता है। इस बात को उसने हार्डी के औपन्यासिक चरित्रो को ले कर साबित

किया है। दूसरी ओर दुखात्मक भावो की अनुभूति सुखात्मक भावो की तरह आनददायक नही होती। इसे उन्होने स्पष्ट रूप स स्वीकार किया है (पृ०८२) वह भी काव्य के प्रयोजन' नामक निबध म। इसी सदभ मे उन्होने डा० भगवान दास डा० बाटवें के मत को भी प्रस्तुत किया है जो यह मानते हैं कि दुखात्मक प्रसगो से आनदानुभूति प्राप्त करने के विषय मे भावक से एक विशिष्ट मानसिक सगठन की अपेक्षा है। इसी सदभ मे विरचन सिद्धात (क्यार्सिस) की भी व्याख्या प्रस्तुत की गयी है।

साधारणीकरण की व्याख्या करत करते लेखक अ त म तीसरी बात पर आता है और वह जीवन बोध को ही काव्य या कला का प्रयोजन मानता है। उसकी यह प्रस्थापना इस पुस्तक की सबस बडी प्रस्थापना है। उसका कहना है कि हम आज की नयी कविता प्रगतिवाद सभी को काव्य की सीमा म ग्रहण कर सकते और एतदथ रसवाद की शास्त्रीय कसौटी की कठोरता को शिथिल कर सकते हैं। लक्ष्मीकात वर्मा की एक रचना की व्याख्या के बाद वे स्पष्ट स्वरो म कहते हैं इस रचना को, रस के नाम पर, कविता के राज्य से बहिष्कृत करना कथमपि उचित नही होगा। जीवन-बोध मे जीवन के सनातन एव सामयिक सत्यो की भी व्यजना का अ तर्भाव है।' (पृ० १०८)

इन निबधो की अपेक्षा एक अन्य वग उन निबधों का है जिसमें कवि का विशेषत्व और उसकी गरिमा, व्यक्तित्व निहित का रूप और काव्य तथा जीवन से सम्बन्धित विचार हैं। दो निबध कवि का विशेषत्व तथा काव्य और जीवन' अत्यत सामान्य कोटि के निबध हैं,जिनमे परपरागत रूप से कवि को एक असाधारण स्वयभूरूप माना गया है जिसमे एक असाधारण सवेदना तथा वाणी का अद्भुत वरदान होता है।

'काव्य और व्यक्तित्व नामक निबध भी आधुनिक साहित्यिक चिंतन की दृष्टि से विशष महत्वपूर्ण है। भारतीय आचार्यों का रसवाद व्यक्ति की अपेक्षा समष्टि या लोक की भावभूमि पर अधिक आश्रित है। योरुपीय काव्य-समीक्षा में टी० एस० इलियट का यह सिद्धांत कि कलाकार सजन के समय व्यक्तित्व का क्रमिक विलोप करता है एक नवीन प्रस्थापना है। इसी सदभ म लेखक ने व्यक्तित्व और चरित्र के अ तर को अत्यन्त स्पष्टता से विवेचित किया है। व्यक्तित्व अ त प्रसूत सुसबद्धता परिचायक है तथा चरित्र एक बाह्य मनमाने कठोर अनुश की बाध्यतापूर्ण स्वीकृति है। (पृ० ४४) अ त में लेखक निर्वैयक्तिक रूप को मान्य

ठहराता है जो आधुनिक काव्य चिंतन का मेरुदंड है। उसकी यह निर्वैयक्तिकता भी जीवनगत मूल्यों की सापेक्षता मे मान्य है जो लेखक की अपनी प्रस्थापना है।

इस प्रकार पुस्तक मे सग्रहीत ११ निबंध, साहित्य के विविध अगों का विश्लेषण एव विवेचन प्रस्तुत करते हुए लेखक की कुछ महत्वपूर्ण मान्यताओं एव प्रस्थापनाओं को समक्ष रखते हैं। सपूर्ण रूप मे पुस्तक काव्य शास्त्रीय दृष्टि से पठनीय है। भाषा सस्कृतनिष्ठ है और विषय के अनुसार भाषा का प्रयोग भी हुआ है पर इतना मानना पडेगा कि आचार्य जी की भाषा सस्कृतनिष्ठ होने के कारण कही-कहीं पर दुरूह हो गयी है और कही–कही पर वाक्य विन्यास जटिल भी हो गये हैं। ऐसे स्थल कम ही हैं।

———

किया है। दूसरी ओर दुखात्मक भावों की अनुभूति सुखात्मक भावों की तरह आनन्ददायक नहीं होती। इसे उन्होंने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है (पृ०८२) यह भी काव्य के प्रयोजन नामक निबंध में। इसी संदर्भ में उन्होंने डॉ० भगवान दास डा० वाटवें के मत को भी प्रस्तुत किया है जो यह मानते हैं कि दुखात्मक प्रसंगों से आनन्दानुभूति प्राप्त करने के विषय में भावक से एक विशिष्ट मानसिक संगठन की अपेक्षा है। इसी संदर्भ में विरेचन सिद्धांत (कथार्सिस) की भी व्याख्या प्रस्तुत की गयी है।

साधारणीकरण की व्याख्या करते करते लेखक अन्त में तीसरी बात पर आता है और वह जीवन बोध को ही काव्य या कला का प्रयोजन मानता है। उसकी यह प्रस्थापना इस पुस्तक की सबसे बड़ी प्रस्थापना है। उसका कहना है कि हम आज की नयी कविता प्रगतिवाद सभी को काव्य की सीमा में ग्रहण कर सकते और एतदर्थ रसवाद को शास्त्रीय कसौटी की कठोरता को शिथिल कर सकते हैं। लक्ष्मीकांत वर्मा की एक रचना की व्याख्या के बाद वे स्पष्ट स्वरों में कहते हैं "इस रचना का, रस के नाम पर, कविता के राज्य से बहिष्कृत करना कथमपि उचित नहीं होगा। जीवन-बोध में जीवन के सनातन एवं सामयिक सत्यों की भी व्यंजना का अन्तर्भाव है।' (पृ० १०८)

इन निबंधों की अपेक्षा एक अन्य वर्ग उन निबंधों का है जिसमें कवि का विशेषत्व और उसकी गरिमा, व्यक्तित्व निहित का रूप, और काव्य तथा जीवन से सम्बन्धित विचार हैं। ये निबंध कवि का विशेषत्व तथा काव्य और जीवन' अत्यंत सामान्य कोटि के निबंध हैं जिनमें परंपरागत रूप से कवि को एक असाधारण स्वयंभूरूप माना गया है जिसमें एक असाधारण संवेदना तथा वाणी का अद्भुत वरदान होता है।

'काव्य और व्यक्तित्व' नामक निबंध भी आधुनिक साहित्यिक चिंतन की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है। भारतीय आचार्यों का रसवाद व्यक्ति की अपेक्षा समष्टि या लोक की भावभूमि पर अधिक आश्रित है। योरूपीय काव्य-समीक्षा में टी० एस० इलियट का यह सिद्धांत कि कलाकार सर्जन के समय व्यक्तित्व का क्रमिक विलोप करता है एक नवीन प्रस्थापना है। इसी संदर्भ में लेखक ने व्यक्तित्व और चरित्र के अन्तर को अत्यन्त स्पष्टता से विवेचित किया है। व्यक्तित्व अन्त प्रसूत सुसबद्धता परिचायक है तथा चरित्र एक बाह्य मनमाने, कठोर आदर्श की बाध्यतापूर्ण स्वीकृति है। (पृ० ४४) अन्त में लेखक निर्वैयक्तिक रूप को मान्य

ठहराता है जो ग्राधुनिक काव्य चिंतन का मेरुदंड है। उसकी यह निर्वैयक्तिकता भी जीवनगत मूल्यों की सापेक्षता म मान्य है जो लेखक की ग्रपनी प्रस्थापना है। ✓

इस प्रकार पुस्तक में सग्रहीत ११ निबंध, साहित्य के विविध ग्रगों का विश्लेषण एव विवेचन प्रस्तुत करते हुए लेखक की कुछ महत्वपूर्ण मान्यताग्रों एव प्रस्थापन ग्रो को समक्ष रखते हैं। सपूर्ण रुप में पुस्तक काव्य शास्त्रीय दृष्टि से पठनीय है। भाषा सस्कृतनिष्ठ है ग्रौर विषय के ग्रनुसार भाषा का प्रयोग भी हुग्रा है पर इतना मानना पडेगा कि ग्राचाय जी की भाषा सस्कृतनिष्ठ होन के कारण कहीं-कही पर दुरुह हो गयी है ग्रौर कहीं—कहीं पर वाक्य विन्यास जटिल भी हो गये हैं। ऐसे स्थल कम ही हैं।

———

था, उन्होंने निम्न वर्ग के पात्रों का यथार्थ चित्र दिया, पर मध्य वर्ग के प्रति वे न्याय न कर सके।" (पृ० ३६) अज्ञेय का कथन कुछ सीमा तक ठीक माना जा सकता है पर मध्यवर्ग के अनेक पात्रों का उन्होंने उसी संवेदना से चित्रण किया है जैसा कि निम्न वर्ग के पात्रों का। गोदान, रंगभूमि और गबन में अनेक मध्यवर्ग के पात्रों को पूरी सहृदयता प्राप्त हुई है तथ्य तो यह है कि गबन में मध्यवर्गीय परिवार की मन स्थिति एवं कुंठा का जो चित्र अंकित है वह अपने में संपूर्ण माना जा सकता है।

जहा तक 'निराला' की आलोचना का प्रश्न है अज्ञेय की दृष्टि अधिक संतुलित है क्योंकि निराला साहित्य को समझने के लिये केवल निराला के आर्थिक परिवेश को ही मद्देनज़र में रखना उनके मूल्यांकन के प्रति एक अधूरी दृष्टि होगी। (पृ०३६) यह भी सत्य है कि हिन्दी के अनेक आलोचकों ने निराला की आर्थिक दशा को लेकर उनके साहित्य को परखा है पर वे यह भूल गए है कि साहित्य सर्जना एक आंतरिक ललक है जो वाह्य परिस्थियों से प्रभावित तो हो सकती है पर नितांत प्रेरित नहीं। यही बात प्रेमचंद के बारे में भी मानी जाती है कि वे निर्धन थे पर सत्यता इसके विपरीत है उनका अपना मकान था। वे बहुता को धन भी देते थे। (दे० कलम का सिपाही-प्रेमचंद ले० अमृतराय)

इन निबंधों के अतिरिक्त कुछ निबंध आधुनिक भावबोध एवं संवेदना से सम्बन्धित हैं जिनका सम्बंध नई कविता के संदर्भ को प्रस्तुत करता है। ऐसे तीन निबंध प्रमुख हैं।

इनके नाम हैं—(१) सौन्दर्य बोध और शिवत्व बोध
(२) साहित्य बोध आधुनिकता के तत्व
(३) नयी कविता (एक संवाद रूप)

मेरी दृष्टि में ये तीन निबंध इस पुस्तक के प्रमुख निबंध कहे जा सकते हैं क्योंकि इनमें अज्ञेय के ऐसे विचारों का प्रत्यक्षीकरण होता है जो उनके रचना धर्म के तत्वों एवं पहेलुओं पर प्रकाश डालते हैं। इनमें से प्रथम दो निबंधों में अज्ञेय की वैज्ञानिक-दृष्टि का पता भी चलता है और साथ ही उनके वैज्ञानिक ज्ञान का एक साहित्यिक-परिवेश भी मिलता है। अज्ञेय विज्ञान के विद्यार्थी रहे हैं अतः उन्होंने साहित्य और विज्ञान के उन स्तरों का भी समन्वय किया है जहाँ वैज्ञानिक विचार का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है। सौन्दर्य बोध और शिवत्व बोध में सौंदर्यानुभूति' को लेकर कुछ बात कही गई है जो सौंदर्य-बोध के एक व्यापक परिप्रेक्ष्य को,

वैज्ञानिक

आयाम

वैज्ञानिक-तर्क और प्राकृतिक-नियम | १

वनानिक विकास का इतिहास यह प्रकट करता है कि तक का एक जाल न्नान की प्रगति से अनुस्यूत है। इसका यह तात्पय नहीं है कि वनानिक प्रगति और चिंतन केवल तर्काश्रित प्रक्रिया है, पर इतना तो सत्य है कि वनानिक अनुभवों की पृष्ठभूमि में कारण तथा तक-बुद्धि का एक विशिष्ट स्थान रहा है। जब भी हम वैज्ञानिक-चिंतन के स्वरूप पर विचार करते हैं तब इस तथ्य को भुला नहीं सकते हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि वनानिक प्रगति का इतिहास काय और कारण की शृखला से जुडा हुआ है यह दूसरी बात है कि इस नियम की सीमायें एक निश्चित परिवेश के अन्दर ही काय करती हैं। दूसरी ओर यह भी सत्य है कि इस नियम ने एक तार्किक-बुद्धि का विकास किया और इस विकास ने वनानिक चिंतन को एक दिशा अवश्य प्रदान की है। इस प्रकार तार्किकता' का प्रथम उन्मेष यहीं से माना जा सकता है क्योंकि प्राकृतिक-नियमों का अन्वेषण इसी पद्धति के द्वारा सम्भव हो सका। इन नियमों का वनानिक प्रगति के इतिहास से एक अटूट सम्बन्ध है क्योंकि इनका महत्व केवल भौतिक जगत सापेक्ष ही नहीं है पर उनके द्वारा हम विश्व के अनेक रहस्यों के प्रति जानकारी प्राप्त करते हैं और समष्टि रूप से, ये रहस्य विश्व-रचना तथा सत्य के प्रति हमारी जिज्ञासा को शान्त करते हैं। मैं समझता हू कि प्राकृतिक-नियमों का सबसे बडा महत्व इसी दृष्टि से है कि वे स्वय मे साध्य नहीं हैं वे तो केवल साधन मात्र हैं किसी 'साध्य' तक पहुँचने के लिये अथवा उस साध्य के प्रति एक सांकेतिक दृष्टि प्रदान करने के लिये।

प्राकृतिक-नियमों के इस महत्व को ध्यान में रखकर इन नियमों के बारे में एक प्रश्न और उठता है और वह यह है कि वनानिक क्षेत्र मे इन नियमों की अनेक कोटियाँ हैं जो विभिन्न वनानिक-विषयों से सम्बन्धित हैं। उदाहरणस्वरूप नक्षत्र विद्या मनोविज्ञान भौतिकी रसायन प्राणिशास्त्र आदि क्षेत्रों में प्राकृतिक नियमों का एक हुजूम प्राप्त होता है। इनका समष्टि रूप से विवेचन करना एक अत्यन्त दुलभ काय है। इस समस्या का समाधान मेरे विचार से उन नियमों का समष्टिगत विवे

चन हैं जो विश्व मानव तथा प्रकृति के किसी न किसी रहस्य के प्रति सकेत करते हैं। दूसरी बात यह है कि इन नियमों का सम्बन्ध विज्ञान के किसी भी विषय से क्यों न हो, वे सब एक ही 'विज्ञान' से सम्बन्धित हैं जो ससार के 'सत्य' को किसी न किसी रूप मे उद्घाटित करते हैं। इस दृष्टि से प्राकृतिक नियमों का एक तार्किक स्वरूप है जो किसी विशिष्ट परिस्थिति म कार्यशील रहता है और कभी कभी ऐसा भी होता है कि य नियम काय और कारण की सीमाओं म बँध नहीं पाते हैं। यहा पर आकर वैज्ञानिक चिंतन का वह स्वरूप प्राप्त होता है जो धारणात्मक है।

सबसे महत्वपूर्ण नियम जो प्राकृतिक घटनाक्रम म केवल महत्वपूर्ण ही नहीं है पर सामान्यत उनका शासित भी करता है। यह नियम गति-नियम है। गति (Motion) एक ऐसी धारणा है जो समस्त विश्व के पदार्थों से किसी न किसी रूप से सम्बन्धित है। गलीलियो का गति सिद्धान्त पूर्णरूपेण सत्य नहीं है और यही बात न्यूटन के बारे म भी सत्य है। परन्तु न्यूटन का गुरुत्वाकर्षण शक्ति का सिद्धान्त इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि गति और आकर्षण शक्ति दोनो का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। नक्षत्र विद्या के सन्दर्भ म इन दोनो नियमो का महत्वपूर्ण स्थान मान्य रहा है और इस दृष्टि से वैज्ञानिक विचार का आयाम विस्तृत ही हुआ है। गति और आकर्षण नियमों के द्वारा समस्त सौर मण्डल मे समरसता स्थापित हो सकी और विश्व के रहस्य के प्रति एक तात्विक दृष्टि प्राप्त हुई। वैदिक ऋषियों ने प्रजापति की धारणा के द्वारा केन्द्र शक्ति के सिद्धान्त को समक्ष रखा था। (दे० वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, श्री गिरधर शर्मा चतुर्वेदी पृ० ११७) प्रजापति समस्त प्रजाओं का पति है और वह समस्त पदार्थों का केन्द्र होने के कारण प्रत्येक पदार्थ अपने केन्द्र के प्रति आकर्षित होता है। ग्रह तथा नक्षत्र की गतियां इसी आकर्षण पर आश्रित है। यह मान्यता न्यूटन गलीलियो के समय तक मान्य रही पर बीसवी शती म आकर इस नियम के प्रति प्रश्नचिह्न लगने लगे। आइस्टाइन ने गुरुत्वाकर्षण के नियम को ग्रहो तथा नक्षत्रो की गति मे पूर्ण रूप से कार्यशील नहीं माना। कहने का तात्पर्य यह है कि गति तथा आकर्षण अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रस्थापनाए हैं पर उनकी सत्यता सभी परिस्थितियों तथा दशाओं म समान रूप से प्रामाणित नहीं मानी जा सकती। न्यूटन एक आस्तिक आस्थावाला व्यक्ति था और आइस्टाइन भी आस्तिकवादी है। यही कारण है कि वैज्ञानिकों की आस्था म तर्क और भावना का समाहार रहता है। यह भी सत्य है नास्तिक मे भी तर्क होता है पर उसका प्रयोग नकारने म ही अधिक प्रयुक्त होता है। मैं इस तथ्य का पक्षपाती रहा हू कि बगैर आस्था और आस्तिकता के हम 'सत्य' के निकट नहीं पहुँच सकते हैं। शर्त केवल यह है कि हमारी आस्तिकता अन्ध विश्वास पर आश्रित न हो। यहाँ पर आस्तिकता शब्द केवल धर्म

से ही सम्बन्धित नहीं है, पर वह मानवीय क्रियाओं का वह पूरक एवं महत्वपूर्ण तत्व है जो मानवीय बुद्धि तथा प्रज्ञा को 'आस्था' की ओर ले जाती है। चिन्तकों दार्शनिकों तथा तत्ववेत्ताओं में आस्था का वही रूप प्राप्त होता है।

वैज्ञानिक नियमों तथा सिद्धान्तों के आस्थापरक स्वरूप का महत्व वैज्ञानिक चिंतन में किसी न किसी रूप में मान्य रहा है। एक अन्य महत्वपूर्ण नियम उद्गम नियम है जो विकासवाद के नाम से प्रख्यात है। इस सिद्धान्त के अन्दर तत्व मानवीय चिन्तन को एक नवीन आयाम ही नहीं दे सके पर इसने जीवन तथा विश्व के विकास को एक नवीन परिप्रेक्ष्य में रखने का प्रयत्न किया। हर नियम की अपनी सीमायें भी होती हैं और विकासवादी नियम की भी अपनी सीमायें हैं पर इतना निश्चित है कि इसने मनुष्य को एक दिव्यता अवश्य प्रदान की है पर यह दिव्यता अन्य जीवों की सापेक्षता में ही विद्यमान है। मानव अब एक आकस्मिक घटना का फल नहीं है और न ईश्वर का एक अंश पर वह अन्य जीवों से कहीं अधिक विकसित है। भौतिक तथा मानसिक दृष्टि से वह विकास क्रम सबसे अधिक विकसित रूप है। इस सन्दर्भ में ली काम्ते द्यू न्यू का कथन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उसका कहना है कि जहां तक भौतिक विकास का प्रश्न है, मानव का भावी विकास इस दिशा में समाप्त हो चुका है या समाप्तप्राय है पर दूसरी ओर मानसिक एवं बौद्धिक विकास की दृष्टि से, उसका भावी विकास सम्भव है। यहीं पर उसकी "दिव्यता" का रूप मुखर होता है। (दे० ह्यूमन डेस्टनी, पृ० ७६–७७) सत्य में निर्वाचन और सह अस्तित्व—ये दो तत्व मानव प्राणी के भावी विकास के दो मूलतत्व हैं। इन्हीं का आधार ग्रहण कर वह अपनी दिव्यता का प्रकाशन क्रमशः कर सकता है। यह निर्वाचन की स्वतन्त्रता मानव की अन्तश्चेतना पर आश्रित है, इसी से विकासवादी चिन्तन में मानवीय अन्तश्चेतना के क्रमिक विकास पर बल दिया गया है। वह कोई अनायास घटित घटना नहीं है पर इस घटना का सीधा संबंध अजैव और जैव जगत से माना गया है। यही कारण है कि युगों से मान्य यह धार्मिक धारणा कि मानव का आविर्भाव अनायास ईश्वर के अंश रूप में हुआ है, इस मान्यता को विकासवादी सिद्धान्त ने निर्मूल सिद्ध कर दिया है। मानव चेतना का क्रमिक विकास हिन्दू संस्कृति में मान्य अवतार की भावना में देखा जा सकता है। इस धारणा का मूलतत्व यही है कि मानव नाम धारी प्राणी का विकास अनायास न होकर एक विगत लम्बी परम्परा से सम्बद्ध है। इस क्रमिक विकास की एकसूत्रता का संकेत दस अवतारों में देखा जा सकता है। प्रथम अवतार मत्स्य है जो नितांत जल में रहने वाला जीव है। इसके बाद दूसरा अवतार कूर्म है जो अंशतः जल में और अंशतः पृथ्वी पर रह सकने में समर्थ है। इस कूर्मावतार की अवस्था में विकास का एक कदम आगे बढ़ा हुआ ज्ञात होता है जिसे

वज्ञानिक शब्दावली मे 'एम्फीबियन' की सना दी गई है। बाराहावतार तक आते आते स्तनधारी जीवा (ममल्स) का प्रादुर्भाव होता है जो धरती पर रहता है। चौथे अवतार मे नरसिह का नाम आता है जो एक ओर 'नर' और दूसरी ओर 'सिंह' की मिश्रित अभिव्यक्ति है जो यह तथ्य प्रकट करती है कि मानव में 'पशु' का अश अब भी शेष है जिसका उन्नयन वामन अवतार मे होता है जो मनुष्यता का एक आनि विकसित रूप है। इस पर भी मानव मे रक्त पिपासा की पशु प्रवृत्ति प्राप्त होती है उसीका मानवीकरण परशुराम है। सातवा रामावतार है जो परशुराम की प्रवृत्ति का दमन करते हैं और मानव चेतना के ऊर्ध्वगामी रूप म पुरुषोत्तम' की सज्ञा प्राप्त करते हैं। रामकथा म राम के द्वारा परशुरास का गव-दमन इसी तथ्य का प्रतीकात्मक निर्देशन है। दूसरी ओर विष्णु के कृष्णावतार मे चतुमु खी व्यक्तित्व का विकास होता है *जिसम बुद्धि मानस का सु दर विकास द्रष्टव्य है। नवा अवतार* बुद्ध का है जो प्रत्येक वस्तु को अनुभूति एव बुद्धि की तुला पर तौलता है। इस अवतार म आकर मानव के भावी विकास का भी सकेत मिलता है जो कल्कि अवतार मे अपनी चरम परिणति मे प्राप्त होता है। (दे० पुरानाज इनद लाइट आफ माडन साइ स, के०एन० अय्यर पृ० २०६)

इस प्रकार विकासवादी सिद्धा त में हमे अनेक सशोधन एव परिवतन प्राप्त होते हैं। प्राकृतिक निर्वाचन का नियम विकासवाद के अ तगत, एक अय त महत्व पूण तत्व है। इस तत्व ने काल का (Time) प्रवेश जीवशास्त्र के क्षेत्र म किया और हमे यह मानने को विवश किया कि मानवीय इतिहास एक सामान्य परिवतन का एक क्रमागत रूप है जो प्राकृतिक निर्वाचन से चालित है। (दे० *मन इनदि* माडन वल्ड जे० हक्सले पृ० १९९) अस्तित्व के लिये सघष और उसमें बलवान या शक्तिशाली की विजय का नियम एक सीमा तक ही सही है। डारविन ने इस तत्व का समावेश प्राकृतिक निर्वाचन के स दभ म प्रस्तुत किया था। परन्तु आगे चलकर हाल्डेन हक्सले आनि विकासवादी चि तकों ने इसे मानवीय क्षेत्र म अमा य माना क्योंकि उनका कथन था कि निम्न जीवो म यह नियम कामशील हो सकता है, पर मानव जसे विकसित प्राणी मे केवल बलवान ही विजय का अधिकारी हो यह तक सम्मत मत नही है। इसी स्थान पर सह-अस्तित्व के नियम को मानव के स दभ में अधिक याय सगत स्वीकार किया। इसका यह तात्पय नहीं है कि सघष का महत्व ही मानवीय सदम म नहीं है। *सघष और जीवन—इन दोनों का अ योन्य सम्ब ध है।* मानव जीवन म सघष का महत्व प्रतिद्व द्वता मे न होकर प्रतियागिता या प्रतिबद्धता में है। इस दृष्टि से, विकासवादी सिद्धान्त म मानववादी दृष्टि का भी समावेश हो जाता है।

जीवन की समस्या | २

वैज्ञानिक चितना का एक विशिष्ट आयाम् विकासवादी अन्तर्दृष्टि का क्षेत्र रहा है जिसने मानवीय मूल्यों तथा जीवन की समस्या को समझने का प्रयत्न अपनी विशिष्ट पद्धति के द्वारा किया है। यहा पर जीवन की समस्या तथा उसके कुछ नियमों का विवचन अपेक्षित है क्योंकि उनके द्वारा हम जीवन के रहस्य तथा उसके आयाम को एक तार्किक शृखला के रूप मे अनुस्यूत कर सकते हैं।

जब भी जीवन के उद्भव तथा उसके सगठन का प्रश्न आता तब वैज्ञानिक चितन म जीवन की अवयवधारणा ' का एक महत्वपूर्ण स्थान हैं जो जीवशास्त्रीय दृष्टि से एक तार्किक नियम का रूप माना गया है। विकासवाद के अन्तर्गत प्राण शक्ति एक विकासित रूप हमें एक कोषीय प्राणी से अनेक कोषीय प्राणियो तक प्राप्त होता है। एक कोषीय प्राणी 'अमीबा मे जीवन का सगठन अपने आदितम् रूप मे प्राप्त होता है और यह सगठन उतना ही जटिल होता जाता है जसे जैसे अनेककोषीय प्राणियों का विकास होता जाता है। यह विकास की अनेककोषीय परिणति केवल जीवधारियों की ही विशेषता नहीं है पर जल मे तथा धरती पर प्राप्त वनस्पतियों म यह परिणति दर्शनीय है। अवयव सिद्धात (Theory of Organism) इसी तथ्य पर आधारित है कि भौतिक मनुष्य का विकास 'अवयव' का क्रमागत विकास है जो अपने आदितम् स्रोत मे अन्तिम जीवन प्रकार से सम्बधित है (ह्यूमन डेस्टनी, ली कमते न्यू इयू पृ० ५५) भ्रूण (Embryo) का शुरू से अन्त तक का विकास, उन सभी जीवन प्रकारो से होकर गुजरता है जो उनके विकास के इतिहास मे पूव घटित हो चुके होते हैं। यही कारण है कि शिशु जन्म की नौ महीने की अवधि उन सभी पूव स्थितियो की 'स्मृति' हैं जिससे मानव का विकास क्रम घटित हो चुका है। अमीबा से लेकर मानव तक की विकास यात्रा, अवयवधारणा के अनुसार एक क्रमिक अवयवी विकास यात्रा है जिसमे इतिहास स्मृतियों की पुनरावत्ति होती है। अत जीवन की क्रिया एक सीमित क्रिया है और यह सीमित क्रिया 'सगठन" पर आधारित है। यहा पर जीवन का ऐतिहासिक पक्ष

समझा जाता है और इसी तथ्य पर जीवशास्त्रीय विचारकों ने अवयवी (Organism) को 'ऐतिहासिक व्यक्ति (Historical Being) के रूप में स्वीकार किया है। (प्राबलम आफ लाइफ, लुडविक वान् बरटालेनफी पृ० १०६)।

जीवन के स्वरूपको समझने के लिए वैज्ञानिक शब्दावली में 'संगठन' शब्द के अर्थ को समझना आवश्यक है। इस शब्द के स्वरूप विवेचन पर 'जीवन' के स्वरूप का चित्र स्पष्ट होता है। जीवधारियों में संगठन का अर्थ अनेक तत्वों की जटिलता का पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रियात्मक रूप है। ये सभी तत्व सापेक्षिक होकर एक 'अवयव' की धारणा एवं रचना में सहायक होते हैं। जिस प्रकार परमाणुओं के संगठन से अणु की संगठना होती है उसी प्रकार अनेक तत्वों के पारस्परिक सम्बन्ध से अवयव की संगठना होती है। अतः इन तत्वों तथा प्रक्रियाओं (Process) के परिवर्तन से सम्पूर्ण में परिवर्तन होता है और जब इन तत्वों और प्रक्रिया का नाश हो जाता है, तब वह संगठन भी नष्ट हो जाता है। जीवशास्त्र का यह दायित्वपूर्ण कार्य है कि वह उन नियमों तथा सिद्धांतों को स्थापित करें जो जीवन के संगठन तथा व्यवस्था को बनाये रखते हैं।

इन नियमों का जीवन की व्यवस्था तथा संगठन से घनिष्ट सम्बन्ध हैं। ये नियम तो अनेक हैं पर उनमें से कुछ नियम अत्यन्त महत्वपूर्ण जो जीवन के रूप को रेखांकित करते हैं। चतुर्थावयविक कोशों का विभाजन एवं कोष और उससे उत्पन्न कोशों का एक संगठित रूप है जिसका विवेचन शुरू में हो चुका है। दूसरा महत्वपूर्ण नियम पैतृक संस्कारों के वाहक तन्त्व 'जीन' (Genes) का अनुक्रमिक रूप है जिसके द्वारा संगठन का आंतरिक पक्ष पुष्ट होता है। आंतरिक पक्ष से मेरा तात्पर्य उन गुणों तथा विशेषताओं से है जो संस्कार के रूप में किसी जीवधारी के शिशु को प्राप्त होती हैं। मैंडिल का यह जीन सिद्धान्त संगठन के एक महत्वपूर्ण पक्ष का उद्घाटन करता है जो जीवधारियों के मानसिक एवं बौद्धिक विकास का मूल तत्व है। मैंडिल ने किसी स्थान पर लिखा था कि विज्ञान केवल तथ्यों का आकलन एवं संगठन नहीं है तथ्य उसी समय ज्ञान का रूप धारण करते हैं जब वे धारणात्मक पद्धति के अन्तर्गत आते हैं। मैंडिल ने जीन सिद्धान्त के अन्तर्गत तथ्यों को यही धारणात्मक रूप दिया है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि विज्ञान केवल तथ्य-परक नहीं हैं पर वह धारणात्मक चिन्तन का भी क्षेत्र है। जीननियम के अतिरिक्त तीसरा तत्व शारीरिक आकृति और शरीर के अन्दर होने वाली भौतिक प्रक्रियाओं का अनुक्रमिक रूप है। एक जैविक अवयव (organism) केवल शारीरिक आकृति सम्बन्धी अनुक्रम को भी प्रदर्शित नहीं करता है, पर इसके अतिरिक्त वह आंतरिक

प्रक्रियाओ के अनुक्रम का भी प्र`शित करता है इसी धरातल पर जविक अवयव' का एक पूर्ण रूप प्राप्त होता हैं ।

इन तीन महत्वपूर्ण तत्वो के प्रकाश मे सगठन और जविक अवयव का एक सापेक्षिक सम्बध प्राप्त होता है। इसे ही जीवशास्त्रीय शब्दावली मे जीवन की व्यवस्थित धारणा (Systemic conception of Life) कहा गया है। उस धारणा के अन्तगत अविक आकृतियो (Organic structures) का स्वरूप स्थिर नही होता है, पर मूलत गत्यात्मक होता है। यह गत्यात्मकता जीवन के एक महत्वपूर्ण रहस्य ' वद्धि की ओर सकेत करती है। वद्धि (Growth) जीवन का एक आवश्यक तत्व है क्योंकि बिना इस तत्व के जीवन की विकसित दशा को हृदयगम नही किया जा सकता हैं ।

जीवन की यह गत्यात्मकता एक अन्य तत्व की ओर सकेत करती है। वह यह कि जीवन का प्रभुत्व सब स्थानो पर है चाहे वह पृथ्वी हो या अन्य ग्रह एव नक्षत्र। यह दूसरी बात है कि जीवन का रूप आवश्यकतानुसार परिवर्तित हो गया हो उसमे विभिन्नता के दशन होते हो, पर मूलत जीवन की विश्वजनीय शक्ति का वह एक अनेक पक्षीय रूप है। इसे ही श्री अरविन्द ने ब्रह्माडीय जीवन शक्ति (साइस एड कल्चर महर्षि अरविंद पृ० ३६) की सना दी है जो जविक और अजविक विश्व मे समान रूप से व्याप्त हैं। जीवन की घटनाओं का मूलभूत तत्व यही गत्यात्मक शक्ति है जो समस्त ब्रह्माड मे व्याप्त है। इस धारणा को केवल कल्पना और आदर्शीकरण का रूप नही माना जा सकता है क्योंकि आधुनिक विज्ञान के अनेक रहस्य आदश की किसी न किसी धारणा की ओर अग्रसर हो रहे हैं ।

उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश मे यह तथ्य भी समक्ष आता है कि जीवन मे जहाँ पर विभिन्नता है वही दूसरी ओर उस विभिन्नता मे एकता भी विद्यमान है। है। जीवधारियो म जीवन की एकता का स्वरूप अनेक दृष्टियो से देखा जा सकता है यदि हम उसे मानवीय मानदण्ड से देखें और परखें! इस दृष्टि से समस्त जीवधारियो म शुभ और अशुभ (पाप व पुण्य) की कोई न कोई भावना समान रूप से प्राप्त होती है। अच्छे और बुरे का यह विस्तार समस्त प्राणी-जगत की एक विशेषता है जो उसकी एकता का रूप माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त जीव विज्ञान विभिन्न जातियो मे सहयोग की भावना परिस्थिति-जन्य आचरण तथा प्रजनन प्रक्रिया—ये कुछ अन्य क्षेत्र हैं जहाँ जीवन की एकता दशनीय है (दि यूनटी एड डाइवर्सिटी आफ लाइफ हाल्डेन पृ० ४०–३१) आवृति, शारीरिक रचना मनस्चेतना आदि के क्षेत्र मे हमे विभिन्नता के दर्शन होते हैं। विभिन्नता का महत्व

उसी सीमा तक स्वीकार किया जा सकता है जहाँ तक प्रत्येक वग तथा जीवधारी अपने स्वयम' का पालन कर सकने मे समय हो। जे० बी० एस० हाल्डेन ने इस 'स्वयमपालन' को जीवन की एकता तथा विभिन्नता के इस आयाम को दृष्टि मे रखकर, जीवन के एक अभिन्न अङ्ग 'व्यक्ति' (इन्डीव्यूजअल) के स्वरूप को समझना भी आवश्यक है। जीवशास्त्र में "व्यक्ति" की परिभाषा एव सामान्य परिभाषा मानी जा सकती है जबकि मनोविज्ञान में व्यक्ति की परिभाषा एक विशिष्ट परिभाषा कही जा सकती है। जीवशास्त्रीय एव विकासवादी दृष्टि के अनुसार 'व्यक्ति एक ऐसा जीवधारी है जो दिक काल और क्रिया के परिप्रेक्ष्य में जीवित रहता है और इसके साथ ही एक निश्चित जीवन चक्र का पालन करता है। विकास के निम्नतर स्तर में अमीबा और हाइड्रा को यदि दो भागो मे विभाजित किया जाता है तो प्रत्येक भाग एक व्यक्ति की तरह आचरण करता है। कुछ इसी प्रकार की स्थिति मानव-नामधारी प्राणी मे यदा कदा देखी जाती है जब डिंब (Ovum) के सिंचन के पश्चात वह दो में विभक्त हो जाता है और दो शिशु एक साथ उत्पन्न होते हैं। यहाँ पर भी व्यक्ति' की धारणा एक भौतिक रूप है जबकि 'व्यक्तित्व की धारणा व्यक्ति के समस्त आतरिक एव बाह्य गुणों या अवगुणो का एक समष्टिरूप है। इस दृष्टि मे व्यक्ति की धारणा एक प्रगतिशील एकीकरण की धारणा है जिसम शारीरिक पतृक सस्कार नाडी सस्थान और जीवन चक्र का एक आनुपातिक एकीकरण प्राप्त होता है। प्रसिद्ध जीवशास्त्रीय बरटालनफी चितक ने 'व्यक्ति को एक सीमा माना है जिसका साक्षात्कार तो नही हो सकता है पर जिस तक पहुचा जा सकता है (प्राबल्मस आफ लाइफ पृ० ५०) यह तथ्य एक अन्य दिशा की ओर भी सकेत करता है कि व्यक्ति की भावना कोई पूण भावना नही है यही कारण है कि पूण व्यक्ति की भावना एक नितान्त परिकल्पना है अथवा दूस-शब्दों म एक आदश मूलक धारणा हैं। जीवशास्त्र की दृष्टि से पूण-व्यक्ति से तात्पय केन्द्रीकरण में है जिसका सम्बध नाडी-सस्थान (सुषुम्ना नाडी-स्पाइनल काड) से है और इस केन्द्रीकरण के विरोध मे विकेन्द्रीकरण या बिखराव की प्रवृत्ति भी प्राप्त होती है। इसी से जीवधारियों मे केद्रीकरण की प्रवत्ति प्रजनन क्रिया मे व्यवधान भी दे सकती है। इसी के फलस्वरूप, विकेन्द्रीकरण की प्रवत्ति जीवधारियों के लिये कहीं अधिक महत्वपूण है, पर इसका यह अथ नहीं है कि केन्द्रीकरण का महत्व है ही नही। पर मेरे विचार से ये दोनो प्रवृत्तिया जीवन के स्थायित्व एव विकास के लिय समान रूप से महत्वपूण हैं।

अस्तु जीवन के विकास म केन्द्रीकरण एव बिखराव की प्रवृतियाँ निरपेक्ष न होकर सापेक्ष हैं क्योंकि जीवन के विकास म इन दोनों तत्वो का काय-कारण

सम्बध है। विकास-क्रम में किसी भी भङ्ग का (जीवधारी) विकास सयोग नही है, पर यह विकास सीमित है। यह विकास सीमित इसलिय हैं कि प्रकृति के नियम के अतगत प्रत्येक वस्तु या घटना का एक परिवेश होता है और यह 'परिवेश' उस वस्तु या घटना को एक मय देता है। इसके अतिरिक्त विकास का यह सीमित पक्ष तीन तत्वो के प्रकाश मे कार्यान्वित एव शासित रहता है। प्रथम तत्व जीन में आवश्यभावी परिवर्तन की प्रक्रिया है। जिसका सकेत ऊपर किय । जा चुका है। दूसरा तत्व उन प्रत्ययों से है जो विकास क्रम के दौरान किसी जाति या जीवधारी के विकास में अनेकानेक परिवतन लाते हैं। य प्रक्रिया सामूहिक भी है और व्यक्तिगत भी है। तीसरा तत्व जिसका सकेत प्रथम ही हो चुका है, वह सगठन के नियमों से सम्बन्धित है। इस प्रकार विकास की अपनी सीमायें लक्षित होती हैं, और घटित हुये विकास के आधार पर हम भावी विकास की सम्भावनाओ से भी अवगत हो सकते हैं।

●

मानव का भावी विकास | ३

विकास परम्परा पर दृष्टिपात करने पर हम देखते हैं कि पशु अब भी मानव म छिपा है, वतमान है, किन्तु पशु जिस कायिक अवस्था पर हैं मनुष्य उसके विकास की चरम अवस्था पर पहुँच चुका है। शारीरिक रचना के विकास की पराकाष्ठा मनुष्य के मस्तिष्क' मे परिलक्षित होता है। सच बात तो यह है कि मस्तिष्क के पूर्ण विकास के इस चरमात पर आ पहुचने के बाद अब कायिक विकास का अध्याय समाप्त होता है। साथ-साथ एक नये धरातल पर मानव के विकास के सकेत भी मिलने लगे हैं। मनुष्य मे बोलने की शक्ति या अथवती वाणी अर्थात् भाषा के विकास तथा 'स्वतन्त्रता' के आविर्भाव के साथ उसमे एक नये धरातल पर परम्परा और नतिकता के नये मूल्यो का विकास हो गया है। ये ही भावी सभाव्य विकास के सकेत-चिन्ह हैं।

विकास के क्रम को देखने पर हम यह निश्चित रूप से देख सकते हैं कि मानव शारीरिक सीमा का अतिक्रमण करके मानसिक धरातल पर ही नही आ गया। मान सिक धरातल पर तो वानर ही आ गया था। मनुष्य ने मानसिक पूर्णता पाकर उसकी सीमा का भी अतिक्रम कर नतिक धरातल पर चरण रख दिये हैं। और उसे सामने के उदयाचलीय क्षितिज पर अध्यात्म का प्रदेश भी साफ नजर आ रहा है। विकास का क्रम स्पष्ट ही शरीर मन-नतिकता अध्यात्म की दिशा मे हो रहा है। और मनुष्य के भावी विकास का दिशा निर्देशक प्रकाश-स्तम्भ है नतिक पूर्णता और अध्यात्म की प्राप्ति। यह एक कल्पनामूलक अटकल या अनुमान नहीं, वनानिक दार्श निकों के श्रम साध्य अध्ययन का निचोड है।

मानव इस समय विकास की एक सधि अवस्था से एक सक्रमण की अवस्था से गुजर रहा है। उसके पीछे है अतीत के घनीभूत होते हुए कुहासे में विलीन होती-सी शारीरिक और मानसिक विकास की परम्परा और सामने है नतिक तथा आध्यात्मिक चरमात्व के अनजीन लुभावने क्षितिज। वह एक चोटी पर खडा होकर दूसरी

ऊँची चोटियों को जीतने के सङ्कल्प से भरा उनकी ओर देख रहा है बल्कि विजय के महाभियान मे चल पडा है। एक ओर वह पशु-स्तरीए मूलप्रवृत्तियों के मलिन बन्धन से मुक्ति पाने का अकुला रहा है दूसरी ओर नैतिक उत्कर्ष तथा आध्यात्मिक परिपूर्णता की सात्विक लालसा से वह आगे बढन का ललक रहा है। किन्तु विकास की यह परम्परा बहुत लम्बी है जिसका एक छोटा-सा खण्ड हम वसे ही नजर आ रहा है जसे एक करोडों मील लम्बी राह पर कही बीच म एक माटी का दीया जुगजुगा रहा हो। और थोड-स माग को आलोकित करके दिखलायी पडने द रहा हो। वतमान का विस्तार विकास के अनन्त क्रम म माटी के दीय के आलोक की परिधि से क्या अधिक है? पर वह छोटी-सी आलोक-परिधि एक बहुत बडी शृखला के दो खण्डों को क्या जोड नही रही है अगाध अतीत और अकल्पनीय भविष्य की शृखलाओं को?

और मानव का विकास नतिक धरातल पर हो रहा है इसका आशय क्या है?

मानव मे स्वतन्त्रता का आविर्भाव हो चुका है। इसका आशय है कुछ करने या न करने की चयन की शक्ति, अर्थात् यह स्वातन्त्र्य उसकी चयन-बुद्धि पर निभर है और यही उसकी नतिक मान्यताओं और नैतिक मूल्यो का मेरुदण्ड है। विकासवाद के अनुसार यह चयन क्षमता प्राकृतिक चयन-विधि की ही दिशा म काय करेगी। इसका आशय यह है कि मनुष्य का विकास ऊपर निर्देश की गयी दिशा मे होगा ही वह केवल उसे त्वरित कर सकता है तेज करता है अवरुद्ध नही। आगे चयन की प्रक्रिया और स्वतन्त्रता की अभिवद्धि ही होती जाएगी तथा नतिक मूल्य इसी तथ्य पर आश्रित रहेंगे कि वे विकास की उपरिनिर्दिष्ट प्राकृतिक परम्परा को पोषित करते हैं उनके साधन बनते है व्याघात नही।

वास्तव में नतिक मूल्यों का आधार शिव अशिव सत् असत् अच्छे बुरे सही गलत आदि की धारणाए बुनियाद मे विकासमूलक ही है। इनका मूल है प्राकृतिक चयन म। प्राकृतिक चयन के क्रम मे वह चुना है जो विकास की परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने म सक्षम होता है। तथा मस्ति क के विकास और भाषा के आविर्भाव के साथ वही मानसिक धरातल पर ग्रहण किया जाने पर नतिकता का मूलाधार बना—शिव सत्, अच्छा सही मगल आनन्द और जटिल विधि से वही धम का भी आधार बना। सच बात तो यह है कि नतिकता ही नही धम भी विकास के ही क्रम का परिणाम है और 'इश्वर' चरम लक्ष्य या चरम शक्ति सम्भावना और ऐश्वय का साकार मानवीकृत स्वरूप जो भव है और प्राप्य है। देवता शिव के सत्

के मानवीकृत प्रतीक हैं, तथा असुर या दानव अशिव के, असत् के, अमंगल के। देवता स्वाभाविक विकास की सहयोगी शक्तियां और मूल्यों के प्रतीक हैं, असुर विरोधी शक्तियों और मूल्यों के। पुण्य और पाप का भी यही मूल है।

श्रीअरविन्द ने अवचेतना के ऊपर चेतना और आगे अतिचेतना की मान्यता स्थिर की है। यह अतिचेतना पशुत्व के अतिक्रांत मानव के आध्यात्मिक स्तर का ही द्योतन करती है।

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट है कि मानव का भावी विकास नैतिक और आध्यात्मिक धरातल पर, उसकी स्वतन्त्र चयन शक्ति द्वारा, सम्पन्न होगा। और उसकी दिशा होगी पुण्यमूलक, शिवपरक, जहां आत्मा का अमलिन प्रकाश फूट पड़ेगा।

विकास— एक शब्द-चित्र | ४

गहन अ धकार चारो ओर। और इसी नीरव अ धकार म कही कही पर स्पन्दन का आभास। इस आभास ने सम्पूर्ण पृष्ठभूमि पदार्थ"! (Background material) को जसे आदोलित कर दिया हो। इसी आंदोलन से इसी स्पन्दन से समस्त प्रकृति' एकबारगी क्रियाशील हो उठी। यह आदोलन ही तो विश्व का अनादितत्व" है जिसके द्वारा विकास एव सृष्टि की सभी मावभगिमायें निहित हैं इसी अ धकार मे अनेक आकृतिया प्रादुभू त एव विलीन होती ह। लय और विलय का यह चक्र अविराम गति से चलता जा रहा है।

इस निर तर चक्र में प्रथम आकार खिलखिलाकर हँसता है। यह आकृति ही अजव जगत (Inorganic) है। इस समय उसका ही एकमात्र राज्य है। विकास इस जगत (या आकृति) से कहता है— 'तुम अपने को क्या समझते हो, क्या मैं यहीं पर रूक जाऊँगा—कभी नही ?" इस गर्वोक्ति को सुनकर अजव जगत् कहता है मेरी तो यही ध्येय है कि मैं कुछ आगे बढ़ूँ, कुछ तुम्हारी प्रगती मे हाथ बटाऊँ।

वह कसे ?' और विकास ने उस पर दृष्टि जमा दी।

यह सुनकर अजव जगत् ने अनेक शाखाओ प्रशाखाओ मे अपने को विभाजित करना शुरू किया। विभाजन का यह क्रम कुछ समय तक चलता रहा। यह देखकर विकास आश्चर्यचकित हो गया और काफी देर बाद, उसे अपने म एक परिवतन, एक प्रगति का आभास प्राप्त हुआ। उसके सामने अ य प्रगतिशील जगत् उभरने लगा। अपने अ दर एक अद्भुत शक्ति को जसे उसने क्रियाशील पाया हो। अ त मे, उसने उस नवागन्तुक से पूछा, 'तुम कौन हो ?" उत्तर मिला, "मुझे नही पहचानते मैं ह तुम्हारी प्रगति का स्तभ।"

'मेरी प्रगति का स्तम कसे ?" वह विभ्रमित हो गया।

"मैं हूँ जव जगत (Orgnaic world) का प्रगतिशील स्तम, क्या तुम मुझे नहीं जानते ?"

यह कहकर, जव जगत् ने अपने आयामो को विस्तार देना प्रारम्भ किया, क्योकि उसके अयमो म विकास की प्रगतिशीलता समाई हुई थी। विकास ने विस्मित होकर जव जगत् को देखा और पूछा, य० तुम क्या कर रहे हो ? अपनी सीमाओं को तोड रहे हो।"

'सीमाओं को तोडे बगर चेतना का विकास कसे आगे हो सकता है। ये विभिन्न प्रकार के जीव एव प्राणी, जो तुम्ह अस्तित्व के लिए सघप करते हुए दिखाई दे रहे हैं, क्या वे अपनी सीमाओ को नहो तोड रहे ह ? यदि व एसा नही करेग तो वे कसे मेरा माग बदल सकेंगे ?" य, सुनकर समस्त जीव जगत् विकास की ओर देखकर मुस्करा उठा। उस समय विकास के तन मे स्फूर्ति तथा जीवनी रस का सचार होने लगा। उसे लगा कि उसकी प्रगति की दिशायें निश्चित हो रही हैं और जव जगत् उसे पूण करने के लिए क्रियाशील है। अब उसे लगा कि उसका भाग्य जैव और अजव दोनों से समान रूप से बँधा हुआ है जसे जीवन क साथ मृत्यु। यह सोचते सोचते उसने अपने नेत्रा को बद कर लिया और उसके अ ततम म जो निराशा का अ धकार व्याप्त था वह धीरे धीरे किसी तेज प्रकाश पु ज से लुप्त होने लगा। उस प्रकाश-पु ज का आकार गोल था जो क्रमश अपना विस्तार कर रहा था। उसने अनायास अपनी आँखें खोल दी और जव जगत से पूछा 'यह गोलाकार प्रकाश क्या है जो मुझे आतरिक प्रेरणा दे रहा है ?

'यह प्रकाश जो तुम्हारे अन्दर है वह मरे अन्दर भी है—यही नही वह तो समस्त ब्रह्माड मे है—कहीं व्यक्त है तो कहीं अव्यक्त।"

इस पर विकास ने प्रश्नसूचक दृष्टि से पूछा 'उसका नाम ?" जव जगत् ने शांत तथा गभीर स्वर में कहा—'यह है हमारा तुम्हारा भाग्य विधाता चेतना का प्रतीक जिसका अस्तित्व हमारा अस्तित्व है।

इच्छा और जिज्ञासा की समन्वित भूमि पर, विकास को अनुभव हुआ कि वह उस आकार के दशन करे उसका साक्षात्कार करे। इस ध्यय को पूरा करने के लिए उसने तथा जव जगत् ने चेतना की आराधना आरम्भ की। सच्ची आराधना तथा सच्चे विश्वास म एक बल होता है जो आराध्य को पास खींच लाता है। उनके विश्वास ने चेतना को प्रसन्न कर लिया और व₂ एक भव्य तथा प्रकाशवान् आकार

के रूप में अवतरित हुई। उसने सुमधुर स्वर म चेतावनी दी—'मैं अनादि काल से अजव और जव जगतो म अनेक रूपों म सघर्ष करती रही हू और आज इस स्थिति पर पहुची हूँ कि तुम्हारी प्रेरणा को और भी गतिशील कर सकू। मैं विकासशील हूँ—प्रगति पथ की अन्वेषिका हूँ। मैं नित नूतन क्षितिजो को स्पश करना चाहती हूँ। मैं एक ऐसे प्राणी का उदय चाहती हूँ जो मेरी शक्ति का उच्चतम बिन्दु हो—यही नहीं वह समस्त जीव-जगत् का सबसे विकसित प्राणी हो।

यह वचन कहते-कहते चेतना ने एक अद्भुत अभियान का रूप ग्रहण किया और उसने विकास को अपनी उच्चतम भेंट प्रदान की—मानव नामधारी प्राणी के रूप मे।

५

आधुनिक काव्य का भाव-बोध और वैज्ञानिक चिंतन

आज के वैज्ञानिक युग में किसी भी मानवीय ज्ञान का निरपेक्ष महत्व संभव नहीं है। उसका सापेक्षिक महत्व ही मान्य है। यह तथ्य केवल ज्ञान के लिए ही नहीं पर समस्त प्राकृतिक घटनाओं (फिनामिनन) तथा सृष्टि और उसके संतुलन के लिए 'एक सत्य' है। इस दृष्टि से भी विज्ञान और साहित्य का सापेक्ष महत्व है।

वैज्ञानिक चिंता धारा से प्रयोजन है वैज्ञानिक प्रस्थापनाओं को काव्य में इस प्रकार का रूप देना जो उसकी जटिलता को काव्य की 'सरलता' और मधुरता में रूपांतरित कर सके तथा उन सिद्धांतों तथा प्रस्थापनाओं के आधार पर वह मानव जीवन जगत तथा ब्रह्मांड के प्रति नव चिंतन को गतिशील कर सके। इस चिंतन में भौतिक प्रगति तथा तकनीक का प्रसंगवश सहारा लिया जा सकता है जो मानवीय विचार तथा तत्व चिंतन में सहायक हों। इस कार्य में कवि की अनुभूति तथा विज्ञान की तर्क शक्ति एक नवीन अर्थ अथवा प्रतिमान को जन्म दे सकती है।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि वैज्ञानिक-चिंताधारा को काव्य में लाया ही नहीं जा सकता है क्योंकि दोनों की प्रकृति तथा विचारों में अंतर है। यहाँ 'अंतर' का जो प्रश्न है उसे ही समन्वय का आधार बनाना है क्योंकि 'अंतर' को ही समतल भूमि पर लाना है जो विचारों का आवश्यक धर्म है। यही दर्शन का क्षेत्र है। जिस प्रकार एक कवि किसी धार्मिक दार्शनिक सिद्धांत तथा प्रस्थापना को काव्य की भावभूमि में प्रस्तुत करता रहा है, क्या उसी प्रकार वह वैज्ञानिक चिंता धारा को काव्यात्मक परिणति नहीं दे सकता है? इसके लिए आवश्यक है कि वह विज्ञान की गहराई को उसकी अंतःप्रेरणा को हृदयंगम कर उसे काव्यात्मक रूप प्रदान करे। तभी वह आधुनिक भावबोधगत मूल्य (या प्रतिमान) के समीप पहुँच

सकता है । यह 'मूल्यवान जगत', अज्ञेय के अनुसार सकुचा रहता है जो बिना 'डूबे' शायद अनुभूति के क्षेत्र मे न आ सके

सभी जगत—
जो मूल्यवान है सकुचा रहता है
अदृश्य सीपी के मोती सा
जो मिलता नही बिना सागर म डूबे

(अरी ओ करुणा प्रभामयी)

वनानिक चिंतन का बहुत कुछ प्रभाव आधुनिक भावबोध के विकास पर पडा है । यहाँ पर आधुनिकता' से तात्पय प्राचीन परम्पराओ से सवथा विच्छेद नही है पर उसका अथ स्वस्थ आधुनिक चिंतन का प्रतिरूप है जिसम नव प्रतिमानो तथा मूल्यो का समुचित योग हो । वनानिक युग की आधुनिकता' का मापदण्ड यही तथ्य है ।

आधुनिक भावबोध की बात अनेक रूपो म विचारको के द्वारा उठायी गयी है । स्टीफेन स्पेंडर ने आधुनिकता' पर जो कुछ भी कहा है उनमें से तीन तत्व विशेष महत्व रखते हैं । वे तत्व वज्ञानिक दृष्टिकोण के परिचायक हैं । उनका कहना है कि पूण आधुनिक होने के लिए प्राचीन मूल्यो का पूर्णह्रास होना, समसामयिक घटनाओ मे पूण अवगाहन और फिर इनमे से कला और साहित्य का सजन ? (हाइलाइटस आफ माडन लिटरेचर) ये तीनो तत्व आधुनिक भावबोध के लिए न्यूनाधिक आवश्यक है । समसामयिकता के प्रति पूण जागरूक रहना, प्रत्येक समस्या को बौद्धिक परिवेश मे देखना और घटनाओ को निरपेक्ष रूप मे न देख कर इन्हे सापेक्ष रूप मे महत्व देना—ये सभी तत्व आधुनिक भावबोध के रूप निर्माण म सहायक तत्व हैं । मूलत वनानिक अ त दृष्टि के लिए सबसे महत्वपूण अवधारणा विश्लेषण' की भावना है । वज्ञानिक चिन्तन मे विश्लेषण वह पूण तत्व (होल) है । जो अ शो मे (पाट स) विभाजित हो सके अथवा 'अ शों' का सह अस्तित्व 'पूण' का द्योतक हो सके । इसी तथ्य का स्पष्टीकरण करते हुए एडिंगटन ने एक स्थान पर कहा है—ससार के सभी रूप प्रकार जो दृष्टिगत हैं, उनका अस्तित्व विभिन्न अ शो के आपसी सबधो पर आधारित हैं ।' (द फिलासफी आफ फिजिकल साइ स, पृ० १२०) दूसरे शब्दों मे आधुनिक भावबोध म अ श' का, क्षण का और प्रत्येक घटना का महत्व इसी दृष्टि म हैं कि वह कहा तक पूण' की व्यजना कर सका है । इस आणविकयुग मे एक सेकेंड का सौवाँ हिस्सा मूलत अनतता' का प्रतीक है । आधुनिक हिंदी कविता ही नहीं पर विश्व के सभी प्रगतिशील साहित्यो म क्षण का, घटना

का और अ श का महत्व इसी दृष्टि से बढता जा रहा है। वैज्ञानिक चिंतन से उद्भासित यह आधुनिक भावबोध की प्रक्रिया एक प्रकार से आज की रचना प्रक्रिया का एक विशिष्ट अ ग है। क्षण का महत्व ही आज के संपूर्ण जीवन का महत्व हो गया है। यह विचार, माखनलाल चतुर्वेदी की निम्न दो पंक्तियों में साकार हो रहा है जो मेरे सम्पूर्ण विवेचन का निष्कर्ष है

क्षणिक के आवर्त मे
उलझे महान विशाल

(वेणु ले गूंजे धरा)

आधुनिकता के साथ सौंदर्य बोध का प्रश्न महत्व रखता है। काव्य म सौंदर्य बोध का महत्वपूर्ण स्थान माना गया है। दूसरी ओर यह भी प्रश्न उठ सकता है कि वैज्ञानिक प्रस्थापनाओं म सौंदर्य की अभिव्यक्ति नही प्राप्त होती है। और जब इन प्रस्थापनाओं को काव्य का विषय बनाया जायगा तब उनके द्वारा भी सौन्दर्यानुभूति नही हो सकेगी। जब हम इस प्रकार की कष्ट कल्पना करेंगे तब हम समस्या का सही मूल्यांकन नही कर सकेंगे। जहा तक सौंदय बोध का प्रश्न है, वह विज्ञान म भी प्राप्त है वह केवल कला की बपौती नही है। वैज्ञानिक सौंदय-बोध के लिए बौद्धिक अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता है। वैज्ञानिक का सौंदय बोध विश्व और प्रकृति की नियमबद्धता और समरसता म निहित है। वह आइंस्टीन के शब्दो मे विश्व के अन्तराल म एक पूर्व-स्थापित सामरस्य के सौंदर्य को कार्यान्वित देखता है। वह अपने सिद्धांत के द्वारा इसी सामरस्य को प्रकट करता है। काव्य भी इस सौंदर्य को ग्रहण कर सकता है जो कवि के लिए एक नवीन मूल्य है। आज के कवि को एक ऐसे ही सौंदय-बोध की आवश्यकता है जिसम उसकी भावात्मक एव सवेदनात्मक सत्ताए बौद्धिक अन्तर्दृष्टि से समन्वित हो काव्य के लयात्मक अर्थ बोध को एक नवीन दिशा दे सके। मैं समझता हू कि आज की 'नयी कविता' इस दिशा की ओर प्रयत्नशील है। इसी मानसिक एव बौद्धिक स्थिति को डॉ० जगदीश गुप्त ने नये स्तर पर रसास्वादन की प्रतिष्ठा कहा है (नयी कविता ३ पृष्ठ ५) जो उपर्युक्त विश्लेषण की पुष्टि करता है। इस नवीन प्रतिष्ठा मे कवि को विज्ञान के विशाल क्षेत्र मे सौंदर्य-बोध के अनेक आयाम मिल सकते हैं। मैक्सवल के विद्युत् चुम्बकीय सिद्धान्त मे (एलेक्ट्रो-मैग्नेटिक थियरी), डार्विन के विकासवाद म, आइंस्टीन के सापेक्षता के सिद्धात म और नक्षत्र विद्या द्वारा उद्घाटित विश्व रहस्य में कवि का सौंदर्य तथा अनुभव के अनेक गतिशील आयाम प्राप्त हो सकते हैं। ये अनुभव तात्विक चिंतन को भी गति दे सकते हैं और इस प्रकार इस सत्य को हमारे सामने प्रकट करते

है कि विज्ञान का चिंतन पक्ष भी सम्भव है जो नागरिक क्षेत्र से सम्बन्धित है। अतः, यहाँ पर बौद्धिक अनुभूति का अपना विशिष्ट स्थान है और इस सत्य के प्रति संकेत भी है कि आज के परिवेश में, सौंदर्य-बोध ज्ञान का क्षेत्र है। अज्ञेय ने भी ज्ञान और सौंदर्य-बोध का सम्बन्ध इस प्रकार व्यंजित किया है

अनुभूति कहती है कि जो नंगा है
वह सुन्दर नहीं है
यद्यपि सौंदर्य-बोध ज्ञान का क्षेत्र है।
(इत्यलम्)

इस प्रकार कवि के लिए विश्व और प्रकृति एक नियमबद्धता (ऑर्डर) में युक्त प्रतीत हो सकती है। कवि की यह अन्तर्दृष्टि एक अन्य तत्व की अपेक्षा रखती है और वह है किसी वस्तु को उसके परिवेश या सम्बन्ध में देखना। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो ऐसे स्थल पर विज्ञान विश्वजनीन आरोहण की ओर अग्रसर होता है जो कला और साहित्य का भी ध्येय है। परन्तु सूलीवन ने विश्वजनीन आरोहण का जितना विकास एवं विस्तार विज्ञान में देखा है उतना कला और साहित्य में नहीं। (लिमिटेशन्स आफ साइन्स पृ० १७२) यह माना जा सकता है कि कला और साहित्य में विश्वजनीनता का रूप विज्ञान में साम्य रखते हुए भी पद्धति की दृष्टि से कुछ अलग पड़ जाता है। परन्तु फिर भी, कहीं पर वह सन्धि अवश्य वर्तमान है जहाँ पर खड़े हो कर कवि दोनों में सामरस्य ला सकता है। यह सामरस्य चिंतन पर आश्रित एवं बौद्धिक अन्तर्दृष्टि है। विज्ञान की दृष्टि से आधुनिक भाव-बोध की सबसे बड़ी माँग यही अन्तर्दृष्टि है।

वैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि के उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में कल्पना का भी एक विशिष्ट स्थान होता है। यहाँ पर 'कल्पना' का सीमित क्षेत्र अथवा अर्थ लेना उचित नहीं होगा कल्पना को केवल काव्य और कला तक ही सीमित रखना उसके व्यापक रूप के प्रति उदासीनता ही मानी जायगी। विज्ञान के क्षेत्र में कल्पना का एक विशिष्ट स्थान है पर इतना अवश्य है कि कला और विज्ञान में कल्पना की निहिति में अवश्य अन्तर है। अन्तर केवल इतना है कि वैज्ञानिक अपनी कल्पना को अबाध रूप नहीं दे सकता है क्योंकि वह उसे प्रयोग एवं तर्क के द्वारा अनुशासित करता है और उसी के आधार पर किसी निष्कर्ष तक पहुँचता है। परन्तु कलाकार की कल्पना, इतनी सीमित नहीं होती है पर कभी-कभी वह कल्पना के द्वारा अतिरंजित रूप की सृष्टि भी कर देता है। कहने का तात्पर्य केवल इतना है कवि को विज्ञान की चिंताधारा को व्यंजित करते समय संयम से अवश्य काम लेना पड़ेगा। यदि इस ओर भी स्पष्ट

रूप से कहें, तो कवि को बौद्धिक संयम से भी काम लेना पड़ेगा। इसी प्रकार के परिवेश में हम नवीन भाव-बोध की भाषा भी दे सकते हैं। कल्पना का यह रूप हम अंग्रेजी के प्रोक कवियों में प्राप्त होता है जिन्होंने अपनी कल्पना का अध्ययन विद्या द्वारा उद्घाटित विश्व-रहस्य के प्रांगण में क्रियात्मक रूप प्रदान किया है। बटलर पोप और मिल्टन आदि कवियों ने विश्व रचना के प्रति जिस कल्पना ने काम किया है वह विज्ञान के अनुसंधानों से शासित है। (साइन्स एण्ड इमेजिनेशन मार्जोरी निकल्सन पृ० ८ १५) कदाचित् इसी कारण पास्कल ने किसी स्थान पर कहा है यह दृश्यमान जगत प्रकृति के विराट क्रोड में केवल एक बिंदु है जिसे हमारी कल्पना हृदयंगम कर पाती है। इस विषय का पूर्ण विवेचन इस निबंध के दूसरे खंड में किया जायगा।

इस प्रकार केवल विज्ञान में ही नहीं पर समस्त मानवीय क्रियाओं में कल्पना का एक विशिष्ट स्थान है। जहाँ तक विज्ञान और कला का प्रश्न है, उनमें कल्पना और अनुभव का एक समन्वित रूप ही प्राप्त होता है। कवि की रचना प्रक्रिया में, इन दोनों तत्वों का सापेक्षिक महत्व आधुनिक भाव-बोध की सबसे बड़ी माँग है। जब कोई भी कलाकार अनुभव तथा यथार्थ की भूमि को छोड़कर, केवल कल्पना के पंखों का ही आश्रय लेगा तब वह आज के भाव बोध को आज की समस्याओं को तथा आज के तत्व चिंतन को पूर्णतया हृदयंगम करने में असमर्थ रहेगा। इसी से, प्रसिद्ध वैज्ञानिक चिंतक डिंजिल ने एक स्थान पर कहा है अनुभव से पर अयन को सिद्धहस्त मानना अपनी बरबादी को आमंत्रित करना है। (द साइंटिफिक एडवेंचर पृ० २९१) इस दृष्टि से केवल विज्ञान में ही नहीं बल्कि साहित्य तथा कला में भी नव अनुभवों का सापेक्षिक महत्व है। इन्हीं अनुभवों के आधार पर ज्ञान' का प्रासाद निर्मित होता है। दूसरे शब्दों में आधुनिक भाव बोध में ज्ञान का भी एक विशिष्ट स्थान मानना उचित होगा। परम्परा से यह मान्यता रही है कि काव्य में ज्ञान' के विविध रूपों का समावेश, काव्य की काव्यात्मकता (?) को विनष्ट कर देगा कम से कम, संपूर्ण उपयुक्त विवेचन के प्रकाश में मैं इस अधूरी दृष्टि को मानने में असमर्थ हूँ या अपने को असमर्थ पाता हूँ।

आधुनिक वैज्ञानिक चिंतन ने 'ज्ञान के' सापेक्षिक रूप को हमारे सामने रखा है। उसने 'ज्ञान' की गरिमा को अनेक आयामों में गतिशील किया है। हम संभवतः यह मानते आये हैं कि वैज्ञानिक ज्ञान भौतिक है, ऐंद्रिय है जो वैज्ञानिक ज्ञान का केवल एक पक्ष ही माना जा सकता है। जहाँ तक वैज्ञानिक चिंतन का प्रश्न है वह केवल उसी का आधार नहीं ग्रहण करता है, पर वह ज्ञान के तात्विक अथवा अभौतिक रूप के प्रति भी सजग रहता है। आइंस्टीन, एडिंगटन, व्हाइटहेड तथा

नालिकर आदि ने विनान के इसी व्यापक नान को ग्रहण किया है। इन वज्ञानिक चिंतको के विचारो म जो चिंतन का स्पष्ट आग्रह प्राप्त होता है, वह विनान को दशन' का प्रेरक मानना है क्योकि समस्त ज्ञान का अ तिम पयवसान दशन के महानान मे होता है।

जहाँ तक आधुनिक विचारधारा का प्रश्न है, वह भी अनेक रूपो मे वज्ञानिक दृष्टि से प्रभावित होता है। यह एक सत्य है कि गतिशील विचारधाराएँ सदव विकासोन्मुख होती हैं और वे किसी सीमित परिप्रेक्ष म आबद्ध नही रहती हैं। परतु इसका यह तात्पय भी नही है कि किसी भी विचारधारा या दशन का निजी व्यक्तित्व नही होता। इस दृष्टि से वज्ञानिक विचारधाराओ का एक अपना व्यक्तित्व है जिसने केवल दशन को ही नहीं पर अ य मानवीय नान क्षेत्रो को भी प्रभावित किया है। यह सपूण विषय एक अ य पुस्तक का विषय है पर उपयु क्त सारे विवेचन के प्रकाश मे मैंने जिन मा यताओ को प्रस्थापित करने का प्रयत्न किया है उनम भी वही दृष्टि अपनायी गयी है। आज का काव्य जगत भी उस प्रभाव स अपने को अछूता नही रख सकता है और यह सभव भी नही है। यहाँ केवल एक विशिष्ट भाव-बोध का प्रश्न है जो मध्ययुगीन भाव-बोध से भिन्न पडता है।

इस प्रकार आज के चिंतन क्षेत्र म जो सघष तथा सम वय की प्रवत्तियाँ दिखायी दती हैं व शुभ तो है पर इसके साथ ही साथ इनकी परीक्षा तथा मूल्याकन का महत्व भी है। विचारो का सघष सदव नान का उन्नायक होता है और मानवीय ज्ञान सघष की कसौटी पर ही खरा उतरता है। अत आधुनिक दाशनिक चिंतन, चाहे वह किसी भी क्षेत्र का क्या न हो, उसका औचित्य प्रो॰ एडिंग्टन के शब्दा म इस बात मे समाहित है कि वह कहा तक आध्यात्मिक अनुभव को एक जीवन-तत्व के रूप में स्थान दे सका है। (साइ स एण्ड द अन्सीन वल्ड, पृ॰ २६) यदि मानव मूल्यो का जीवन में महत्व मान्य है तो इस मूल्य को भी हमे आज क चिंतन म स्थान दना होगा। यही कारण है कि जब हम नान और मूल्य के सापेक्षिक सबध पर विचार करते हैं तो कहीं न कहीं इन दोना तत्वो का समाहार मानव-जीवन म होता हुआ दिखायी देता है। काव्य के भावबोध मे भी यह सघष लक्षित होना है या हो सकता है कविता भावबोध से मूल्य की सृष्टि करती है। यहाँ पर मरा यह अथ कदापि नही है कि काव्य चेतना केवल मूल्या का रगस्थल है पर इतना तो अवश्य है कि उस चेतना में उस भाव-बोध मे मूल्य' की अन्तर्धारा व्याप्त रहने से वह और भी अधिक सप्रेषणीय एव सटीक हो जाती है। यह मूल्य व्यजित होना चाहिए न कि वह ऊपर स थोपा हुआ प्रतीत हो तभी काव्यात्मक भाव-बोध म उसका महत्व ग्रहण किया जा सकता है।

आकर्षणहीन विद्युतकण बनें मारग्राही ये मृत्य ।[1]

पूरे महाकाव्य मे प्रसाद जी परमाणु की रचना तथा प्रवृति के प्रति पूर्ण रूप से सचेत हैं । बीसवी शताब्दी के पहले चरण तक परमाणु के रहस्य का उद्घाटन डाल्टन बाहर आदि वैज्ञानिकों ने किया था । परमाणु की प्रकृति अत्यन्त चलायमान होती है । प्रत्येक परमाणु दूसरे के प्रति आकर्षित ही नही होता है वरन् उस आकर्षण मे सृष्टि क्रम की न जाने कितनी सम्भावनाएँ समाई रहती है । इसीलिए परमाणु जो स्वय एक एक ब्रह्माड है स्वय अनादि ब्रह्मरूप है और सौर मण्डल की रचना का प्रतिरूप है ऐसे परमाणु के प्रति कवि क्या न सवेदनशील हो उठे । गिरिजाकुमार माथुर ने परमाणु को इसी रूप म देखा है—

हो गया है फिशन अणु का,
परमब्रह्म अनादि मनुका
ब्रह्म ने भी खूब बदला नाम
लोक हित मे पर न आया काम ।[2]

अणु के ब्रह्माड रूप के प्रति डा० रामकुमार ने अपने "एकलव्य" महाकाव्य मे कहा है—

भरता है व्योम का विशाल मुख नि क्षत
एक एक विश्व मौन एक एक कण म ।[3]

सत्य मे, परमाणु की यह गुप्त शक्ति ही जब प्रकट होती है तभी सहार तथा निर्माण दोनों की समान सम्भावनाएँ दृष्टिगत होती हैं । परमाणु का निष्क्रिय रहना या विश्राम करना मानो प्रकृति की गतिशील विकासशीलता म व्यवधान उपस्थित करना है । अत प्रो० आइस्टीन के अनुसार परमाणुओं म वग (Velocitv) कपन (Viberation) और उल्लास (Veracity) तीनो की अभिवृत्ति प्राप्त होती है । तीनो के सम्यक् समन्वय या समरसता म ही सृष्टि का रहस्य छिपा हुआ है प्रसाद न इसी तथ्य को सुन्दर काव्यात्मक रूप प्रदान किया है जिसमे वैज्ञानिक चिन्तन का रसात्मक बोध प्रकट होता है—

---

१ कामायनी द्वारा प्रसाद चिन्ता सर्ग पृष्ठ २०
२ धूप के धान द्वारा श्री गिरजाकुमार माथुर पृष्ठ ७६
३ एकलव्य द्वारा डा० राजकुमार वर्मा पृष्ठ ५

वैज्ञानिक प्रस्थापनाएं और आधुनिक हिंदी काव्य

६

काव्य में चिंतन के आयाम

पिछले निबंध में साहित्य अथवा काव्य और विज्ञान के अन्योन्य सम्बन्ध की रेखाओं को स्पष्ट किया गया है। इस पृष्ठभूमि के प्रकाश में, आधुनिक हिन्दी काव्य का अनुशीलन अपेक्षित है। वैसे तो आधुनिक काव्य में हम वैज्ञानिक चिंतन के प्रभाव का अनेक आयामों में दर्शन प्राप्त होता है जिसका सम्पूर्ण विवेचन एक पुस्तक के द्वारा ही क्रमबद्ध रूप में रखा जा सकता है। फिर भी विषय की विशालता को ध्यान में रखकर मैं अपने अध्ययन को निम्न शीर्षकों में प्रस्तुत कर रहा हूं जो अध्ययन की बहुत ही प्रमुख विशेषताएं हैं—

१—परमाणु रहस्य
२—विकासवादी सिद्धांत और चिंतन (जीव तथा वनस्पति जगत)
३—सृष्टि रहस्य (ग्रह नीहारिकायें, नक्षत्रादि)
४—मूल्यगत चिंतन

परमाणु-रहस्य

विज्ञान ने भौतिक पदार्थ की सूक्ष्मतम इकाई को 'परमाणु' की संज्ञा प्रदान की है। परमाणु के भी अन्दर उसकी विद्युत शक्ति की व्याख्या करने के लिए एलक्ट्रान प्रोटान पाजिट्रान आदि की भी कल्पना की गई। एलक्ट्रान ऋणात्मक विद्युत शक्ति का और प्रोटान धनात्मक विद्युत शक्ति का केंद्र या प्रतीक माना गया है। दोनों ही शक्तियां निष्क्रियावस्था में रहती हैं। इसी भाव की सुन्दर काव्यात्मक अभिव्यक्ति कविवर प्रसाद ने इस प्रकार प्रस्तुत की है—

आकपणहीन विद्युतकण बनें भारग्राही थे मृत्य ।[1]

पूरे महाकाव्य म प्रसाद जी परमाणु की रचना तथा प्रकृति के प्रति पूर्ण रूप से सचेत हैं। बीसवी शताब्दी क पहले चरण तक परमाणु के रहस्य का उद्घाटन डाल्टन बोहर आदि वनानिको ने किया था। परमाणु की प्रकृति अत्यन्त चलायमान होती है। प्रत्यक परमाणु दूसरे के प्रति आकर्षित ही नही होता है वरन् उस आकषण में सृष्टि- क्रम की न जाने कितनी सम्भावनाएँ समाई रहती है। इसीलिए परमाणु जो स्वय एक एक ब्रह्माड है स्वय अनादि ब्रह्मरूप है और सौर मण्डल की रचना का प्रतिरूप है ऐसे परमाणु के प्रति कवि क्यो न सवेदनशील हो उठ। गिरिजाकुमार माथुर न परमाणु को इसी रूप म देखा है—

हो गया है फिशन अणु का,
परमब्रह्म अनादि मनुका
ब्रह्म ने भी खूब बदला नाम
लोक हित म पर न आया काम ।[2]

अणु के ब्रह्माड रूप के प्रति डा० रामकुमार ने अपने एकलव्य' महाकाव्य मे कहा है—

भरता है व्योम का विशाल मुख नि क्षत
एक एव विश्व मौन एक एक कण म ।[3]

सत्य मे, परमाणु की यह गुप्त शक्ति ही जब प्रकट होती है तभी सहार तथा निर्माण दोनो की समान सम्भावनाएँ दृष्टिगत होती हैं। परमाणु का निष्क्रिय रहना या विश्राम करना मानो प्रकृति की गतिशील विकासशीलता म व्यवधान उपस्थित करना है। अत प्रो० आइ स्टीन के अनुसार परमाणुओ म वेग (Velocity) कपन (Vibration) और उल्लास (Veracity) तीनो की अभिव्यक्ति प्राप्त होती है। तीनो के सम्यक समन्वय या समरसता मे ही सृष्टि का रहस्य छिपा हुआ है प्रसाद ने इसी तथ्य को सुन्दर काव्यात्मक रूप प्रदान किया है जिसम वज्ञानिक चिन्तन का रसात्मक बोध प्रकट होता है—

---

१ कामायनी द्वारा प्रसाद चिन्ता सग पृष्ठ २०
२ धूप के धान द्वारा श्री गिरजाकुमार माथुर पृष्ठ ७६
३ एकलव्य द्वारा डा० राजकुमार वर्मा पृष्ठ ५

अणुओं को है विश्राम कहाँ,
यह कृतिमय वेग भरा कितना।
अविराम नाचता कंपन है,
उल्लास सजीव हुआ कितना।[1]

इसी भाव को पंत ने इस प्रकार रखा है—

महिमा के विशद् जलधि में
हैं छोटे छोटे से कण।
अणु से विकसित जग जीवन
लघु लघु का गुरुतम साधन।[2]

अणु हैं तो लघु पर इन्हीं लघु तत्वों के संयोग से गुरुतम सृष्टि-कार्य भी सम्पन्न होता है। इसी कारण से प्रसाद ने परमाणुओं को चेतनयुक्त भी कहा है जिनके अन्योन्य संलग्न में, उनके बिखरने तथा विलीन होने में सृष्टि का विकास एवं निलय निहित रहता है—

चेतन परमाणु अनन्त बिखर
बनते विलीन होते क्षण भर।[3]

परमाणु का यह विकास तथा निलय उसके चिरन्तन रूप का द्योतक है। यही कारण है कि वैज्ञानिक परमाणु को विकास का केन्द्र मानते हैं। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो एक वैज्ञानिक के लिए परमाणु की सत्ता "असीम" के रूप में मानी जा सकती है और यहीं पर आ कर वह एक रहस्यवाद की ओर प्रेरित होता है जो वैज्ञानिक रहस्यवाद के अन्तर्गत आता है। इसी भाव की काव्यात्मक पुनरावृत्ति 'अज्ञेय' ने निम्न रूप में प्रस्तुत की है—

एक असीम अणु,
उस असीम शक्ति को जो उसे प्रेरित करती है,
अपने भीतर समा लेना चाहता है।
उसकी रहस्यमयता का परदा खोलकर
उसमें मिल जाना चाहता है
यही मेरा रहस्यवाद है।[4]

---

१ कामायनी काम सर्ग, पृष्ठ ६५
२ गुंजन द्वारा सुमित्रानंदन पंत पृष्ठ २८
३ कामायनी द्वारा प्रसाद पृष्ठ ८२
४ इत्यलम् द्वारा अज्ञेय कविता 'रहस्यवाद' पृ० ९३

बटरड रसल ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'मिस्टिसिज्म एण्ड लाजिक" (Mysticism and Logic) में वज्ञानिक रहस्यवाद का विश्लेषण उपस्थित करते हुए इस सत्य की ओर सकेत किया है कि जब व्यक्ति समय तथा दिक की सीमाओ को लाघकर या उन्हें आत्मसात् कर एक अन्तर्दृष्टि की अनुभूति प्राप्त करता है, तब वहा वज्ञानिक रहस्यवाद की सृष्टि होती है।[1] अज्ञेय का उपयुक्त कथन इसी अन्तर्दृष्टि को समक्ष रखता है।

विकासवादी सिद्धात और चिंतन

परमाणु की गतिशीलता के विवेचन के पश्चात् आधुनिक काव्य मे डारविन के विकासवादी चिन्तन का एक स्वस्थ रूप प्राप्त होता है। इस सिद्धान्त को पुष्टि तथा परिमार्जित करने म लामाक मडिन, हक्सले तथा लूकॉमटे डू नू आदि वज्ञानिकों दार्शनिकों का काफी योग है। आज के काव्य मे इन चिन्तकों के विचारों का यदा-कदा सकेत प्राप्त हो जाता है जिसकी ओर प्रसङ्गवश इगित किया जायगा।

डारविन का विकासवादी सिद्धान्त सारी दार्शनिक समस्याओ को सुलभा नहीं पाता है। फिर भी वह एक ऐसी क्रातिकारी धारणा है जिसने प्रादिम मान्यताओं की नीव हिला दी है। डारविन के विकासवाद की तीन प्रमुख मान्यताएँ हैं। प्रथम अस्तित्व के लिए सघर्ष द्वितीय उस सघर्ष म समय का विजयी होना और तृतीय विकास क्रम का रूप प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा सम्पन्न होना। यह अस्तित्व का सघर्ष जड तथा चेतन दोनो म समान रूप से दृष्टिगत होता है। इसी कारण डारविन ने इस मान्यता को सामने रखा कि जीवन का विकास जड तथा चेतन पदार्थों का एक क्रमागत रूप है या दूसरे शब्दो मे जव (organic चेतन) तथा अजव (inorganic जड) जगत में एक सम्बन्ध है उनके विकास में दोनो का अन्योन्य सम्बन्ध है। कविवर पत के शब्दों म —

जड चेतन हैं एक नियम के वश परिचालित।
मात्रा का है भेद उभय है अन्योन्याश्रित।[2]

जसा कि ऊपर कहा गया कि विकासवादी सिद्धात म सघर्ष एक शाश्वत नियम है जो विकास की गति को आगे बढाता है। सघर्ष के प्रति प्रसाद जी पूर्ण रूप से सजग हैं जब व कहते हैं—

---

१ मिस्टिसिज्म एण्ड लाजिक द्वारा बटरड रसल—देखिए इसी नाम पर उनका लेख।

२ युगवाणी द्वारा सुमित्रानन्दन पत, 'सूत जगत' पृ० ५४

द्वन्दों का उद्गम तो सदैव,
शाश्वत रहता यह एक मन्त्र। [१]

यद्यपि प्रसाद दार्शनिक क्षेत्र में इस संघर्षमूलक विकास को मान्यता देते हैं, परन्तु फिर भी उनकी यह मान्यता विकासवाद' के एक तत्व को प्रमुखता किसी न किसी रूप में अवश्य देती है। यह स्पर्द्धा वैज्ञानिक दर्शन को एक नई दृष्टि देती है और वह दृष्टि है लोक कल्याण की भावना। डारविन ने जीवन के लिए संघर्ष का प्रतिपादन किया था जो आगे चलकर अन्य विकासवादियों (हक्सले लामाक) को मान्य नहीं हुआ। प्रसाद की भी दृष्टि केवल जड़-संघर्ष तक ही सीमित नहीं रही पर उन्होंने समर्थ के विजयी होने का (Survival of the Fittest) एक मूल्य भी माना है और वह मूल्य है कि ऐसे समर्थवान् व्यक्ति संसृति का कल्याण करें—

स्पर्धा में जो उत्तम ठहरें वे रह जावें।
संसृति का कल्याण करें शुभ मार्ग बतावें।[२]

इस कथन में प्रसाद का चिंतन मुखर होता है। पर एक अंग्रेजी कवि ग्रेन्ट एलन अपनी कविता "बले आफ इवोल्यूशन' में इस तथ्य को नितांत उसी रूप में रख दिया है जो विकासवादी सिद्धान्त में है—

For the Fittest will always survive
While the weakest go to theWall[3]

अस्तु विकासवादी सिद्धान्त में 'समय" का समावेश एक तथ्य है जिसे डारविन ने अपने विकासवाद का केन्द्र माना है। उसके अनुसार यह समस्त मानवीय इतिहास "परिवर्तन' और 'प्राकृतिक निर्वाचन' के द्वारा विकासशील रहा है। परिवर्तन' जहां एक ओर प्रकृति का शाश्वत नियम हैं, वहीं वह विकास का आधार भी माना गया है। अत परिवर्तन और प्रकृति में सापेक्षिक सम्बन्ध है और इसी से विकासवाद भी वैज्ञानिक चिंतन के लिए सापेक्षिक दृष्टि की मान्यता प्रदान करता है।[४] परिवर्तन और प्रकृति के इसी सापेक्षिक महत्व का प्रसाद ने अपने महाकाव्य कामायनी में यदा कदा संकेत किया है—

---

१ कामायनी द्वारा प्रसाद इडा सर्ग पृ० १६३
२ कामायनी द्वारा प्रसाद पृ० १६५ संघर्ष सर्ग
३ ए बुक आफ साइन्स यस से उद्धृत पृ० १५८
४ मैन इन द माडर्न वर्ल्ड द्वारा जूलियन हक्सले पृ० २०३

पुरातनता का यह निर्मोक,
सहन करती न प्रकृति पल एक ।
नित्य नूतनता का आनन्द
किये हैं परिवर्तन में टेक ।।[1]

यह तो हुआ विकास क्रम का मानवीय धरातल तक विकास। यहाँ पर आकर अनेक विकासवादी चिंतन रुकते नहीं हैं पर वे आशावादी दृष्टि से विकास की गति को आगे की ओर भी देखने में प्रयत्नशील हैं। हक्सले और लीकामटे डूनूं का विचार है कि मानव ही एक ऐसा प्राणी है जो अपना विकास आगे कर सकता है।[2] जहाँ तक भौतिक या शरीरी विकास का प्रश्न है मानव नामधारी प्राणी में वह विकास उच्चतम् दशा में प्राप्त होता है। इसी विकास की चरम परिणति की ओर श्री गिरिजाकुमार माथुर ने एक पंक्ति में सम्पूर्ण स्थिति को मानो केन्द्रित कर दिया है—

तन रचना में मानव तन सबसे सुन्दर।"[3]

परन्तु प्रश्न है कि अब मानव किस ओर विकास की गति को मोड़ सकता है या मोड़ रहा है। मस्तिष्क संगठन (Brain Organization) में वह अन्य जीव धारियों से कहीं श्रेष्ठ है अत इस दिशा में वह कदाचित् अपना भावी विकास न कर सकेगा। वह अपना भावी विकास मानसिक तथा आध्यात्मिक चेतना की ओर ही कर सकेगा। यही मानसिक चेतना उसके भावी विकास का विहान कहा जा सकता है।[4] इसी दशा का संकेत हम पंत की अनेक काव्य-पुस्तकों में प्राप्त होता है जिन पर अरविन्द-दर्शन का प्रभाव दृष्टिगत होता है जो एक अखण्ड चेतना का विकास द्रव्य से लेकर अतिचेतना चेत (Super conscient) तक मानते हैं। पंत की निम्न दो पंक्तियाँ उपर्युक्त दशा को सुन्दर रूप में प्रस्तुत करती हैं—

बदल रहा अब स्थूल धरातल
परिणत होता सूक्ष्म मनस्तल।[5]

---

१ कामायनी, श्रद्धा सर्ग पृ० ५५
२ द ह्यूमन डेस्टनी द्वारा लीकामटे डूनूं पृ० ७६
३ धूप के धान, द्वारा गिरिजाकुमार माथुर, पृ० १०७
४ द ह्यूमन डेस्टनी पृ० ८८
५ उत्तरा द्वारा पंत, कविता 'युग पथ पर मानवता का रथ' पृ० १

अथवा
यह मनुष्य आकार चेतना का है विकसित ।
एक विश्व अपने आवरण में है निर्मित ।।[1]

यह "एक विश्व" क्या है ? यह है मानव मस्तिष्क की प्रक्रिया पर उसकी गतिशील मानसिक चेतना । मन तथा आत्मा की अतल गहराइयों में ही मानव नाम सदा के लिए चिरंतन रहेगा । प्रसाद ने, यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो करोड़ों वर्षों के जव विकास (Organic Evolution) से उद्भूत चेतना के शिखरस्थ मानव के सारे मूल्यों को एक जगह पर समेट लिया है । इसी भावी विकास की रूपरेखा की ओर हम अंग्रेजी कवि एलक्जेन्डर पोप का यह कथन याद आ जाता है कि "जैसे जैसे सृष्टि का दूरगामी क्षेत्र बढ़ता जाता है, उसी अनुपात से ऐन्द्रिय मानसिक शक्तियाँ भी ऊर्ध्वगामी होती हैं" —

For as Creation s ample range extends
The scale of sensual mental pow'rs ascend"[2]

सृष्टि-रहस्य

अभी तक जीवशास्त्रीय विकास की वैज्ञानिक रूप रेखा का काव्यात्मक रूप प्रस्तुत किया गया है । यदि व्यापक रूप में देखा जाय, तो सम्पूर्ण सृष्टि रहस्य में जीवशास्त्रीय विकास केवल एक चरणमात्र है या केवल उसका एक अंश है । परन्तु यहाँ पर जिस सृष्टि रहस्य की चर्चा की जायगी वह ग्रहों नीहारिकाओं नक्षत्रों तथा इस सम्पूर्ण ब्रह्माड की रचना प्रक्रिया से सम्बन्धित होगी ।

ग्रहों (Planets) की उत्पत्ति के बारे में सबसे प्रसिद्ध मत अधिकतर उन ज्योतिष-वेत्ताओं (Astronners) का है जो यह मानते हैं कि ग्रहों की उत्पत्ति एक ऐसे वाष्पपिंड से हुई है । जो निरन्तर तेजी से गतिशील परिभ्रमण में निरत था । यह वाष्प पिंड हाइड्रोजन था जिसके क्रमश शीतल होने पर, उस पिंड के अनेक भाग क्रमश शीतल होने पर, उस पिंड के अनेक भाग क्रमश विच्छिन्न होने का कारण सघनन क्रिया को माना जाता है जिसे अंग्रेजी में (Condensation) कहते हैं । इस प्रकार केन्द्र का भाग सूक्ष्म और गतिशील आवर्तन

---

१ कामायनी सघर्ष सर्ग पृ० १६२
२ ए बुक आफ साइन्स वर्स, 'द क्रिएटिव चेन आव बीइंग्स' पृ० ७४

(Rotational Momentum) के कारण एक के बाद एक ग्रह सूय से दूर ही नही होते गए पर स्वय ग्रहों के मध्य म दूरी बढती ही गई ।[१] इस सिद्धात के प्रति ग्राज का कवि ग्रवश्य सचत है ग्रौर जाने ग्रनजाने वह इस सिद्धात को ग्रप्रत्यक्ष रूप से हमारे सामन रख भी देता है । उदाहरण स्वरूप प्रसाद ने वाष्प के उजडन तथा सौर मण्डल मे ग्रावतन पडने का जो सकेत कामायनी म प्रस्तुत किया है वह उपयुक्त प्रस्थापना को प्रत्यक्ष काव्यात्मक रूप इस प्रकार देता है--

वाष्प बना उजडा जाता था
था वह भीषण जल सघात ।
सौर चक्र मे ग्रावत्तन था
प्रलय निशा का होता प्रात ।।[२]

यह जल सघात यदि सूक्ष्म दृष्टि मे देखा जाय तो हाइड्रोजन तथा ग्रन्य ज्वलनशील गसो का मिश्रण है जिसे ग्रनेक वज्ञानिको ने 'ग्राधार भूत पदाथ (Background material) कहा है । जिससे ग्रहो तथा नक्षत्रो का उद्भव तथा विकास सम्पन्न हुग्रा है । यही नही इसी ग्राधारभूत पदाथ" से नीहारिकाएँ (Galaxies) भी उद्भूत हुई है । ग्रत यह रहस्यमय ब्रह्माड का विस्तार दिक ग्रौर समय (Space and Time) की प्राचीरा के ग्रन्दर ही हुग्रा है । ग्रपरोक्ष रूप से इसी विस्तार का एक सफल सकेत हम निराला की निम्न पक्तिया म मिलता है—

घूमायमान वह घूण्य प्रसर
घूसर समुद्र शशि ताराहर
सूभता नही क्या ऊध्व ग्रधर क्षर रेखा ।।[३]

समय ग्रौर दिक् की सीमाग्रो मे ही समस्त सृष्टि का विकाश हुग्रा है । इसका बहुत ही स्पष्ट सकेत हमें नरेन्द्र शर्मा की इन पक्तियो म प्राप्त होता है—

तिनके से बनती सृष्टि
सृष्टि सीमाग्रो म पलती रहती ।
वह जिस विराट का ग्र श,
उसी के झोका को फिर फिर सहती ।।[४]

---

१ द नेचर ग्राफ द यूनीवस द्वारा फ्रेड हायल (Hoyle) पृ० ५५ ५६
२ कामायनी चिन्ता सग पृ० २०
३ तुलसीदास द्वारा निराला पृष्ठ ५५
४ हसमाला द्वारा नरेन्द्र शर्मा पृष्ठ २४

इन उदाहरणों मे एक अन्य प्रसिद्धतम वनानिक सिद्धान्त की ओर भी स्वत ध्यान जाता है, और वह है अनिश्चितता या आकस्मिकता का सिद्धान्त (Principle of Impro bablity or Unceraınity) आज के वनानिक चिंतन मे और मुख्यत सृष्टि रचना के सम्भ म इस सिद्धान्त के प्रति काफी आस्था है वस तो यह सिद्धान्त गणित तथा भौतिक शास्त्र से सम्ब व रखता है पर उसकी विशालता का नयघोष आज के समस्त दार्शनिक चिंतन पर प्रभाव डाल रहा है। सृष्टि के सदम मे इसी आकस्मिकता का एक सुन्दर सकेत हम श्री रामधारी सिंह "दिनकर" की इस रचना मे प्राप्त होता है—

देख रहे हम जिसे,
सृष्टि वह आकस्मिक घटना है।
यों ही बिखर पडे ?
हम सब आस्मिकता के कारण हैं।[1]

यहाँ पर जाने डोन का कथन याद आ जाता है जो उसने १७ शताब्दी के प्रथम चरण मे कहा था कि नया दशन प्रत्यक वस्तु को शका की दृष्टि से देखता है[2] और मेरा यह विचार है कि इस चिंतन म कवि ने एक ऐसे तथ्य की ओर सकत किया है जो आग चलकर वज्ञानिक चिंतन का आधारबि दु ही बन गयी।

अब मैं सृष्टि के ऐसे रहस्यमय लोक में जाना चाहता हूँ जो आज के वनानिक अनुसधानों का एक आश्चयमय लोक है। सृष्टि रचना सम्भावनाओ तथा प्रक्रियाओं का रगस्थल है। वनानिको ने इन प्रक्रियाओ को फलता हुआ विश्व (Expanding Universe) के रहस्यमय सिद्धान्त के रूप में सामने रखा है। यहाँ पर सृष्टि रहस्य का जो विशाल सागर लहराता हुआ दृष्टिगत होता है वह आज के कवियो क लिये एक नवीन सृजन शक्ति का सिहावलोकन करता है यह विश्व निरन्तर विकास को प्राप्त हो रहा है जो नीहारिकाओ के सृजन तथा विनास की क्रमिक क्रिया है। न जाने कितने सौर मडल और है जो हमारी दृष्टि से परे हैं कितने बनते जाते हैं और कितने 'आधारभूत पदाथ' में तिरोहित होते जाते है। यह चक्र निरन्तर चला करता है।[3] गिरिजाकुमार माथुर न इसी सत्य को इस प्रकार रखा—

---

१ नीलकुसुम द्वारा दिनकर पृष्ठ ४६
२ साइ स एण्ड इमेजिनेशन द्वारा मारजोरी निकालसन से उद्धृत, पृष्ठ ५३
३ द० नेचर आफ यूनीवन द्वारा हायल और द लिमीटेशन आफ साइ स द्वारा जे० सूलीवन, पृष्ठ १६-२४

अ तरिक्ष सा अ तर जिसमें अगणित
ज्योति ब्रह्माड समाये
सूरज के बडे बडे साथी
बनते मिटते हैं आये ॥[१]

आकाशगगा (Milky way) तो केवल एक ही नीहारिका है और एमी कितनी अन्य नीहारिकायें और है जो दृष्टि से परे ही शक्तिशाली टलीस्कोप भी उनका भेदने मे असमथ हैं। परन्तु फिर भी वनानिका ने इन अदृष्ट ब्रह्माडो को जानने का मर-सक प्रयत्न किया है और उनका यह प्रयत्न उनक प्राप्त निष्कर्षों से सम्बन्ध रखता है शून्य या दिक (space) के अथाह समुद्र मे न जान कितनी नीहारिकायें, कितने मौर मडल, और कितन नक्षत्र गतिशील है और प्रवाहमान है । इस स्थिति को डा० धमवीर भारती ने बहुत ही सुन्दर रूप म हमारे सामन रखा—

अक्सर आकाशगगा के
सूनसान किनारो पर खडे होकर
जब मने अथाह शून्य म
अनन्त प्रदीप्त सूर्यों को
कोहरो की गुफाओ म पख टूटे,
जुगनुओ की तरह रेंगते देखा है ।[२]

इस कल्पना में वनानि तथ्य है जो कवि की सृजन शक्ति को एक नवीन सदभ मे अवतीर्ण करती है । महाकवि मिल्टन भी सृष्टि के इस अबाध रहस्य सागर को देखकर ही शायद कह उठा था—

Thus far extend thus far thy bounds
Thus be thy just Cucumference O world[3]

अथात हे विश्व इतनी दूर तक विस्तृत और इतनी दूर तक तेरी सीमायें सत्य म, य तेरी यथाथ परिधि हैं ।

इन सभी उदाहरणो म सृष्टि की अनुपम एव रहस्यमय रचना का सकेत प्राप्त होता है । यह समस्त रचना दिक तथा काल की सीमीओ मे बँधी हुई है । न्यूटन ने समय तथा दिक को असीम माना था पर डा० आइस्टीन तथा इंटिगटन आदि न समय तथा

१ धूप के धान, द्वारा गिरिजाकुमार माथुर, पृष्ठ ११४
२ कनुप्रिया द्वारा डा० भारती पष्ठ ५०
३ पराडाइज लास्ट द्वारा मिल्टन पृष्ठ २३० से उद्धत

दिक् को असीम न मानकर ससीम माना है, पर साथ ही उन्हें अपरिमित भी। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो आधुनिक वैज्ञानिक चिंतन की यह धारा दर्शन की ओर उन्मुख है प्रो० आइंस्टीन का उपयुक्त कथन एक तात्विक-सत्य (Metanhy sical Truth) भी माना जा सकता है जो विज्ञान को भी दार्शनिक चिन्तन का माध्यम बनाता है। दिक् तथा समय की यह धारणा इस सत्य को हमारे सामने रखती है कि ईश्वर तथा उसकी सृष्टि 'दिक्' के अनन्त विकास प्राप्त करती रही है और करती रहेगी। यही कारण है कि आज के वैज्ञानिक चिन्तन में चतुर्आयामिक दिक्काल की धारणा (For Dimensional space Time) एक विशेष महत्व रखती है। आधुनिक काव्य में इस विराट दिक् को शून्य की संज्ञा दी गई है। इसी शून्य की विराटता के अन्दर कोटि कोटि नक्षत्र तथा ग्रह और न जाने कितनी नीहारिकाएँ आविर्भूत तथा तिरोभूत होती रहती है। इन्हीं कोटि कोटि नक्षत्रों का "लास रास" ही उनकी विराटता का द्योतक है—

कोटि कोटि नक्षत्र शून्य के महाविवर में
लास रास कर रहे लटकते हुए अधर में।[1]

तथा इसी भाव को दिनकर ने उर्वशी के द्वारा इस प्रकार व्यंजित किया है

महाशून्य के अन्तरगृह में उस अद्वैत भवन में
जहाँ पहुँच दिक्काल एक है कोई भेद नहीं है।
इस निरभ्र नीलान्तरिक्ष की निर्जर मंजूषा में
सर्ग प्रलय के पुरावृत्त जिसमें समग्र संचित हैं।।[2]

इसी महाशून्य रूपी मंजूषा में प्रलय-सृजन की अनवरत लीला निरन्तर चला करती है इस प्रकार के अनेक वर्णन हम आज की कविता में प्राप्त होते हैं जिनका यहाँ पर व्यर्थ ही विस्तार करना उचित नहीं है।

मूल्यगत चिन्तन

अन्त में मैं मूल्यों (Values) की बात उठाना चाहता हूँ उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन के सन्दर्भ में मैंने यत्र तत्र मूल्यों के प्रति संकेत किया है। अनेक विचारकों का यह मत है कि मूल्यगत चिन्तन जो दार्शनिक चिन्तन का विषय है विज्ञान के बाहर की वस्तु है। परन्तु उपर्युक्त विवेचन के आधार पर मैं इस भ्रममूलक धारणा

---

१ कामायनी, स्वप्न सर्ग, पृष्ठ १६०

२ उर्वशी द्वारा दिनकर पृष्ठ ७०

का पक्षपाती नहीं हूँ। मैंने अपने सीमित अध्ययन के द्वारा जिस प्रस्थापन को समक्ष रखने का प्रयत्न किया है उसमे 'मूल्यों' का एक विशिष्ट स्थान है। यहाँ पर मैं कुछ मूल्यों की विवेचना आधुनिक वज्ञानिक चिन्तन के आधार पर करने का प्रयत्न करूंगा।

सबसे प्रथम जो 'मूल्य' विज्ञान ने हमारे सामने रखा है वह है अस्तित्व के प्रति। आज का कवि दो दिशाओं की ओर अपनी सृजन शक्ति को गतिशील कर सकता है, एक विकासवाद की ओर जो इस ग्रह म सम्बन्धित है और दूसरी ब्रह्माड की ओर, जो हमारी कल्पना को दिक और समय के सापेक्षिक रहस्यलोक म ले जा सकती है। आधुनिक विज्ञान हमारे ही नही पर समस्त ब्रह्मांड के अस्तित्व के प्रति सचेत है। जब वह इस विराट रचना को देखता है जिसमे असख्य ग्रह नक्षत्र नीहारिकाए और सौर-मण्डल है तब वह अपने अस्तित्व के प्रति सचेत हो जाता है। उसका तथा इस विराट रचना का क्या अनुपात है वह यह जानने का उत्सुक हो जाता है और आज का कवि भी इस अनुपात की स्थिति के प्रति पूर्ण रूप से सजग है, तभी तो वह इस स्थिति को अत्यन्त सुलझे हुये रूप मे रखने मे समर्थ है—

अनगिन नक्षत्रो मे
पृथ्वी एक छोटी
करोडों म एक ही
सबको समेटे है।
परिधि नभगगा की
लाखों ब्रह्माडो मे
अपना एक ब्रह्माड
हर ब्रह्माड म—
कितनी ही पृथ्वियाँ
कितनी ही भूमियाँ
कितनी ही सृष्टियाँ

* * *

यह है अनुपात
आदमी का विराट से[1]

यहाँ पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि इस दशा के द्वारा विज्ञान म पलायन (Escapism) तथा निराशा की प्रवत्ति नही है। जब वह नीहारिकाओ

---

१ शिला पख चमकीले द्वारा गिरिजा कुमार माथुर, प० ६५

तथा अपने ही सौर-मण्डल के प्रति अनिश्चित है तो वह उसके एक अंश-हमारे ग्रह के प्रति केवल सम्भावना ही दे सकता है जो विगत घटनाओं तथा परिस्थितियों पर आश्रित है। इसी तथ्य की प्रतिध्वनि गिरिजाकुमार माथुर की निम्न पंक्तियों में व्यञ्जित होती है —

शत—सम्भावना की जमीन
बीज का विकास
परिस्थिति की खाद
और आस पास ।[१]

उसके अनुसार हमारी पृथ्वी मंगल और बुद्ध करोडों अरबों वर्ष बाद सूर्य में समाहित हो जायेंगे और इसके स्थान पर कोई दूसरा सौर मण्डल स्थान ले लेगा। यही बात नीहारिकाओं के प्रति भी सत्य है।[२] यह क्रम समय तथा दिक की सीमाओं में आबद्ध है। इसी से अनन्त-सृष्टि' विज्ञान का सत्य है। अतः यहां पर 'मृत्यु' या निलय ही सत्य है जो रूपांतर क्रिया का फल है। इस दृष्टि में हमारा अस्तित्व भी महत्वहीन है। जब हम अपने अस्तित्व का कहीं पर्यवसान चाहते हैं। तब हम उस दशा को एक अंतिम धारणा का रूप दे देते हैं। यह अंतिम धारणा ही सत्य या ईश्वर है जिस पर मैं आगे विचार करूंगा। यहाँ पर हमें सुरक्षा का एक माध्यम मिल जाता है।[3] परन्तु मैं यह कहूंगा कि यह सुरक्षा भी एक छायामात्र है पर आवश्यक भी है। आज का काव्य जीवन इस सत्य पर एक नए रूप से विचार करने की ओर उन्मुख है। अस्तु हमारा अस्तित्व एक आभासमात्र है जिस प्रकार बिन्दु केन्द्र का आभास है—स्थिति कुछ इस प्रकार है—

बिन्दु हूं मैं—
मात्र केन्द्राभास, वह जो
हर असीम ससीम
हर रूप हर आकार का विस्तार।[४]

यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो इस कथन में अस्तित्व के प्रति भी सुन्दर लय है और यहाँ पर नई कविता में जो अय लय की बात कही गई है[५] उसका एक सुन्दर संकेत भी प्राप्त होता है।

---

१ शिलापंख चमकीले पृ० ४८
२ द नेचर आफ द यूनीवर्स द्वारा फ्रेड हॉयल पृ० ५२ ५०
३ वही, पृ० १०३
४ तीसरा सप्तक, मैं बिन्दु कविता द्वारा प्रयागनारायण त्रिपाठी पृ० ५८
५ नई कविता (५ ६) डा० जगदीश गुप्त का लेख 'कविता और अकविता' पृ० ७?

दूसरा प्रमुख मूल्यगत चिन्तन है सत्य अथवा ईश्वर के प्रति। सबसे प्रथम बात जो हमें 'ईश्वर' की धारणा में ध्यान रखनी चाहिये वह यह है कि ईश्वर केवल धर्म का या दर्शन का विषय नहीं है, वह अन्य ज्ञान क्षेत्रों का भी विषय है। आज का वैज्ञानिक-दर्शन हमें इस तथ्य की ओर उन्मुख करता है। सर आर्थर वाइटहेड, लीकामटे डूनूय, फ्रेड हायल, न्यूटन, सर जेम्स जीन्स, प्रो० आइन्स्टीन आदि वैज्ञानिक चिंतकों ने विज्ञान के विशाल क्षेत्र में भी 'ईश्वर' को किसी न किसी रूप में ग्रहण किया है मगर उनकी ईश्वर की धारणा तत्वमय तथा सापेक्षिक सत्य को लिए हुए हैं। वह उस दृष्टि से निरपेक्ष नहीं है जिस दृष्टि से वह धर्म तथा दर्शन में मान्य है। यही कारण है कि डूनूय ने ईश्वर को एक ऐसी सत्ता के रूप में ग्रहण किया है जो विकास की गति के साथ है और उनसे अलग नहीं है।[1] इसी प्रकार का चिन्तन हम आज के काव्य में भी प्राप्त होता है। दिनकर की निम्न पंक्तियाँ मेरे कथन की पुष्टि करती हैं—

ईश्वरीय जग भिन्न नहीं है इस गोचर धरती से
इसी अपावन में अदृश्य वह पावन सना हुआ है।[2]

इस दृष्टि से प्रो० वाइटहेड का यह निष्कर्ष कि ईश्वर की धारणा से असीम तथा ससीम, सापेक्ष तथा निरपेक्ष आदि भावनाओं का सन्निवेश रहता है तभी वह विज्ञान के क्षेत्र में चिन्तन का माध्यम बन जाता है।[3] अस्तित्व मूल्य के प्रकाश में मैं प्रथम ही संकेत कर चुका हूँ कि अस्तित्व की दृष्टि से भी विराट या ईश्वर की धारणा हमारे लिए एक सुरक्षा का माध्यम है। यह आभास ही सत्य है। इन विविध दृष्टिकोणों के अन्तराल में एक सत्य यह है कि जिसे प्रो० आइन्स्टीन तथा सर जेम्स जीन्स ने भी स्वीकार किया है कि एक ऐसा शक्ति या "मैथामैटिकल माइन्ड' (Mathematical Mind) अवश्य है जो इस वृहद् रचना का केन्द्र है। यह वृहद् रचना का केन्द्र नियम तथा आकस्मिकता है जो कोई साकार रूप नहीं है पर है उसकी सत्ता अवश्य ! यदि पन्त की शब्दावली में कहें तो यह महाशून्य जिसमें यह दिक निरन्तर विस्तार को प्राप्त कर रहा है और यही महाशून्य जो नित्य है कैसे और कहाँ से इसका उद्भव हुआ यह ज्ञात नहीं यह ही महाशून्य वह सत्य है जिसे हम ईश्वर कहते हैं—

---

१ ह्यूमन डस्टनी पृ० १२५ यही मत वाइटहेड का भी है जो विकासवादी दृष्टिकोण है
२ उर्वशी द्वारा दिनकर, पृ० ७७
३ प्रोसेस एण्ड रियाल्टी द्वारा वाइटहेड पृ० १५८

कौन सत्य वह । महाशून्य तुम
जिससे गर्भित होकर
महाविश्व में बदल गये
धारण कर निखिल चराचर ।[१]

इसी स्थिति को अज्ञेय ने भी एक नितांत दूसरे रूप में ग्रहण किया है जो वैज्ञानिक चिंतन के नितांत अनुकूल है। विज्ञान में सत्य एक है पर वह अनेक रूपों में अनेक सूत्रों में खो सा गया है मगर है वह अवश्य गुप्त तथा अव्यक्त रूप में। तभी तो कवि के लिए सत्य एक ग्रन्थि है और वैज्ञानिक इसी ग्रन्थि को उसके सूत्रों को खोजने में तत्पर है एवं तर्क तथा अनुभव सम्मत रूप में—

सत्य एक है—
क्योंकि वह एक ग्रन्थि है
जिसके सब सूत्र खो गये हैं।[२]

इसमें भी स्पष्ट वैज्ञानिक चिंतन पर आधारित ईश्वर की धारणा का जो रूप निम्न पंक्तियों में प्राप्त होता है वह भी आज के वैज्ञानिक दर्शन का प्रतिरूप माना जा सकता है—

एक शून्य है
मर और अमात के बीच
जो ईश्वर से भर जाता है।[३]

इन उदाहरणों से एक अन्य तथ्य भी ज्ञात होता है कि जहाँ पर हमारी विचार श्रृंखला एक ऐसे बिन्दु पर आकर आगे सोचने में असमर्थ हो जाय तो इस अन्तिम धारणा को हम ईश्वर या किसी अन्य नाम से पुकारते हैं। मैं अपने इस विवेचन को प्रो० वाइटहेड के इस कथन से समाप्त करता हूँ जो वैज्ञानिक चिंतन का मधु है— हम सीमाओं (Limitations) के लिये कोई न कोई आधार अवश्य अपनाएं जो आधारभूत प्रक्रिया के अवयवों के मध्य प्रतिष्ठित हो सके। यह लक्ष्य एक ऐसी सीमा की ओर संकेत करता है जिसके अस्तित्व के लिए कोई कारण नहीं दिया जा सकता है। ईश्वर अन्तिम सीमा है और उसका अस्तित्व अन्तिम तर्कहीनता है। ईश्वर व्यक्त नहीं है पर 'वह' व्यक्त सम्भावनाओं की आधारशिला है।[४]

---

१ युगपथ द्वारा पंत पृ० १३७
२ इत्यलम् द्वारा अज्ञेय, पृ० १६७
३ चक्रव्यूह द्वारा कुंवर नारायण पृ० ७६ शून्य और अशून्य कविता से
४ साइंस एण्ड द माडर्न वर्ल्ड द्वारा वाइटहेड पृ० १७६

तीसरा मूल्य, जिस पर मैं प्रथम ही विचार कर चुका हू वह है सौन्दर्यबोध। इस मूल्यगत चिंतन के अन्तर्गत जिस तथ्य की प्रस्थापना की गई है वह विषय तथा विषयीगत-दोनों स्तरो पर घटित हो सकती है। यही कारण है वैज्ञानिक के लिये ज्ञान बोध, सौंदर्य बोध का पर्याय हो जाता है। वह समरसता तथा ज्ञान को जीवन में सापेक्षिक महत्व देते हुये भी, ज्ञान को ही सर्वोपरि मानता है। यहाँ पर कुछ उसी प्रकार की स्थिति दृष्टिगत होती है जो दार्शनिक ज्ञान के बारे म भी कही जा सकती है। यही कारण है कि प्रत्येक मानवीय ज्ञान का पर्यवसान दर्शन के विज्ञान ज्ञान मे माना जाता है। मेरे मतानुसार वैज्ञानिक का सौन्दर्यबोध इसी ज्ञान की अर्थवत्ता (Significance) म समाहित है क्योंकि—

अनुभूति कहती है कि जो
नग्न है वह सुन्दर नहीं है
यद्यपि सौन्दर्य - बोध
ज्ञान का क्षेत्र है।[1]

चौथा मूल्य नैतिकता से सम्बन्धित है। विज्ञान के क्षेत्र मे नैतिकता भी सापेक्षिक मानी जाती है। उसके अन्तर्गत प्रयोगकर्ता की ईमानदारी अपने कार्य के प्रति निष्काम भावना जो विज्ञान के विकास की प्रथम आवश्यकताए हैं–जिनका पालन करना वैज्ञानिक की नैतिक जागरूकता ही कही जायगी। साहित्य-सर्जन में भी लेखक या कृतिकार इसी नैतिक मूल्य को चरितार्थ कर सकता है और वह उसी समय कर सकता है जब वह व्यक्तिगत विरोध के वात्याचक्र से ऊपर उठकर, एक निष्पक्ष तथा निष्काम साधना को अपना सकेगा। सत्य तो यह है कि आधुनिक काव्य तथा साहित्य मे दलबन्दी तथा व्यक्तिवादी विरोधी वृत्तियाँ ही अधिक नजर आती हैं। वैज्ञानिक ज्ञान-साधना हमें विज्ञान के क्षेत्र मे प्राप्त होती है, उसी प्रकार की ज्ञान साधना आज के काव्य तथा साहित्य के लिए भी अपेक्षित है। वैज्ञानिक चिंतन पर आधारित काव्य–ज्ञान काव्य का प्रतिरूप होता है और उसमें अर्थ की लय ही प्राप्त होगी। इस काव्य मे कल्पना तथा भावना ज्ञान को मनोरम बनाने के लिये माध्यम ही हो सकती है, साध्य नहीं। इस प्रकार दर्शन और विज्ञान एक साथ मिलकर ज्ञान' या सत्य का नव्य निरूपण कर सकते हैं। कवि पन्त के शब्दों में—

दर्शन युग का अन्त अन्त विज्ञानों का संघर्षण
अब दर्शन विज्ञान सत्य का करता नव्य निरूपण।[2]

+

१ इत्यलम् पृष्ठ ६४
२ युगवाणी द्वारा पन्त पृष्ठ ३६

वैज्ञानिक क्षेत्र मे "रूप" की धारणा | ७

रूप या फार्म क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर विज्ञान और दर्शन के द्वारा दिया गया है। यहां पर 'रूप' के स्वरूप तथा अर्थ को समझने के लिए विचारो के इतिहास को समझना होगा क्योंकि इन दोनो का सम्बन्ध एक महत्वपूर्ण सम्बन्ध है। हर एक वस्तु या पदार्थ रूप को धारण करती है अथवा पदार्थ का अस्तित्व ही 'रूप' के द्वारा ग्रहण एव अनुभव किया जा सकता है। लैटिन भाषा म 'फार्मा' (Forma) शब्द प्राप्त होता है जिसका अर्थ यह है कि वह गुण जिसके द्वारा कोई वस्तु वस्तु की संज्ञा प्राप्त करती है।' यदि हम 'रूप' की इस व्याख्या को स्वीकार करें तो यह स्पष्ट होता है कि समस्त विज्ञान और दर्शन इसी 'रूप' का अध्ययन करते हैं और उस अन्तर्निहित रूपाकार सिद्धान्त की खोज करते हैं जो समस्त पदार्थों को अस्तित्व म लाते हैं और उन्हे वे अर्थ प्रदान करते हैं जो कि वे हैं।

आदिमानवीय स्थिति मे चन्द्र देवता तथा अन्य प्राकृतिक परिवर्तनों के प्रकाश म एक ऐसे सिद्धान्त को जन्म दिया जो प्रकृति मे व्याप्त वृद्धि तथा नाश के जैविक सिद्धांत को समक्ष रख सका। वैज्ञानिकों का मत है कि आदिमानव का यह रूपात्मक सिद्धांत (Formative Principle) मानवीय मस्तिष्क की सबसे प्रथम तथा महत्वपूर्ण खोज है। सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि प्राचीनतम सभ्यताओं ने बहुवादी सिद्धांतों को प्रश्रय दिया और बाद चलकर ग्रीक, यूनानी तथा वैदिक सभ्यताओं ने इन बहुवादी सिद्धातो के आधार पर एकात्मवादी सिद्धांतों को स्वीकारा। दूसरे शब्दों म इन सभ्यताओं ने एक अन्तर्निहित रूपात्मक-सिद्धांत को प्रश्रय दिया। संक्षेप म प्राचीनकाल का यह मानसिक अभियान मानवीय रचना को नए क्षितिजों की ओर क्रमशः अग्रसर कर रहा। यह मानव की वह तार्किक अन्वेषण बुद्धि थी जो अनेक जटिलताओं के मध्य म एक समरसता तथा एक नियम की खोज म लगी हुई थी।

विचार के क्षेत्र में इसी नियम या आर्डर (Order) की खोज किसी न किसी रूप में होती रही। इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक पद्धति में एक अन्वेषक की तल्लीनता एवं तटस्थता अवश्य वर्तमान रहती है। यह बात प्रसिद्ध वैज्ञानिक केप्लर और पाइथागोरस के सिद्धान्तों में दर्शनीय है।

केप्लर की भक्ति, धार्मिक भक्ति के समान थी और उसकी यह आस्था अंकीय-शोध (Numerical Research) में मूर्तिमान हो जाती है। दूसरी ओर पाईथगोरस अंकों में ईश्वर की महिमा देखता था और उसकी यह अंकीय सौंदर्यानुभूति उसके पश्चात् के चिंतन में एक आवश्यक तत्व के रूप में चलती रही। पाइथागोरस स्कूल का विचारों के इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि वे अपने विचारों के संगीत से स्वयं अह्लादित एवं आश्चर्यचकित रहते थे। इस अवस्था में समय का भय तथा जीवन के दुःख सब विस्मृत हो जाते हैं। यहां कुछ भी न सृजन होता है और न नाश हरेक वस्तु अपने अंकीय नियमों से अवस्थित रहती है और पिंडो के अनंत संगीत का (Music of spheres) सृजन करती है। पाइथागोरस स्कूल के लिए अंकों या रूपों का यह सत्य वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप का उद्घाटन करता है। इसका कारण यह है कि अंक एक ऐसी सीमा है जो असीम पदार्थ (Unlimited Stuff) को रूप या फार्म प्रदान करती है। हरेक वस्तु का अंकीय रूप उसका विशेष गुण होता है और संगीतात्मक लय प्रकृति की सुंदर ध्वनि है। अंक हरेक वस्तु के रहस्य को छिपाए रहते हैं चाहे उनका क्षेत्र भौतिक, नैतिक या सौंदर्यपरक क्यों न हो ? सच तो यह है कि गणितपरक 'रूप' मानव स्वभाव में गहरे पैठा हुआ है और अंकीय संगीत की लय से उसका अचेतन मन सदा समाया रहता है।

परंतु पाईथागोरस के अंकीय सिद्धांत के आयाम को सभी व्यक्ति स्पर्श नहीं कर पाते हैं। अनेकों के लिए यह भावात्मक आयाम लुप्त हो जाता है जबकि उसके सामने यथार्थ जगत की स्वाभाविक प्रक्रियायें भौतिक इतिहास और पुरुष तथा नारी के क्षेत्र समक्ष आते हैं दूसरी ओर यदि ईश्वर ने विश्व की रचना अपने बिंब के रूप में की है। तो वह ईश्वर नहीं है। उद्‌भव नाश तथा प्रेम का स्थान पाईथागोरस स्कूल के अनुयायियों के लिए नहीं हैं, वे तो एक आध्यात्मिक एवं तात्विक अहलाद का अनुभव करते हैं। इसके बिल्कुल विपरीत ल्यूनार्डो विंसी ने पृथ्वी को एक अंग (Organism) के रूप में स्वीकार किया है जो क्रमशः उद्‌भव स्थिति तथा नाश की परिवर्तनशील दशाओं से गुजरती है। ल्यूनार्डो के साथ ही हम काल के जगत में आ जाते हैं। अब एक स्थिर पूर्णता के स्थान पर जब जगत

(Organic World) मे दृश्यमान परिवर्तनो के रूप को महत्व प्रदान किया गया। इस मत के साथ आधुनिक विज्ञान की आधारशिला का आरम्भ होता है जो मध्यकाल मे आकर 'एक विश्वजनीन' 'रूप' की खोज के लिए अग्रसर होता है।

मध्यकाल (सन् १६०० से) मे फार्म या रूप को भविता (Being) का एक अंतरंग तत्व माना गया और कप्लर तथा गलीलियो ने फार्म की धारणा मे एक अभूतपूर्व रूपान्तर किया। उनके अनुसार विश्लेषण और नाप ऐसे तत्व है जिनके द्वारा प्रकृति को समझा जा सकता है। सन् १६५० के बाद फार्म को एक द्वितीय आकार रूप मे द्वितीय स्थान दिया गया क्योंकि इस समय का वैज्ञानिक मस्तिष्क यह मानने लगा था कि समस्त विश्व अति सूक्ष्म कणो या अणुओ से बना हुआ है और फार्म, इन्ही अणुओ या अंशो का एक समष्टिगत रूप है।

सत्रहवी और अठारवी शताब्दी मे विज्ञान की विश्लेषणात्मक पद्धति ने जीवशास्त्रीय विधानो मे जीवों के बाह्य रूपो और आंतरिक रचनाओ का अध्ययन किया और डारविन ने सबसे प्रथम जैविक रूपो के विकासवादी उद्भव का एक सुगठित सिद्धात सामने रखा। परन्तु इससे भी अधिक महत्वपूर्ण खोजे न्यूटन गलीलियो, फराडे तथा मक्सवेल आदि वैज्ञानिको की हैं। पाईथागोरस को जिस वस्तु की शायद आशा भी नही थी वह स्वयमेव ही न्यायसंगत प्रतीत होती जा रही थी। एक बार फिर ईश्वर एक गणितज्ञ के रूप मे सामने आया और इस धारणा ने गणितपरक भौतिकशास्त्रियो को नये विकास के आयामो की ओर उन्मुख किया।

१६ शताब्दी के अन्त तथा बीसवी शताब्दी के शुरु मे, वैज्ञानिक चिंतन ने फिर एक अभूतपूर्व अभियान आरम्भ किया और १६१० में एक ऐसे विचार का प्रादुर्भाव हुआ जो विश्व के रहस्यो के प्रति एक तार्किक अनुशीलन को प्रश्रय दे सका और वह विचार या भाव था 'आकार' (Structure)

"आकार" की धारणा का आविष्कार बीसवी शताब्दी की देन है। इस शताब्दी के अनेक आविष्कार भुलाए जा सकते हैं पर आकार की धारणा को शायद कभी भी विस्मृत नहीं किया जा सकता है।

आकार (Structure) की भावना को समझने के लिये कुछ बातो की ओर ध्यान देना आवश्यक है। आकार एक प्रकार की सर्वांगित या सापेक्षिक पद्धति है। यह पद्धति किसी भी दशा मे प्राप्त हो सकती है। यह कथन एक अनूतन सा लगता है पर ऐसा नहीं है। उदाहरण स्वरूप माता पिता पुत्र के त्रिकोण को ही ले। तीनो में

एक प्रभावशाली सम्बधगत पद्धति प्राप्त होती है जो अप्रतिसम (asymmetrical) है प्रत्येक परिवतनशील है। प्रत्येक परिवेश मे बढता है उसके अपने आतरिक एव वाह्य गुण होते हैं इसी प्रकार, पदाथ असख्य सूक्ष्म कणो या परमाणुओ से निर्मित होता है, हरेक परमाणु की अपनी दशायें और अपने गुण होते हैं पर समष्टि रूप से वे पदाथ के अभिन्न अ ग होते हैं । ये परमाणु 'अ तिम आकार" के रूप मे माने गए हैं। आधुनिक भौतिकी के प्रत्येक निरीक्षण तथा निष्कष के अ तराल मे परमाणुओं के इसी रूप का आधार ग्रहण किया जाता है। यह भौतिक आकार के प्रति पहला कदम है जो प्रत्येक पदाथ अ तिम कणो से युक्त होता है इस मान्यता को लेकर चलता है।

ये कण एक प्रतिसम तथा क्रम (Order) का पालन करते हैं और यह दशा अवयव (Organism) द्रव्य तथा पदार्थो (क्रिस्टलाइन) मे समान रूप से प्राप्त होती हैं। अत य परमाणु दिक (Space) म एक उच्च कोटि के क्रम या व्यवस्था का पालन करते हैं।

आकार के इस स्वरूप को समझने के लिये एक तत्व और भी आवश्यक है और वह यह है कि भौतिक सरचना की अवस्थाओ मे एक निश्चित दिकीय-पद्धति (Spatial Patterns) प्रदर्शित होती है यह दिकीय पद्धति परमाणुओ के सरचना मे तथा उनके क्रमागत व्यवस्था म अवयव के जीव म, जीवाणुओ म तथा विकसित जीवो या अवयवो में यह आकारगत पद्धति किसी न किसी रूप मे प्राप्त होती है। अत परमाणुओ या कणो का काय एक पद्धति (Pattern) का निर्माण करना है। अत रूप या फार्म इसी अ तर्निहित आकारगत पद्धति का एक प्रतिरूप है। इसी आकारगत पद्धति के द्वारा किसी भी वस्तु के गुणों का अनुशीलन किया जा सकता है। (फिलासफी आफ दि फिजिक्ल साइ स इडिंगटन पृ० १०१-१०३) हरेक दशा मे यही अ तिम आकारगत पद्धति आवश्यक है न कि व्यक्तिगत पदार्थीय अ शो का महत्व है। कहने का तात्पय है कि किसी वस्तु को समझने के लिये इस अ तिम आकारगत पद्धति क अ तराल म जाना आवश्यक है। यही पद्धति अ शो के गुणो को प्रकट करती है नकि अ श इस आकारगत पद्धति के गुण को यही आकारीय सिद्धांत का मूल भाव है।

वैज्ञानिक प्रतीकवादी-दर्शन | ८

वैज्ञानिक विकास का इतिहास तथ्य की ओर संकेत करता है कि मानव मन के विकास क्रम में वैज्ञानिकप्रतीकवाद एकसबल क्रियात्मक ज्ञान क्षेत्र है। उसमें प्राप्त प्रतीकीकरण की प्रवृत्ति का अपना एक विशिष्ट दर्शन है। अतः व्हीलर के शब्दों में हम कह सकते हैं कि वैज्ञानिक प्रतीकवाद मानव के प्रतीकीकरण शक्ति का एक नवीन अध्याय है।[1] वैज्ञानिक प्रतीकों की पृष्ठभूमि में अनुभव और प्रयोग की अपनी एक निजी परिणति है जो अधिकांशतः अन्य ज्ञान के प्रतीकों में अप्राप्य है। इसका यह अर्थ नहीं है कि अन्य ज्ञान क्षेत्रों की प्रतीक सृजन क्रिया अनुभवहीन या प्रयोगहीन होती है परन्तु यह अमर्दग्ध है कि वैज्ञानिक प्रतीकों में इनका कहीं अधिक समाहार है। अस्तु अध्ययन की सुविधा के लिये विज्ञान के विशाल क्षेत्र को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। प्रथम भौतिक विज्ञान (जैसे रसायन, भौतिकशास्त्र गणित जीवशास्त्र मनोविज्ञानादि) और द्वितीय, गणित सम्बन्धी विज्ञान (जैसे भौतिकशास्त्र गणित, ज्यामिति, तर्कशास्त्र) प्रतीकात्मक अध्ययन के लिए इन विभागों के प्रतीकों पर विचार अपेक्षित है।

तर्कशास्त्र और प्रतीक

जिस प्रकार प्रत्येक कला का पर्यवसान संगीत के मधुरिम आँचल में होता है उसी प्रकार समस्त विज्ञान की उन्मुखता तर्क के सत्य की ओर होती है। तर्कशास्त्र (Logic) की एक परिभाषा अर्थ विज्ञान में प्राप्त होती है। उस परिभाषा के अनुसार तर्कशास्त्र में प्राप्त अर्थ तारतम्य उसमें प्रयुक्त प्रतीकों की तर्कमयता पर निर्भर करती है। इसके अतिरिक्त तर्कशास्त्र की दूसरी परिभाषा अधिक वैज्ञानिक सत्य के निकट है। इसके अनुसार तर्कशास्त्र एक प्रतीक विज्ञान के समान है जिसका

---

१ द फिलासफी आफ एज इफ वैहींगर, पृ० ११।

प्रयोग किसी न किसी नियम के अन्तगत भौतिक शास्त्रो अथवा गणित म प्राप्त होता है।[1] यह एक मान्य सत्य है कि प्रतीक का और उस वस्तु का, जिसका कि प्रतीकीकरण हुआ है उनका सम्बन्ध मूलत अथ सम्बन्ध है। लगर के अनुसार प्रतीक और उसके अथ की समस्या एक ही है जिसके द्वारा तकशास्त्र की ऊध्वगामी स्थिति का स्वरूप मुखर होता है।[2]

गणित और प्रतीक अथ के दो पक्ष होते हैं—एक मनोवज्ञानिक और दूसरा तार्किक। मनोविज्ञान की दृष्टि कोई भी वस्तु जिसे अथ ग्रहण करना है उसे चिह्न या प्रतीक का रूप लेना पडेगा। दूसरी ओर तार्किक दृष्टि स इन प्रतीको को एक विशिष्ट विक्रम से सन्दभ (context) की अवतारणा करनी पडती है अत लैंगर के शब्दो म कहा जा सकता है कि अथ का नवीन दशन सवप्रथम प्रतीको का तार्किक सम्बन्ध है जिसके द्वारा एक विशिष्ट अथ की व्यजना होती है।[3] गणित के सामान्यत सभी चिह्न एव प्रतीक तार्किक अथ व्यजना ही करते हैं और अपनी योजना के फलस्वरूप सत्य के किसी अङ्ग का हरस्योद्घाटन करते हैं। कुछ विचारको के अनुसार गणित के चिह्न और प्रतीक शब्द के वण ही है जो अव्यक्त बिम्बो की श्रेणी म माने जाते हैं।[4] बीजगणित के प्रतीक ऐसे ही वण हैं जो किसी विशिष्ट मूल्य की व्यजना करते हैं। इस प्रकार की प्रवत्ति "अङ्का" मे भी प्राप्त होती है। अङ्का का प्रतीकाथ तक-सम्मत होता है। यहा पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि भाषा के वण जिनका आयोजन शब्द सगठन म होता है वे कभी कभी स्वतन्त्र रूप से किसी अथ की व्यजना करते है। धार्मिक प्रतीकों के अन्तगत सत्य और ओउन् (अ×उ×म) के स्वतन्त्र वण प्रतीकाथ पर अन्यत्र विचार कर चुका हूँ।[5] गणित सम्बन्धी विज्ञानो मे इन अङ्को का अथ भी कुछ इसी प्रकार का माना जा सकता है।

अत गणित म प्रयुक्त प्रतीको का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। कला अथवा साहित्य मे प्रयुक्त प्रतीको से इन प्रतीको का रूप सवथा भिन्न है। गणित के प्रतीक

१ द फिलासाफी आफ मथमेटिक्स बटरण्ड रसल पृ० ३५।
२ द फिलासफी इन ए न्यू की लगर पृ० २७६।
३ द फिलासफी इन ए न्यू की लगर पृ० ५२।
४ द वण्डर आफ वड स गोल्डनग, प ८६।
५ पूण विवेचन के लिये देखिए मेरा शोध लेख 'उपनिषद् साहित्य म प्रतीक दशन' हिन्दुस्तानी (त्रमासिक) भाग २३ अङ्क १ जनवरी माच १९६२।

प्रतीक कहीं अधिक अव्यक्त हैं। उसका रूप उतना स्पष्ट नहीं होता है जितना कला अथवा साहित्य में होता है। गणित में प्रतीकों यथा अङ्क, रेखायें, ज्यामितिक चित्र (Geometriacl figures) और यन्त्र के द्वारा एक ऐसी भाषा का सृजन होता है जिसे हम कारनप द्वारा निर्धारित स्थायी भाषा (Definite Language) के अन्तर रख सकते हैं। इस गणित सम्बन्धी भाषा में प्रयुक्त प्रत्येक प्रतीक की योजना एक व्यक्तपूर्णता की द्योतक होती है।[1] इस भाषा के अन्तर्गत कलन (Calculus) का भी समावेश किया गया है।

इसके अतिरिक्त गणित तथा भौतिक विज्ञान में एक अन्य प्रकार की भाषा का प्रयोग होता है। इसमें प्रतीकों की योजना केवलमात्र तार्किक ही नहीं होती है। इनका स्वरूप विवरणात्मक होता। रसल और कारनप ने इस प्रकार की भाषा को अस्थायी भाषा (Ind finite-Language) की संज्ञा दी है जो स्थायी भाषा से कहीं अधिक व्यंजना शक्ति से युक्त होती है।[2] इस भाषा के अन्तर्गत प्राचीन गणित और साथ ही भौतिक विज्ञान के वाक्य और उनमें प्रयुक्त प्रतीकों का भी समावेश रहता है।

इस प्रकार गणित के क्षेत्र में दो प्रकार के प्रतीक प्रयुक्त होते हैं। एक तो वे जो स्थायी रहते हैं अथवा जिनका क्रम एक-सा होता है—जैसे संख्यायें १ २, ३, ४ आदि। दूसरे वे प्रतीक हैं जिनका मूल्य अस्थायी रहता है और उनका अर्थ सदा परिवर्तित होता रहता है—जैसे क ख ग आदि। इनका अर्थ अनिश्चयात्मक होता है क्योंकि सन्दर्भ के प्रकाश में उनके अर्थ या मूल्य में परिवर्तन होता रहता है—ऐसे अनिश्चयात्मक अर्थ ग्राहक प्रतीकों को 'रूपान्तर अङ्क' (Variables) की संज्ञा प्रदान की गई है।[3]

भौतिक विज्ञान और प्रतीक

ये प्रतीक अधिकतर विवरणात्मक एवं किसी विशिष्ट धारणा के प्रतिरूप होते हैं। ऐसे प्रतीक प्राणिशास्त्र भौतिकशास्त्र, रसायन, भूगर्भशास्त्र आदि में प्राप्त होते हैं।

इन विज्ञान के प्रतीकों में अनुभव तथा प्रयोग पर आश्रित किसी विशिष्ट धारणा तथा विचार का प्रतिरूप मिलता है। इस प्रकार से ये प्रतीक यथार्थ का

---

१ द लाजिकल सिंटेक्स आफ लंगवेज कारनप, पृ० ११–१८।

२ द फिलासफी आफ मैथमेटिक्स रसल पृ० ८२।

३ द लाजिकल सिंटेक्स आफ लंगवेज कारनप पृ० १८६।

विश्लेषणात्मक रूप ही रखते हैं। इन प्रतीकों का काव्यात्मक रूप भी हो सकता है जिस पर हम यथास्थान विचार करेंगे। आधुनिक वज्ञानिक अन्तर्दृष्टि ने मानव चेतना के स्तरो म एक उथल-पुथल मचा दी है। अनेक नवीन आविष्कारो ने प्रतीक सृजन की क्रिया को एक गत्यात्मक रूप प्रदान कर दिया है। इसका प्रमुख कारण ज्ञान के उन स्तरो का उद्घाटन करना है जो अभी तक मानवीय चेतना की परिधि म नहीं आ सके हैं। जब मानवीय ज्ञान नित नूतन अभियानो की ओर अग्रसर होता है तब वह उस ज्ञान को स्थायी करने के लिए नूतन प्रतीको का सहारा लेता है। वज्ञानिक प्रतीकवाद के विकास ने इस नियम का पूर्णत पालन किया है। यही कारण है कि नवीन वज्ञानिक दृष्टि से प्राचीन और रूढि मूल्यो पर आश्रित प्रतीकवाद का सघर्ष रहा है। इसके फलस्वरूप अभौतिक यथार्थ के स्थान पर भौतिक प्रयोगात्मक दृष्टि का विकास भी सम्भव हो सका है।[१]

वज्ञानिक प्रतीकवाद जसा कि हुक्मले का मत है एक ऐश्वर्ययुक्त सामान्य भाषा का अङ्ग है। वज्ञानिक प्रतीको के सृजन मे, जहा एक ओर सामान्यीकरण की प्रवृत्ति नजर आती है वही उस सामान्यीकरण मे प्राप्त फल का विशिष्टीकरण भी प्राप्त होता है। अन्त म यह विशिष्टीकरण प्रतीक के द्वारा प्रकट किया जाता है। अत प्रतीक के स्वरूप विकास म सामान्य और विशिष्ट दोनो प्रकार की प्रवृत्तियाँ प्राप्त होती हैं। वैज्ञानिक अपने अनेक प्रयोगो अथवा अनुभवो के आधार पर किसी तथ्य का सामान्य रूप एकत्र करता है। फिर वह उन एकत्र किये हुये सामान्य निष्कर्षों को एक या अनेक प्रतीको म विशिष्टीकरण कर स्थिर कर देता है,। परमाणु गुरुत्वाकर्षण (Gravity) ऊर्जा (Energy) समय आकाश (दिक्) आदि जितने भी प्रतीक हैं, उनमे सामान्यत उपयुक्त प्रक्रिया ही प्राप्त होता है।

वज्ञानिक धारणाए और प्रतीक

वज्ञानिक धारणाो का स्वरूप उपयुक्त विशिष्टीकरण प्रक्रिया का फल है। ये धारणायें या तो स्वतन्त्र पदार्थों या इकाइयों स सम्बन्धित रहती हैं अथवा उनका रूप सम्बन्धो पर (Relations) ही आश्रित है। इन दोनो प्रकार की धारणाओ को प्रतीकों के द्वारा निर्देशित किया जाता है। अरबन के अनुसार य धारणायें प्रथम तो केवलमात्र यथार्थ का प्रतिबिम्बमात्र थी परन्तु गत्यात्मक विद्युत् (Electrodynamics) के आगमन के साथ इन धारणाओं का ध्येय यथार्थ का प्रतीकात्मक

---

१ फिलासफी एव्ह की एन० के लैंगर प० २२७।

निर्देशन करना हो गया।[१] यही से 'प्रतीकवाद' विज्ञान का एक अटूट अग हो गया। गत्यात्मक विद्युतीय सिद्धात भौतिक पदार्थों का जटिल रूप नहीं है पर उनके सापेक्ष सम्बन्धों का एक सरल निर्देशन मात्र है। अत वैज्ञानिक प्रतीकवाद का *सम्बन्धगत सिद्धात इस बात पर आश्रित है कि सत्य और यथार्थ की अभिव्यक्ति* इकाईयो अथवा आकारों पर आश्रित है जो प्रतीकों के द्वारा 'पूर्ण' आकार की योजना करती है। अत यह सिद्धात सिद्ध करता है कि भौतिक विश्व का रहस्य सम्बन्धो पर आश्रित, प्रतीक की धारणा मे समाहित रहता है।

यह सिद्धान्त एक अन्य सत्य की ओर सकेत करता है। यदि विज्ञान इन प्रतीकों की अभिव्यक्ति म नाटकीय भाषा का प्रयोग करता है तब वह कुछ' कहता है और यदि ऐसी नाटकीय भाषा का प्रयोग नहीं करता है तब वह केवल क्रियाशील ही रहता हैं। उस और सत्य का माध्यम नहीं बना सकता हैं। य प्रतीक तात्विक *अभिव्यजना भी करत हैं और यही कारण है कि विज्ञान की विश्य-सम्बन्धित प्रस्था* पनाए तात्विक एव भौतिक रूपो में प्रतीकात्मक ही होती हैं। इस प्रकार वैज्ञानिक-तत्व चिंतन (Metaphysics of Science) का स्वरूप हमारे सामने मुखर होता है। यही बात आइन्स्टीन के सापेक्षवादी सिद्धात के प्रति भी सत्य हैं। आइन्स्टीन *का शब्द पूर्व स्थापित सामरस्य (Pre established Harmony) की धारणा मे* इसी सत्य का सकेत है। सपूर्ण विश्व का सचालन एक पूर्व स्थापित समरसता के द्वारा ही होता है जो कार्य कारण की शृंखला से घटनाओ को एक सूत्र म अनस्यूत करता है। इस विचारधारा म क्या किसी दार्शनिक चिंतन से कम सत्य है? इसी *प्रकार परमाणु का रहस्योद्घाटन सूर्यमण्डल के रहस्य से* समानता रखता है। जिस प्रकार परमाणु के आकार मे केन्द्र के चारो ओर एलक्ट्रान परिक्रमा करते हैं उसी प्रकार सौर मण्डल का केन्द्र सूर्य है और उसके चारो ओर निश्चित वृत्त म ग्रह परिक्रमा करते हैं। इस तथ्य म विश्व के प्रति एक तात्विक दृष्टि प्राप्त होती है। वैज्ञानिक प्रतीकवाद का यह तात्विक क्षेत्र 'ईश्वर समय दिक मात्रि' की धारणाओ म भी सत्य है।[२] यह सत्य भौतिकवादियो एव प्रत्यक्षवादियों के विरोध म पडता है जो विज्ञान को तत्वचिंतन का विषय नहीं मानते हैं। परन्तु उपर्युक्त विवेचन से

---

१ लैंग्वेज एण्ड रियाल्टी अरबन पृ० ५२६।

२ इस दिशा की ओर अनेक वैज्ञानिक दार्शनिकों ने प्रयत्न किए हैं जैसे डून, वाइट हेड, आइन्स्टीन। इसके लिए देखिये ह्यूमन डेस्टनी द्वारा डून साइन्स एण्ड द माडर्न वर्ल्ड द्वारा वाइटहेड और प्रोसेस एण्ड रियल्टी द्वारा वाइट हेडआदि।

स्पष्ट होता है कि यह प्रवृति वैज्ञानिक प्रतीकवाद की सकुचित भावभूमि है, वह भी मानवीय ज्ञान के तत्वपरक रूप का समान अधिकारी है। इस प्रकार काव्यात्मक प्रतीकवाद की तरह वैज्ञानिक प्रतीकवाद को प्रत्यावर्तित तत्व चिंतन (Covert-Metaphysics) की सज्ञा दी जा सकती है।

वैज्ञानिक प्रतीक और काव्य

अनेक विचारकों का मत है कि वैज्ञानिक प्रतीकों का क्षेत्र काव्य अथवा कला के समान नाटकीय नहीं है और उनके द्वारा रसानुभूति या सौन्दर्यानुभूति सभव नही है। इस मत के विश्लेषण अत्यन्त आवश्यक हैं क्योंकि इसकी समुचित विवेचना पर ही साहित्य और विज्ञान की समन्वयभूमि प्रस्तुत हो सकती है।

जहा तक सौन्दर्यानुभूति का प्रश्न है, वैज्ञानिक प्रतीकों मे इसका समुचित समावेश प्राप्त होता है। उसके लिये केवल एक विशेष मानसिक एव बौद्धिक दृष्टि की अपेक्षा है। यदि हम डारविन के विकासवादी सिद्धात या आइन्स्टीन के सापेक्षवादी सिद्धात अथवा मैक्सवेल के विद्युतचुम्बकीय सिद्धान्त का अनुशीलन करें तो इन समस्त नवीन विचार-पद्धतियो की भाषा और उनमे प्राप्त प्रतीको की योजना क्या कम नाटकीय रूप से हमारे सामने आती है। अणु और परमाणु की महान् शक्ति को देखकर, नक्षत्र मण्डल के रहस्योद्घाटन को देखकर दिक् काल और गुरुत्वाकर्षण की धारणाओ को देखकर क्या हमारे अन्तर जिज्ञासा कौतूहलमय सौन्द्य भावना का सचार नही होता है ? अन्तर केवल इतना है कि जहाँ कला की सौंदर्यभावना सवेदना तथा अनुभूति पर आश्रित होती है वहा विज्ञान का सौन्द्य-बुद्धि एवं तर्क पर अधिक आश्रित रहता है। अत मेरे विचार से वैज्ञानिक प्रतीको का प्रयोग साहित्य म सम्भव है केवल इस शर्त के साथ कि उन प्रतीको का प्रयोग काव्य की रसात्मकता म होना चाहिए। सत्य में यह कवि की प्रतिभा पर आधारित है कि वह वैज्ञानिक प्रतीकों को किस प्रकार बुद्धि, भावना तथा सवेदना से समन्वित कर काव्यानुभूति मे एकरस कर सकता है ?

मैं अपने उपर्युक्त कथन को एक उदाहरण के द्वारा स्पष्ट कर देना चाहता हू। वैज्ञानिक प्रतीको और धारणाओं का स्वरूप हिंदी काव्य म और पाश्चात्य काव्य म समान रूप से मिल जाता है। शैली का प्रोमिथियस अनबाउण्ड' प्रसाद की 'कामायनी' गिरिजाकुमार माथुर का शिला पख चमकीले और पत की अनेक स्फुट कविताओं म यत्र-तत्र वैज्ञानिक चिंतन पर आधारित प्रतीकों और विचारों की काव्यात्मक परिणति प्राप्त हो जाती है। मैं यहां पर केवल प्रसाद पत और

निर्देशन करना हो गया।[1] यही से 'प्रतीकवाद' विज्ञान का एक अटूट अंग हो गया। गत्यात्मक विद्युतीय सिद्धान्त भौतिक पदार्थों का जटिल रूप नही है पर उनके सापेक्ष सम्बन्धो का एक सरल निर्देशन मात्र है। अत वैज्ञानिक प्रतीकवाद का सम्बन्धगत सिद्धांत इस बात पर आश्रित है कि सत्य और यथार्थ की अभिव्यक्ति इकाईयो अथवा आकारो पर आश्रित है जो प्रतीको के द्वारा 'पूर्ण आकार की योजना करती है। अत यह सिद्धांत सिद्ध करता है कि भौतिक विश्व का रहस्य सम्बन्धो' पर आश्रित, प्रतीक की धारणा म समाहित रहता है।

यह सिद्धान्त एक अन्य सत्य की ओर सकेत करता है। यदि विज्ञान इन प्रतीको की अभिव्यक्ति म नाटकीय भाषा का प्रयोग करता है तब वह कुछ' कहता है और यदि ऐसी नाटकीय भाषा का प्रयोग नही करता है तब वह केवल क्रियाशील ही रहता हैं। उसे और सत्य का माध्यम नही बना सकता हैं। ये प्रतीक तात्विक अभिव्यजना भी करते हैं और यही कारण हैं कि विज्ञान की विश्व-सम्बधित प्रस्थापनाए तात्विक एव भौतिक रूपो में प्रतीकात्मक ही होती है। इस प्रकार वैज्ञानिक तत्व चिंतन (Metaphysics of Science) का स्वरूप हमारे सामने मुखर होता है। यही बात आइन्स्टीन के सापेक्षवादी सिद्धात के प्रति भी सत्य हैं। आइन्स्टीन का शब्द पूर्व स्थापित सामरस्य (Pre established Harmony) की धारणा म इसी सत्य का सकेत है। सपूर्ण विश्व का सचालन एक पूर्व स्थापित समरसता के द्वारा ही होता है जो कार्य कारण की शृखला से घटनाओ को एक सूत्र म अनुस्यूत करता है। इस विचारधारा मे क्या किसी दार्शनिक चिंतन से कम सत्य है? इसी प्रकार परमाणु का रहस्योद्घाटन सूर्यमण्डल के रहस्य स समानता रखता है। जिस प्रकार परमाणु के आकार मे केन्द्र के चारो ओर एलक्ट्रान परिक्रमा करते है उसी प्रकार सौर मण्डल का केन्द्र सूर्य है और उसके चारो ओर निश्चित वृत्त म ग्रह परिक्रमा करते हैं। इस तथ्य मे विश्व के प्रति एक तात्त्विक दृष्टि प्राप्त होती है। वैज्ञानिक प्रतीकवाद का यह तात्विक क्षेत्र 'ईश्वर समय दिक आदि की धारणाओ म भी सत्य है।[2] यह सत्य भौतिकवादियो एव प्रत्ययवादियो के विरोध म पडता है जो विज्ञान को तत्वचिंतन का विषय नही मानते हैं। परन्तु उपर्युक्त विवेचन से

१ लगवेज एण्ड रियाल्टी अरबन पृ० ५२६।

२ इस दिशा की ओर अनेक वैज्ञानिक दार्शनिकों ने प्रयत्न किए हैं जसे डून, वाइट हेड, आइन्स्टीन। इसके लिए देखिये ह्यूमन डेस्टनी द्वारा डूनू साइन्स एण्ड द माडन वर्ल्ड द्वारा वाइटहेड और प्रोसेस एण्ड रियल्टी द्वारा वाइट हेडआदि।

स्पष्ट होता है कि यह प्रवृति वैज्ञानिक प्रतीकवाद की सकुचित भावभूमि है, वह भी मानवीय ज्ञान के तत्वपरक रूप का समान अधिकारी है। इस प्रकार काव्यात्मक-प्रतीकवाद की तरह वैज्ञानिक प्रतीकवाद को प्रत्यावर्तित तत्व चिंतन (Covert-Metaphysics) की सज्ञा दी जा सकती है।

वैज्ञानिक प्रतीक और काव्य

अनेक विचारकों का मत है कि वैज्ञानिक प्रतीकों का क्षेत्र काव्य अथवा कला के समान नाटकीय नहीं है और उनके द्वारा रसानुभूति या सौंदर्यानुभूति सभव नहीं है। इस मत के विश्लेषण अत्यन्त आवश्यक हैं क्योंकि इसकी समुचित विवेचना पर ही साहित्य और विज्ञान की समन्वयभूमि प्रस्तुत हो सकती है।

जहा तक सौंदर्यानुभूति का प्रश्न है वैज्ञानिक प्रतीकों मे इसका समुचित समावेश प्राप्त होता है। उसके लिये केवल एक विशेष मानसिक एव बौद्धिक दृष्टि की अपेक्षा है। यदि हम डारविन के विकासवादी सिद्धान्त या आइन्स्टीन के सापेक्ष वादी सिद्धात अथवा मैक्सवेल के विद्युतचुम्बकीय सिद्धात का अनुशीलन करें तो इन समस्त नवीन विचार-पद्धतिया की भाषा और उनमे प्राप्त प्रतीकों की योजना क्या कम नाटकीय रूप से हमारे सामने आती है। अणु और परमाणु की महत् शक्ति को देखकर, नक्षत्र मण्डल के रहस्योद्घाटन को देखकर दिक् काल और गुरुत्वाकर्षण की धारणाओं का देखकर क्या हमारे अन्दर जिज्ञासा कौतूहलमय सौंदर्य भावना का सचार नही होता है? अन्तर केवल इतना है कि जहाँ कला की सौंदर्यभावना सवेदना तथा अनुभूति पर आश्रित होती है वहा विज्ञान का सौंदर्य-बुद्धि एव तर्क पर अधिक आश्रित रहता है। अत मेरे विचार से वैज्ञानिक प्रतीकों का प्रयोग साहित्य म सम्भव है कवल इस शर्त के साथ कि उन प्रतीकों का प्रयोग काव्य की रसात्मकता म होना चाहिए। सत्य में यह कवि की प्रतिभा पर आधारित है कि वह वैज्ञानिक प्रतीकों को किस प्रकार बुद्धि, भावना तथा सवेदना से समन्वित कर काव्यानुभूति मे एकरस कर सकता है?

मैं अपने उपयुक्त कथन को एक उदाहरण के द्वारा स्पष्ट कर देना चाहता हू। वैज्ञानिक प्रतीकों और धारणाओं का स्वरूप हिन्दी काव्य मे और पाश्चात्य काव्य म समान रूप से मिल जाता है। शैली का प्रोमिथियस अन बाउण्ड प्रसाद की 'कामायनी' गिरिजाकुमार माथुर का शिला पख चमकील और पत की अनेक स्फुट कविताओं म यदाकदा वैज्ञानिक चिंतन पर आधारित प्रतीकों और विचारों की काव्यात्मक परिणति प्राप्त हो जाती है। मैं यहा पर केवल प्रसाद पन्त और

गिरिजाकुमार माथुर के काव्य में 'परमाणु' की वैज्ञानिक धारणा का उल्लेख करूँगा।

विज्ञान में पदार्थ की सूक्ष्मतम इकाई को 'परमाणु' की संज्ञा दी है। परमाणु के भी अन्दर उसकी विद्युत शक्ति की व्याख्या करने के लिये एलक्ट्रान और 'प्रोटान' आदि की कल्पना की गई। एलक्ट्रान ऋणात्मक विद्युत शक्ति का और प्रोटान' धनात्मक शक्ति का केन्द्र होता है। दोनों की शक्तियां निष्क्रियावस्था में रहती है। इसी तथ्य की सुन्दर-काव्यात्मक अभिव्यक्ति 'प्रसाद' ने इस प्रकार प्रस्तुत की है—

आकर्षणहीन विद्युत्कण बने भारवाही थे भृत्य[1]

पूरे महाकाव्य में प्रसाद परमाणु की रचना तथा प्रकृति के प्रति पूर्णरूप से सचेत है। बीसवीं शताब्दी के पहले चरण तक परमाणु के रहस्य का साक्षात्कार डाल्टन वेहर आदि वैज्ञानिकों ने किया था। परमाणु की प्रकृति अत्यन्त चलायमान होती है। प्रत्येक परमाणु दूसरे परमाणु के प्रति आकर्षित ही नहीं होता है वरन् उस आकर्षण में नवीन सृष्टि क्रम की सम्भावनाएं भी निहित हैं। उनके विस्फोट में संहार और निर्माण की समान सम्भावनाएं रहती है। इसी परमाणु विस्फोट को अनादि ब्रह्म का रूप देते हुए गिरिजाकुमार माथुर ने परमाणु विस्फोट के प्रभाव को इस प्रकार प्रदर्शित किया है—

हो गया है फिशन अणु का
परम ब्रह्म अनादि मनु का
ब्रह्म ने भी खूब बदला नाम
लोक हित में पर न आया काम।[2]

सत्य में यह परमाणु की रचना सौर मण्डल की रचना का प्रतिरूप कहा जाता है। परमाणु स्वयं में एक एक ब्रह्माण्ड हैं उन्हें विश्राम कहां? उनका चित्र में मानो प्रकृति की गतिशील विकासशीलता का व्यवधान ही है। अतः आइन्स्टीन के अनुसार परमाणुओं में वेग (Velocity), कंपन (Vibration) और उल्लास (Veracity) तीन की अभिव्यक्ति प्राप्त होती है। तीनों के सम्यक समन्वय या समरसता में ही सृष्टि का रहस्य छिपा हुआ है। प्रसाद ने इसी तथ्य को काम सर्ग में इस प्रकार व्यक्त किया है जो काव्य की दृष्टि से पूर्ण रसात्मक है और साथ ही वैज्ञानिक प्रस्तावना की सुन्दर काव्यात्मक परिणति भी—

---

१ कामायनी प्रसाद पृ० २०, चिन्ता सर्ग।
२ धूप के धान गिरिजाकुमार माथुर, पृ० ८६।

अणुओं को है विश्राम कहा,
यह कृतिमय वेग भरा कितना।
अविराम नाचता कम्पन है
उल्लास सजीव हुआ कितना ।।[1]

वेग कंपन और उल्लास—अणु के तीन तत्वों की ओर बहुत ही सुन्दर एवं सूक्ष्म संकेत कवि ने प्रस्तुत किया है। इसी भाव को पंत ने कुछ दूसरे प्रकार से व्यंजित किया है—

महिमा के विशद् जलधि मे हैं छोटे छोटे से कण।
अणु से विकसित जग-जीवन, लघु-लघु का गुरुतम साधन ।।[2]

अणु की लघुता ही उसकी महानता है क्योंकि वे महिमा के रहस्य सागर प्राण हैं। वे लघु होते हुए भी सृष्टि के गुरुतम कार्य को सम्पन्न करते हैं। इसी कारण प्रसाद ने परमाणुओं को चेतनायुक्त भी कहा है जिनके अन्योन्य सम्बन्ध में, उनके बिखरने तथा विलीन होने में सृष्टि का विकास एवं विलय निहित है।

चेतन परमाणु अनन्त बिखर
बनते विलीन होते क्षण भर ।[3]

इस प्रकार वैज्ञानिक प्रतीकों का काव्यात्मक प्रयोग एक तरह से संवेदना तथा भावना के संयोग से काव्य की धरोहर बन सकता है। मेरे विचार से आज के बुद्धिवादी कवियों के चिंतन ने अनेक ऐसे नूतन आयाम खोल दिये हैं जिनकी ओर कवि की सृजन शक्ति गतिशील हो सकती है। आधुनिक हिंदी काव्य में वैज्ञानिक धारणाओं और प्रतीकों का यत्र-तत्र सुन्दर संकेत प्राप्त होता है, जिन पर एक अलग रूप से ही विचार किया जा सकता है। मेरा यह प्रयास केवल उस प्रयत्न की एक कड़ी है।

●

---

१ कामायनी काम सर्ग पृ० २८।
२ गुंजन पन्त पृ० २८।
३ कामायनी पृ० ८२।

प्रो० इडिंगटन तथा सर जेम्स जीन्स का आदर्शवाद | ६

आधुनिक वैज्ञानिक विकास तथा उसके चिंतन को हृदयंगम करने के लिए अनेक वैज्ञानिकों को लिया जा सकता है। प्रो० इडिंगटन तथा सर जेम्स जीन्स इन दो वैज्ञानिकों को इस दृष्टि से लिया गया है कि इन दोनों वैज्ञानिकों के विचारों में उन मूलभूत प्रत्ययों का समाहार प्राप्त होता है जो वैज्ञानिक आदर्शवाद के रूप को मुखर करता है। इस आदर्शवाद को हृदयंगम करने के लिए हम इन विचारकों के विचारों को अलग अलग लेते हैं और उनके औचित्य पर तात्त्विक विश्लेषण का सहारा लेते हैं।

(१)

प्रो० इडिंगटन एक भौतिक शास्त्री हैं और उनके विचारों में भौतिकी सिद्धांतों तथा प्रस्थापनाओं का एक ऐसा आधार प्राप्त होता है जो वैज्ञानिक चिंतन के निकट माना जा सकता है। उनका समस्त चिंतन इस प्रत्यय को लेकर चलता है कि आधुनिक भौतिकी विश्व के आदर्शात्मक विवेचन को प्रश्रय देती है।

यह समस्त विश्व या भौतिक जगत इस रूप में परिभाषित किया जा सकता है कि यह ज्ञान का एक माध्यम है। यह ज्ञान तीन महत्त्वपूर्ण दशाओं अथवा स्थितियों से गुजरता है—(१) प्रथम वे मानसिक बिंब या प्रतीक जो हमारे मस्तिष्क में वर्तमान रहते हैं (२) बाह्य या भौतिक संसार में इसका प्रतिरूप जो वस्तुगत होता है और (३) प्रकृति के नियम जो सापेक्षगत अध्ययन से प्राप्त होते हैं। ये ही निष्कर्ष के रूप होते हैं। इस प्रकार विज्ञान का जगत मानसिक अमूर्तन या प्रतीकीकरण का क्षेत्र है जिस प्रकार मानवीय ज्ञान के अन्य क्षेत्र माने गए हैं। इडिंगटन का यह उपर्युक्त मत इस प्रस्थापना का समर्थन करता है कि गणित से सम्बन्धित प्रतीकवाद हमारे ज्ञान को विवेचित एवं स्थापित करता है। (दे० फि-लासफी आफ फिजिकल साइन्स पृ० ५०–५१ द्वारा इडिंगटन) ज्ञान का यह

बिबात्मक रूप वस्तुओं के सम्पेक्षिक सम्बन्ध का द्योतक है। इसी से विज्ञान का सम्बन्ध अनुभव के तार्किक सम्बन्ध से माना गया है।

इंडिंगटन के इस मत में मानसिक बिंबात्मक सृजन को स्वीकारा गया है पर वस्तु तथा पदार्थ के महत्व को अपेक्षाकृत कम महत्व दिया गया है। इसका कारण उनका आत्मवादी दृष्टिकोण है। उनका यह कथन है कि चेतन पदार्थ ही तार्किक सम्बन्ध से युक्त हो सकता है अचेतन पदार्थ नहीं। यही कारण है कि इंडिंगटन महोदय ने पदार्थ को दो भागों में बाट कर चेतन पदार्थ को सक्रिय एवं गतिवान माना है। सच तो यह है वैज्ञानिक 'पदार्थ' स्वयं ही प्रतीक है—और ये प्रतीक धारणा या प्रत्यय को जन्म देते हैं। अणु, समय दिक् आदि प्रतीक किसी न किसी धारणा या Concept को ही हमारे सामने रखते हैं। इस आधार पर इडिंगटन का आदर्शवादी दृष्टिकोण पदार्थ के प्रति वह आस्था नहीं रखता है जो मानसिक सृजन शक्ति में। इसी से उनका दृष्टिकोण अध्यांतरिक है (Subjective) जो आदर्शवादी परम्परा के अन्तर्गत आता है।

इस आत्मवाद का रूप उनके सत्य या यथार्थ के विवेचन में मिलता है। आधुनिक वैज्ञानिक चिंतन का एक आवश्यक तथा क्रान्तिकारी प्रत्यय यह है कि यथार्थ अध्यातरिक या विषयीगत है। आइन्स्टाइन के सापेक्षवाद में भी दिक् और काल को द्रष्टा के अनुकूल माना है अर्थात् दिक् और काल की भावना द्रष्टा सापेक्ष है, वह न्यूटन की मान्यता की भाँति निरपेक्ष नहीं है। इंडिंगटन महोदय ने इस सापेक्ष दृष्टि को समन्वय कर यथार्थ को सापेक्ष माना है और साथ ही उसे आत्मिक या अध्यांतरिक भी माना है। उपनिषद् साहित्य में अहं ब्रह्मास्मि का मूलभूत अर्थ इसी वैज्ञानिक तथ्य को समझने से और भी व्यापक एवं विस्तृत हो जाता है। इसी से यथार्थ की धारणा 'पूर्ण और अंश' के सह अस्तित्व की भावना मानी जा सकती है। विश्लेषण की धारणा का विवेचन करते हुए इंडिंगटन महोदय ने स्पष्ट रूप से कहा है कि 'पूर्णता की भावना (Whole) जो 'अंशों (Parts) में विभाजित हो जैसे अंशों के सह-अस्तित्व से 'पूर्णता' के अस्तित्व का बोध होता है।

इसी यथार्थ की भावना के अन्तर्गत गणित में प्रयुक्त समूह-सिद्धांत (Theory of groups) का सहारा लेते हुए इंडिंगटन महोदय ने रूपाकार के अन्तर मिश्रित स्वरूप (Interlacing pattern of structures) का विवेचन करते हुए यह तथ्य सामने रखा है कि भौतिक ज्ञान की अभिव्यक्ति के लिए एक गणितात्मक स्वरूप की आवश्यकता है क्योंकि केवल इसी के द्वारा हम रूपाकार—ज्ञान (Structural knowledge) को ग्रहण कर सकते हैं। रूपाकार के अन्तराल में कौनसा यथार्थ छिपा हुआ है इसका ज्ञान एक गणितात्मक प्रतीक ही करता है। और यह प्रतीक

अभेद होता है। स्पावार ज्ञान को इस प्रकार भौतिक ज्ञान का पूरक मान लेने पर मन या शक्ति और पदार्थ का द्वैत भाव अपने आप मिट जाता है। यही विज्ञान का अद्वैत-दर्शन है जो आइन्स्टाइन प्लैंक जेम्स एडिंगटन सर जेम्स जीन्स ह्वाइटहेड आदि के द्वारा विभिन्न दृष्टिकोणों से मान्य है।

(२)

एडिंगटन के आदर्शवाद के उपर्युक्त विवेचन के द्वारा यह स्पष्ट होता है कि विश्व केवल मात्र एक यांत्रिक रचना नहीं है। ज्ञान का क्षेत्र जो अभी तक विज्ञान के द्वारा उद्घाटित हुआ है, वह मध्यकालीन समय से कुछ भिन्न होता जा रहा है। विश्व के आधुनिक प्रगतिशील ज्ञान से यांत्रिक विश्व के स्थान पर अयांत्रिक विश्व की प्रस्थापना को रखा है। सर जेम्स जीन्स ने विश्व की इस अयांत्रिक (Non Mechanical) व्याख्या को सर्वप्रमुख स्थान दिया है। आगे चलकर आइन्स्टाइन के सापेक्षवादी सिद्धांत ने विश्व को एक अयांत्रिक यथार्थ के रूप में देखा है।

सर जेम्स जीन्स ने यथार्थ के इस अयांत्रिक रूप को मान्यता देते हुये यह मत समक्ष रखा कि विश्व एक विचार (Thought) है वह एक बड़ा एवं विशालकाय यंत्र नहीं है।

इसी अयांत्रिक विश्व की रचना के आधार पर वह 'ईश्वर" की धारणा को स्वीकार करता है। जो चतुर्आयामिक सत्य (Four Dimensional Reality) का प्रतिरूप है। यह चार आयामों की धारणा आइन्स्टाइन के चार आयामों से भी मूलतः समानता रखती है। आइन्स्टाइन ने दिक् और काल के सापेक्ष सम्बन्ध को स्वीकार किया और दिक् तथा काल को निरपेक्ष न मानकर सापेक्ष माना। सर जेम्स जीन्स ने दिक् और काल के अस्तित्व को मान्यता तो प्रदान की है पर उनका कथन है कि इन दोनों प्रत्ययों का अस्तित्व मूलतः विचार" का परिणाम है (दे० फिलासिफिकल एस्पेक्ट्स आफ माडर्न साइंस द्वारा सी० ई० एम० जोड) अतः ईश्वर स्वयं दिक् और काल में क्रियात्मक रूप धारण नहीं करता है पर 'वह दिक् और काल के साथ कार्यरत होता है। यहाँ पर ईश्वर और विश्व के सापेक्ष महत्व को स्वीकारा गया है क्योंकि ईश्वर की धारणा यहाँ पर दिक् और काल के साथ मानी गई है वह न इनसे परे है और न निरपेक्ष। अनेक विकासवादी वैज्ञानिकों ने भी ईश्वर को विकास परम्परा के साथ माना है वह प्राणी विकास की चेतना के साथ विकसित होता है लॉयड मार्गन ल्यूकॉम्ते ह्वाइटहेड तथा ज्यूलियन हक्सले आदि विकासवादी चिंतकों ने ईश्वर को इसी रूप में मान्यता प्रदान की है। दार्शनिक शब्दावली में वह तो वैज्ञानिक आदर्शवाद द्वैत भावना के

द्वारा 'अद्वैत' की ओर उन्मुख होता है, और यही अद्वैत दर्शन विश्व, प्रकृति मानव तथा ईश्वर को एक सगुम्फित रूप में रखता है। पदार्थवादी वैज्ञानिक चाहे ईश्वर के इस रूप के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण रखें पर इतना तो वे भी मानेंगे कि चतुर्आयामिक अर्थात एक ऐसी मान्यता है जो पदार्थ के स्वरूप पर एक अभौतिक (Non Physical) मान्यता को प्रश्रय देती है। यहाँ पर बटरेंड रसल का वह मत याद आता है जो उन्होंने आधुनिक पदार्थ के बारे में कहा था। उसका कथन है कि पदार्थ एक गणितपरक अमूर्तन है जो शून्य दिक में घटित होता है। आधुनिक 'पदार्थ' की धारणा भौतिक या पदार्थवादी (Material) नहीं रही है पदार्थ वह तथ्य है। जिसकी ओर मन' सदैव गतिशील रहता है पर वह उस (पदार्थ) तक कभी भी पहुँच नहीं पाता है। यही उसकी नियति है। यह नियति ही अभौतिक पदार्थ है या ईश्वर, यह तो केवल नाम देने का प्रश्न है।

यहाँ पर जेम्स जीन्स के एक मत को भी देखना आवश्यक है और उसके औचित्य पर कुछ विश्लेषण अपेक्षित है। उसका यह कथन है कि प्रकृति की जो भी संरचना है वह गणितपरक चित्रों की संरचना है। दूसरे शब्दों में गणितपरक अभूतन ही समस्त प्रकृति की व्याख्या करने में समर्थ है। यहाँ ईडिंगटन के रूपाकार Strectures तत्व की मान्यता याद आती है जो मेरे विचार से जीन्स महोदय के समकक्ष मानी जा सकती है। इस संदर्भ में यह देखना है कि क्या विज्ञान की अन्य शाखायें भी गणितपरक चित्रों के द्वारा समझी जा सकती है। अथवा इन चित्रों के द्वारा उनकी व्याख्या संभव है। समस्त विज्ञान गणितपरक नहीं है जैसे जीवशास्त्र वनस्पतिशास्त्र, भूगर्भविज्ञान तथा मनोविज्ञान आदि। यहाँ तक उद्भव सिद्धांत जीवन की धारणा आदि से सम्बन्धित नियम भी नितांत गणितपरक प्रत्ययों से शासित नहीं होते हैं। फिर, सौंदर्य सत्य शिव आदि धारणाओं के प्रति क्या कहना चाहिये। यह तो निश्चित है कि ये अमूर्त धारणायें गणितपरक धारणायें नहीं मानी जा सकती हैं। परन्तु दूसरी ये समस्त धारणायें मानसिक हैं। इस तथ्य के आधार पर यह कहना अतार्किक एवं असंगत नहीं होगा कि सर जीन्स महोदय के 'गणितपरक चित्र' की मान्यता पूर्णरूपेण सत्य नहीं है पर हां यह एक ऐसी मान्यता है जो भौतिकी, नक्षत्रविद्या आदि क्षेत्रों के लिये एक सत्य है।

●●●

वैज्ञानिक चिंतन का स्वरूप | १०

'आज का युग वैज्ञानिक युग है' यह कथन आज के व्यक्ति के लिए एक अत्यंत सामान्य कथन बन गया है, क्योंकि इस एक वाक्य मे हमारी समस्त तकनीकी एवं वैचारिक प्रगति केंद्रीभूत हो जाती है। मैंने यहाँ तकनीकी प्रगति के साथ 'वैचारिक' शब्द का भी प्रयोग किया है। इसका कारण यह है कि सामान्यत वैज्ञानिक शब्द के साथ तकनीकी एवं भौतिक प्रगति का सम्बंध कुछ परम्परागत सा हो गया है और उसके साथ, जब भी चिंतन या वैचारिक शब्द को जोड़ा जाता है। तब हम कुछ सजग से हो जाते हैं क्योंकि शायद विज्ञान के साथ यह शब्द हम में मानसिक भ्रम उत्पन्न कर देता है। मेरा मंतव्य यह रहा है कि शब्द तथा उसके अर्थ का सम्बंध संदर्भ सापेक्ष होने के कारण उसका अर्थ कभी-कभी परम्परा से हट कर एक नवीन संदर्भ को अवतरित करता है। इस दृष्टि से 'चिंतन' शब्द एक नवीन संदर्भ को उत्पन्न करता है क्योंकि विज्ञान की प्रगति ने केवल भौतिकवादी चिंतन को ही विकसित नहीं किया है पर इसके साथ ही साथ तात्विक चिंतन को भी गतिशील किया है। जब तक हम चिंतन के इस पक्ष का सही मूल्यांकन नहीं करते तब तक हम वैज्ञानिक चिंतन के सही अर्थ एवं उसके स्वरूप को हृदयंगम नहीं कर सकते।

यदि चिंतन शब्द को व्यापक परिप्रेक्ष्य में लिया जाय तो इसका अर्थ दर्शन से भी ग्रहण किया जा सकता है। दर्शन का क्षेत्र चिंतन का क्षेत्र है और इस दृष्टि से वैज्ञानिक-दर्शन (चिंतन) वह दृष्टि है जो हम तार्किक अनुभव के बल पर मानव, विश्व तथा मूल्यों के (Values) प्रति एक दृष्टि प्रदान करती है अतः वैज्ञानिक-दर्शन चिंतन प्रमूर्त अवधारणात्मक (Conceptual) प्रक्रिया है। इसी कारण वैज्ञानिक दर्शन में बौद्धिक व्यापकता प्राप्त होती है और यह बौद्धिकता

तकजनित एव अनुभवजनित होती है। जब हम विज्ञान की प्रगति को ऐतिहासिक परिवेश मे रखकर देखते हैं तब यह स्पष्ट होता कि मध्यकालीन विज्ञान ने वस्तुगत यथार्थ के आधार पर बौद्धिकता का विकास किया और बीसवी शताब्दी मे आकर यह बौद्धिकता तक तथा अध्यातरिक (Subjective) दृष्टिकोणो से कहीं अधिक विकसित हो सकी। आइस्टीन के सापेक्षवादी सिद्धात ने अध्यातरिक दृष्टिकोण को वज्ञानिक चितन म एक महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है[1] और अप्रत्यक्ष रूप से बौद्धिकता का सम्बध इसी आध्यातरिक दृष्टिकोण पर आश्रित है अथवा उसी का एक विकसित रूप है। वज्ञानिक प्रगति मे बौद्धिकता को एक तकमूलक अनुभव का स्वरूप माना है क्योकि विज्ञान मूलत अनुभव के तकमूलक सम्बध पर आश्रित एक मानवीय क्रिया है[2] जो इसी सम्बध अथवा सापेक्षता के प्रकाश मे सत्य को जानने का प्रयत्न करती है। सम्पूर्णरूप से, वज्ञानिक दशन का विकास इसी सम्बधगत अनुभव की आधार शिला पर विकसित हुआ है।

अध्यातरिक दृष्टिकोण के स्वरूप विश्लेषण का प्रश्न वज्ञानिक दशन का महत्व पूर्ण प्रश्न है। इसी स्वरूप विश्लेषण के वज्ञानिक चितन की आधुनिक प्रक्रिया पर निष्पक्ष विवेचन अपेक्षित है। दाशनिक क्षेत्र मे विश्व के प्रति सामान्य रूप से दो दृष्टियो का सघर्ष रहा है एक विषयगत दृष्टिकोण जो वस्तु जगत् को को ही एकमात्र सत्य मानता है। यात्रिक विश्व की कल्पना इसी दृष्टि का फल है जिसे वज्ञानिक प्रगति ने भी स्वीकार किया है दूसरी ओर विषयीगत या अध्यातरिक दृष्टिकोण है जो विश्व को केवल भौतिक न मान कर उसे तात्विक रूप म अथवा दशन की शब्दावली मे आध्यात्मिक रूप म ग्रहण करने का प्रयत्न करता है। बीसवी शताब्दी म आकर अनेक वज्ञानिक चितको ने केवल मात्र वस्तुगत दृष्टिकोण को ही 'सत्य नही माना उन्होंने विश्व तथा प्रकृति को अधिक गहराई से देखने का प्रयत्न किया है यात्रिक-दृष्टिकोण के प्रति प्रसिद्ध वज्ञानिक चितक एडिंगटन का मत है— 'प्रत्येक वस्तु के यात्रिक-विवचन का त्याग निष्क्रिय उपपत्तियो को समाप्त करने मे समथ हो सका और क्रमश अभिज्ञानपरक उपपत्तिया (Epistemological hypotheses) को स्थान दे सका।[3]

वज्ञानिक दशन म यात्रिक दृष्टिकोण के प्रति यह अविश्वास मूलत आध्यातरिक या विषयीगत दृष्टि का फल है। हिंदू दशन का मुख्य स्वर भी

---

१ साइस एड द माडन वल्ड सर ए० एन० व्हाइटहेड पृ० १४१।
२ द फिलासफी आफ फिजिकल साइस सर आथर एडिंगटन, पृ० १८४।
३ वही , , पृ० ४१–४५।

आध्यात्मिक है। पाश्चात्य दार्शनिक डेकार्ट ने भी चेतना के "प्रकारों" को अपनी ही सापेक्षता में सत्य माना है। दिक्, काल पदार्थ और ऊर्जा आदि की धारणायें मूलतः सापेक्षिक एवं आध्यात्मिक हैं। आधुनिक पदार्थ की धारणा भी भौतिक न होकर अपने मूल रूप में तात्विक है। बर्ट्रेंड रसल ने इस मत की प्रस्थापना की है कि पदार्थ शून्य दिक् में घटनाओं का एक गणितपरक अमूर्त्तन है (Abstraction) जिसकी ओर मन गतिशील होता है, पर उस तक पहुंचने में असमर्थ रहता है।[1] दर्शन और विज्ञान के इस सन्धिस्थल पर पहुंच कर यह मान्यता सत्य प्रतीत होती है कि दर्शन और विज्ञान का अन्तर एक निर्मूल अन्तर है।[2] प्रत्येक मानवीय ज्ञान अपनी उच्चतम परिणति में चिन्तन की ओर उन्मुख हो जाता है और यह उन्मुखता दर्शन का ही क्षेत्र है। वैज्ञानिक ज्ञान भी इसी तथ्य की ओर संकेत करता है क्योंकि, इस ज्ञान में विश्व प्रकृति, ईश्वर और अस्तित्व जैसे प्रश्नों पर विचार किया गया है और इस प्रकार नवीन प्रतिमानों की ओर संकेत किया गया है। अति भौतिकवादी विचारक कदाचित् इस तथ्य को मान्यता न दें पर मैं अमूर्तन की प्रक्रिया के कारण, जो विज्ञान में भी चरितार्थ होती जा रही है इस मत को स्वीकार किये बिना नहीं रह सकता हूं कि विज्ञान केवल भौतिक एवं दृश्य जगत् सापेक्ष ज्ञान नहीं है, वह भी अमूर्तन एवं प्रतीकीकरण के द्वारा दार्शनिक प्रस्थापनाओं एवं मान्यताओं के प्रति सजग एवं गतिशील है।

इस अमूर्त्तन की प्रक्रिया ने ज्ञान के क्षेत्र को विकसित किया है और इसके साथ ही साथ प्रतीकीकरण की क्रिया ने विचारों तथा धारणाओं को गतिशील किया है। विचारों का आधारभूत कार्य प्रतीकीकरण है और दार्शनिक चिन्तन, एक मानवीय ज्ञान होने के कारण अमूर्तन तथा प्रतीकीकरण दोनों प्रक्रियाओं को चरितार्थ करता है। अतः ज्ञान का आरोहण इन प्रक्रियाओं के द्वारा व्यक्त होता है। आधुनिक ज्ञान ही नहीं पर उसका सम्पूर्ण विकासात्मक इतिहास मानव जीवन तथा विश्व की सापेक्षता में विकसित हुआ है। चिन्तन के क्षेत्र में जो संघर्ष एवं समन्वय की प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं वे शुभ तो हैं पर इसके साथ ही साथ उनकी परीक्षा का विषय भी है। विचारों का संघर्ष सदा ज्ञान का उत्स रहा है। आधुनिक चिन्तन चाहे वह किसी भी क्षेत्र का क्यों न हो उसका औचित्य एडिंगटन के शब्दों में 'इस बात में सन्निहित है कि वह कहाँ तक आध्या

---

१ फिलासफिकल एस्पेक्ट्स आफ माडर्न साइंस सी० ई० एम० जोड, पृ० ८७।

२ द साइंटिफिक एडवेंचर हर्बर्ट डिंगल पृ० १८३।

त्मिक अनुभव को एक जीवन तत्व के रूप म स्थान दे सका है। [१] यहाँ पर जो आध्यात्मिक अनुभव की ओरसकेत किया गया है, उसका अथ वनानिक चितन म अदृश्य (unobservabeles) तत्वों की ओर माना गया है। इन अदृश्य तत्वा को वनानिक चितको ने अनेक कोटिया अथवा श्रेणियो में विभक्त किया है। उन कोटियों का सम्यक विवेचन यहाँ अपेक्षित ह क्योकि इनके द्वारा वनानिक चितन के स्वरुप और उसके क्षेत्र का पता चलता है

वनानिक चितन को हृदयगम करने तथा उसके स्वरुप को समझने के लिय अदृष्ट' क स्वरुप का विश्लेषण अपेक्षित है। विनान के क्षेत्र मे विश्व तथा प्रकृति के रहस्यो को प्रत्यक्ष करने का जो प्रयत्न किण है उसका मूलाधार तार्किक विधि माना जा सकता है पर इसके साथ ही साथ, चितन का तत्व भी उसमे समाहित होता है। यहाँ पर अदृष्ट' से तात्पय कोई अतार्किक एव काल्पनिक इकाई अथवा तत्व से नही है, पर ऐसे तत्वो से है जो अनुसधानो के निष्कर्षों का एक तार्किक एव सापेक्षिक सम्बध माना जा सकता है। जसा कि प्रथम सकेत किया गया कि किसी भी शब्द का अथ सदम सापेक्ष होता है और 'अदृष्ट' शब्द भी अपने परम्परागत अथ को रखते हुय भी वज्ञानिक परिप्रेक्ष्य मे नवीन अथ तथा सदम की अवतारणा करता है। इस दृष्टि से अदृष्ट' का चार श्रेणियों मे विभाजित किया गया है—

(१) वे अदृष्ट तत्व जो इद्रियो के द्वारा गम्य न हों और यथाथ की कल्पना से परे हों जसे चद्रमा का दूसरा भाग।

(२) वे तत्व जो मानवीय शक्तियो के द्वारा देखे न जा सकें। इसके अन्तगत विश्व से परे अस्तित्व की कल्पना सृष्टि की गहनता, परमाणु की सत्यता आदि की धारणायें आती हैं।

(३) वे तत्व जो भौतिक दृष्टि अथवा रूप क द्वारा देखे जा सकें परतु यह उसी समय समव होता है जब प्रकृति किसी भी प्रकार से अपना सहयोग दे। उदाहरण-स्वरूप गति कपन तथा भार आदि।

(४) अत मे वे तत्व जो तार्किक दृष्टि से भी देखे न जा सकें केवल उसी दशा में उनकी अनुभूति की जा सके, जब तक के नियमों का उल्लघन किया जाय। इसी के अतगत आध्यात्मिक अवधारणाओं को स्थान दिया जाता है।

---

१ साइस एड अनसीन वल्ड, पृ० २६।

उपर्युक्त महत्व प्रकारों में हुवट डिंजिल ने [1] दूसरे तथा चौथे तत्वों में वैज्ञानिक-दर्शन के उस स्वरूप की ओर संकेत किया है जो भौतिक दृष्टि से हट कर विश्वजनीन एवं तात्विक मान्यताओं की ओर प्रयत्नशील है। वैज्ञानिक अनुसंधानों ने एक ऐसे 'स्वतंत्र अस्तित्व' की ओर संकेत किया है जो हमारे अनुभवों से परे है। यह तथ्य, तार्किक रूप से, यह संकेत करता है कि हमारा ऐंद्रिय अनुभव कितना सीमित है क्योंकि उनका क्षेत्र एक सीमित परिवेश तक ही कार्य कर सकता है। श्रीमद्भगवद्गीता में इंद्रियों के परे 'प्राण' की तथा 'प्राण से परे आत्मा' की कल्पना की गई है। आत्मा की यह धारणा इंद्रियातीत धारणा है जो अनुभूति तथा प्रातिभज्ञान का विषय है।

इस प्रकार, हमारा समस्त वैज्ञानिक (या केवल दर्शन) एक परीक्षा के काल से (ट्रायल) गुजर रहा है उसके अस्तित्व का प्रश्न इस बात पर निर्भर है कि वह आध्यात्मिक तत्व को एक जीवन दर्शन के रूप में कहाँ तक ग्रहण कर सका है अथवा कर सकेगा। आध्यात्मिक या अध्यात्मिक दृष्टिकोण का परस्पर सम्बन्ध होते हुए भी वैज्ञानिक चिंतन के क्षेत्र में उसका जो स्वरूप विश्लेषण किया गया है उससे यह स्पष्ट है कि विज्ञान और दर्शन एक दूसरे के पूरक हैं—उनमें अंतर की सृष्टि करना मानव शक्ति के प्रति एक प्रश्नचिन्ह है ?

O

---

१ द साइंटिफिक एडवेंचर, पृ० २२१-२२२।

विज्ञान और ईश्वर की बदलती हुई धारणा | ११

तत्र धर्म और दर्शन—इन तीनों क्षेत्रों में, ईश्वर की धारणा के रूप तथा उसके धारणात्मक विकास का इतिहास प्राप्त होता है। यह इतिहास—विकास की दृष्टि से ईश्वर के स्वरूप को नित नवीन रूपों तथा धारणाओं के परिप्रेक्ष्य में रूपायित करता रहा है। आदिमानवीय स्थिति में ईश्वर की धारणा का स्वरूप अत्यन्त धूमिल था—अथवा उसका जो भी रूप था वह तात्विक प्रभावों का प्रतिरूप था। आदिमानवीय स्थिति में प्रकृति शक्तियों के प्रति एक भयमूलक पूजा की भावना थी इस भावना ने उन शक्तियों का मानवीकरण कर, उनके प्रति अपने सम्बन्ध को स्थापित किया। इन विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों के पीछे एक नियता-शक्ति की उद्भावना यह क्रांतिकारी अन्वेषण था जो मानवीय बुद्धि को एक परमसत्ता का आभास दे सका। मेरे विचार से यह परमसत्ता का आभास, जो प्रकृति के नाना परिवर्तित रूपों के प्रकाश में अवधारणात्मक रूप ग्रहण कर रहा था, अपने में एक महत्वपूर्ण घटना थी।

आदिमानवीय स्थिति में मानवीय बुद्धि का यह प्रश्न कि दृश्य जगत के पीछे वह कौन सी शक्ति है जो प्रकृति की शक्तियों का नियन्त्रण एवं सचालन करती है—यहीं से परम-देव या परम शक्ति का नामकरण प्रारम्भ हुआ। इसी जिज्ञासा ने मानव के सामने रहस्य को भी रखा और उसको समझने के लिए उसने बुद्धि का क्रमिक प्रयोग किया।

इसके पश्चात् अनुष्ठानों तथा धार्मिक मनोवृत्ति ने ईश्वर की भावना को अधिक तार्किक रूप में समझने का प्रयत्न किया। विश्व के सभी मुख्य धर्मों में बहुदेववाद की भावना से एकेश्वरवाद की भावना को प्रश्रय मिला। प्राचीन वैदिक साहित्य के विश्लेषणात्मक अनुशीलन से यह ज्ञान होता है कि वेदों में अनेक देवताओं के

प्रति भास्था का भाव था भौर वेदों म ही इन सभी देवतामो की पृष्ठभूमि म एक 'परमदेव' की कल्पना भी प्राप्त होती है। यही परमदेव' ईश्वर भावना का प्रतिरूप है।

मनुष्ठानिक सस्कारो एव भाचारों ने बहुदेववाद को जन-साधारण के निमित्त प्रयुक्त किया भौर जिसका भावश्यभावी प्रभाव यह पडा कि मनुष्ठानों के द्वारा मानव मन ने सृष्टि मे व्याप्त किसी रहस्यपूर्ण सत्ता को प्रसन्न करने के लिये भथवा देवो को प्रसन्न करने के लिये मनुष्ठानो का माध्यम लिया। धार्मिक सस्कारो के भतर्गत इस प्रवृत्ति का विकास यह सूचित करता है कि मनुष्ठानो के पीछे तांत्रिक प्रभाव, उसकी प्रारम्भि दशा में तो माना जा सकता है, पर भागे चल कर इस तांत्रिक प्रभाव ने क्रमश मानव मन को एक विश्लेषण एव तर्क की भोर भग्रसर किया। इस स्थिति मे भाकर ईश्वर की भावना को एक तर्कपूर्ण भाधार प्राप्त हुमा। यहाँ पर इसका यह भर्थ नहीं है कि ईश्वर भावना का विकास केवल धार्मिक मनोवृत्ति का फल है पर दर्शन एव विज्ञान के क्षेत्र में ईश्वर की भावना को एक तार्किक रूप देने का प्रयत्न किया गया। इस निबन्ध मे इसी धारणा के स्वरूप विश्लेषण का प्रयत्न किया गया है।

भास्तिकवादी मतो म ईश्वर की भावना का एक विशिष्ट स्थान ही नहीं रहा है पर वहा पर यह नैतिकता एव भाचरण का एक प्रेरणा स्रोत रहा है। दूसरे शब्दो म हमारी प्रतिबद्धता एव हमारा विश्वास एक ऐसे परम तत्त्व के साक्षात्कार भथवा उसकी भनुभूति म रहा कि हमारा समस्त व्यक्तित्व उस तत्व में एकाकार होने के लिय प्रेरित हो उठा। यह प्रवत्ति भक्ति' के स्वरूप को क्रमश विकसित कर सकी। दूसरी भोर दर्शन के क्षेत्र म ईश्वर' की प्रतिबद्धता का दायरे में भा गया भौर वह चितन का क्षेत्र बन गया। ये दोनो क्षेत्र भलग भलग नहीं माने जा सकते हैं। इसका कारण यह है कि भक्ति भौर चिंतन (ज्ञान) दोना का ध्येय ईश्वर के प्रति ज्ञान भथवा भनुभूति प्राप्त करना था। पाश्चात्य धर्मों तथा दर्शना म भी हम यही प्रवृत्ति प्राप्त होती है पर वहा भवतार की भावना नहीं प्राप्त होती है जो हमारे हिन्दू धर्म म प्राप्त होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि ईश्वर की भावना एक ऐसे तत्व के रूप मे की गई जो ससार का भन्तिम कारण एव सत्य है भौर यह भत्यनिरपेक्ष (Absolute) है। ससार के सभी धर्मों तथा दर्शनो मे, सामान्यत, ईश्वर की धारणा निरपेक्ष रूप म प्राप्त होती है जो ससार से परे है, ज्ञान तथा बुद्धि से परे है—एव भव्यक्त एव भगोचर सत्ता है।

भारतीय दर्शन म (तथा भन्य पाश्चात्य दर्शनो में) ब्रह्म की धारणा एक निरपेक्ष धारणा का रूप है जो 'माया की सहायता से नाम रूपात्मक सृष्टि के रूप

में व्यक्त होना है। यहां पर एक सत्य प्रकट होता है जो सृष्टि का परम कारण है। निरपेक्ष और सापेक्ष का एक तत्व की धारणा मे समन्वित एव समाहित होना—सृष्टि के मूल का रहस्य हैं। इसे ही अव्यक्त एव व्यक्त रूपो की सत्ता दे सकते हैं। निरपेक्ष ब्रह्म या परम तत्व भी सृष्टि करने में असमथ हैं जब तक कि द्वय की भावना का विकास न हो। यही कारण है कि 'ब्रह्म' जसे अनादि एव परम तत्व की धारणा भी अपूर्ण है जब तक कि वह अपने अभिव्यक्तीकरण के लिये माया की सहायता नही लेता। ईश्वर की परिकल्पना इसी धारणा का प्रतिरूप है जो जीव विज्ञान का भी एक सत्य है। अकेला जीव सृष्टि नही कर सकता है जब तक कि वह दूसरे विपरीत सेक्स का सहारा न ले। ब्रह्म या ईश्वर की धारणा के मूल में इस जीव शास्त्रीय तथ्य को एक दाशनिक रूप भी प्राप्त होता है। उपनिषदो के ब्रह्म रूप मे यह सत्य स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। ब्रह्म का निरपेक्ष रूप हीगल तथा कॉट के निरपेक्ष तत्व (Absolute) के समान है और इस निरपेक्षता मे सापेक्षता की भावना भी समाहित है। आदितत्व की पूर्णता' इसी सापेक्ष निरपेक्ष की समन्वित दशा मानी जाती है। वृहद उपनिषद मे स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ब्रह्म के दो रूप हैं— 'मूत और अमूत, क्षर और अक्षर, मत्य और अमृत स्थित और यत् (चर) तथा सत् और त्यत्।"

(वृहद उप०, पृ० ५१२)

आधुनिक वज्ञानिक एव दाशनिक धारणाओं के प्रकाश मे ईश्वर की धारणा मे एक महत्वपूण परिवतन आया और वह परिवतन वज्ञानिक चितन का परिणाम माना जा सकता है। सबसे पहली बात जो इस महत्वपूण परिवतन के कारण उत्पन्न हुई है उसने ईश्वर की धारणा को निरपेक्ष न मान कर सापेक्ष माना है। इस परिवतनशील धारणा के मूल में विकासवादी चिंतन, आइन्स्टाइन के सापेक्षवादी चिंतन तथा ब्रह्मांडीय रहस्य से उद्भूत चिंतन की जड़े विद्यमान हैं। इन सभी धारणाओं ने ईश्वर की धारणा को एक सापेक्ष रूप प्रदान किया। यहा पर एक बात स्पष्ट करना आवश्यक है कि विज्ञान ने आधुनिक दशन को एक नई दिशा तो अवश्य दी है पर इसके साथ ही साथ उसमे एक ऐसा वग भी है जो भौतिकवाद पर अटूट विश्वास रखने के कारण नास्तिकवादी है और यह वग ईश्वर की धारणा को मान्यता नही देता है। दूसरा वग आस्तिकवादी है जो ईश्वर की भावना को एक धारणा (Concept) के रूप से समझने का प्रयत्न करता है और इस लेख मे इसी वग को ध्यान में रख कर 'ईश्वर' की धारणा और उसके स्वरूप पर विचार किया गया है।

सबसे प्रथम विज्ञान से सम्बन्धित अनेक धारणायें और प्रस्थापनाएं केवल मात्र भौतिक जगत से ही सम्बन्धित नहीं है उनका तात्विक एवं अभौतिक स्वरूप भी मुखर होता जा रहा है। विकासवादी सिद्धांत तथा मनोविज्ञान के कारण मानवीय चिंतन म एक अभूतपूर्व परिवतन लक्षित होता है। विकासवादी चिंतन ने जिस प्रकार मानव के विकास को अनायास ईश्वर के प्रयास में विकसित होने वाले प्राणी के रूप मे अमान्य माना है, उसी प्रकार ईश्वर को उसने विकास-परम्परा के साथ एक चेतनात्मक शक्ति के रूप में कल्पित किया है। प्रो० हाइटहेड तथा लीकाम्ते न्यू ने ईश्वर को इसी शक्ति के रूप में स्वीकार किया है जो विकास परम्परा की एक आवश्यक परिणति है। यदि सत्य में हम ईश्वर की अनुभूति प्राप्त करलें, तब शायद हमारा विश्वास उसके प्रति डावांडोल होने लगे क्योंकि अभिव्यक्ति के दायरे म, और वह भी सीमित मानवीय क्षेत्र होने के कारण उसके" प्रति आशकाओं को जन्म देगा। अत वैज्ञानिक चिंतन में ईश्वर की धारणा का रूप किसी व्यक्तिगत सत्ता का रूप न होकर एक सीमा' का स्वरूप है। दूसरे शब्दों म, वह एक ऐसी धारणा है जो एक अंतिम सापेक्ष स्थिति का सूचक मात्र है। प्रो० हाइटहेड का कथन है कि 'ईश्वर की सत्ता को प्रामाणित करने के लिये किसी भी कारण को नहीं दिया जा सकता है। ईश्वर अंतिम सीमा' का धारणात्मक रूप है। उसका अस्तित्व अंतिम अतार्किकता का रूप है।' ईश्वर कोई व्यक्त एवं स्थूल तत्व नहीं है पर वह व्यक्त यथार्थ का एक महत्वपूर्ण आधार है।

ईश्वर की यह धारणा एक अन्य सत्य की ओर संकेत करती है और वह है शक्ति और पदार्थ का अन्योन्याश्रित रूप। वैज्ञानिक चिंतन मे शक्ति के प्रति जो विशिष्ट मान्यताएं हैं वे भी ईश्वर की धारणा को एक तार्किक स्वरूप प्रदान करती है। इसके अनुसार सृष्टि के सभी क्रिया कलाप शक्ति के ही विभिन्न रूप हैं और द्रव्य के प्रत्येक अणु मे यह शक्ति व्याप्त है तथा पदार्थ को शक्ति मे और शक्ति को पदार्थ में परिणत किया जा सकता है।" आइंस्टीन के सापेक्षवादी चिंत मे शक्ति (ऊर्जा) और पदार्थ के उपयुक्त रूप को एक तार्किक मान्यता प्राप्त है जो विश्लेषण करने पर ईश्वर के उपर्युक्त विवेचित रूप को पुष्ट करता है। शक्ति ही ईश्वर है और सृष्टि पदार्थ है जो उसी से उद्भूत है। अत यहां पर ईश्वर की सत्ता सापेक्ष मानी गई है और यह उसकी सापेक्षता का एक अव धारणात्मक स्वरूप है।

इसी तथ्य को एक अन्य दृष्टि से भी समझा जा सकता है विज्ञान के द्वारा शक्ति के दो स्तरो एवं स्वरूपो का रूप, शक्ति के दो विशिष्ट आयामो का स्पष्ट

करना है। ये दो स्तर है सुषुप्तावस्था (Potential Energy) और जागृतावस्था (Kinetic Energy)। शक्ति की सुषुप्तावस्था उसकी निष्क्रिय अवस्था का द्योतक है और जागृतावस्था उसकी क्रियात्मक शक्ति का सूचक है। ये दोनो अवस्थाये ईश्वर के उन दो रूपों की ओर सकते करती है जो परम तत्व एव सृष्टि प्रसार के प्रतिरूप हैं। उपनिषदो मे भी आत्मा की ये दोनों दशाय प्राप्त होती हैं पर वहाँ पर इन दोनो के मध्यमें स्वप्तवस्था की स्थिति को माना गया है। वैज्ञानिक चिंतन के अन्तगत इस तीसरी सधिअवस्था को मान्यता नही प्राप्त हैं क्योकि यहाँ पर सुषुप्तावस्था के अतगत स्वप्न की दशा का विलय हो गया है। (दे० साहित्य विज्ञान ले० गणपति चद्र गुप्ता)

ईश्वर के इस अवधारणात्मक स्वरूप का एक अन्य विस्तृत सकेत उस समय प्राप्त होता है जब नक्षत्र विद्या स उद्घाटित विश्व की रचना एव स्वरूप पर नये तथ्य समक्ष आते हैं। इस दृष्टि से दिक और काल तथा प्रसरण शील विश्व (Expanding Universe) की धारणायें ईश्वर के स्वरूप को एक नये आयाम से स्पष्ट करती है। न्यूटन के समय तक और उसके पश्चात् भी दिक् और काल को निरपेक्ष तत्व के रूप मे स्वीकार किया गया था, पर बीसवी शताब्दि के प्रथम चरण और द्वितीय चरण के मध्य में इस धारणा म एक महत्पूर्ण परिवतन लक्षित होता हैं। आइस्टइन के सापेक्षवाद क अन्तगत दिक काल (Space & Time) को निरपेक्ष न मानकर सापेक्ष माना गया है, पर साथ ही साथ उस अपरिमित भी। इस धारणा मे दिक और काल के सापेक्षिक स्वरुप की स्थापना तो प्राप्त होती है पर इसके साथ ही उसके प्रति एक रहस्यतात्मक वृत्ति का सकेत प्राप्त होता है। विश्व का विस्तार एव सकोचन इसी दिक्काल की सीमाओ से आबद्ध है अथवा दूसरे शब्दों मे समस्त ब्रह्माड इसी दिककाल के आयान मे आबद्ध है। दिक की धारणा में तीन आयाम (लम्बाई चौडाई तथा ऊचाइ) की परिकल्पना हैं और काल एक आयाम से युक्त माना गया है क्योंकि काल मे केवल लबाई या विस्तार ही प्राप्त होता है जब कि दिक की धारणा में लबाई के अतिरिक्त चौडाई तथा ऊँचाई भी होती है। अस्तु ब्रह्मांड की अवस्थिति, चतुर्आयामिक दिक–काल (Four Dimensional space Time Continum) की सीमाओ के अदर ही होती है यह समस्त चतु आयामिक ब्रह्माड इसी चतुर्आयाम के अदर फलता और सिकुडता रहता है। यह विस्तारित होता हुआ विश्य या ब्रह्माड फलता है तब उसका यह अतिरिक्त फलाव किसी न किसी अन्य दिक् की अपेक्षा रखता है। यही अतिरिक्त दिक् काल की भावना एक अनादि सत्य है जो ईश्वर की धारणा का प्रतिरूप माना जाता है। सत्य मे दिक् काल ही वह परम सत्य है जिसमे समस्त विश्व अपनी लीलाओ को सम्पन्न करता है। यह परम

सत्य ही ईश्वर का प्रतिरूप है। उपनिषदों की ब्रह्मांड धारणा के मूल म वह धातु मिलती है जिसका अथ है फलना या विस्तृत होना। अत ब्रह्म और ब्रह्माड इसी समय दिक की धारणा का एक प्रतिकात्मक सकेत है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक चितक डा० नालिकर तथा फ्रेड हायल ने यह मान्यता रखी है कि जिसके आगे हम सोचने मे असमथ रहे कि अब आगे क्या है इस असमथता को ही हम 'ईश्वर' की धारणा कह सकते हैं। दूसरे शब्दो म ईश्वर एक अतार्किक तार्किकता का रूप है जो हमारे अस्तित्व की एक आवश्यक धारणा है। वैज्ञानिक चितन के नये आयामो के प्रकाश मे ईश्वर की यही धारणा मान्य हो सकती है।

●

धार्मिक तथा दार्शनिक

आयाम

लगती है, वह है मिथ या पुराण को असत्य का एक रूप मानना क्योंकि वह असत्य को विचित्र भंगिमाओं के साथ बड़ी बना देता है। यदि पुराण-कथाओं को हम इस दृष्टि से देखेंगे जैसा कि पाश्चात्य विचारकों ने देखा है तो भारतीय पौराणिक गाथाओं को उनके सही संदर्भ में देखना दुर्लभ हो जाएगा। पुराण-कथायें किसी न किसी 'सत्य' या विचार का एक प्रतीकात्मक निर्देशन है इसी दृष्टि से हम पुराण प्रवृत्ति को रूपात्मक (Allegorical) भी कह सकते हैं। तीसरा तत्व अवश्य पुराण प्रवृत्ति के सही अर्थ को समझने के लिये सहायक हो सकता है। यह एक आदि मानवीय आदि विज्ञान का रूप है जो अन्ततोगत्वा प्राकृतिक घटनाओं को समझने का एक माध्यम था। यहाँ पर एक बात कही जा सकती है कि पौराणिक प्रवृत्ति या कथायें प्राकृतिक घटनाओं या शक्तियों से सम्बन्धित कथायें ही नहीं हैं पर इसके साथ ही साथ, वे किसी न किसी वैचारिक-पृष्ठभूमि को भी व्यंजित करते हैं। इस पृष्ठभूमि के आधार पर पौराणिक उपाख्यानों के महत्व तथा अर्थ की विवेचना अपेक्षित है क्योंकि पौराणिक प्रवृत्ति के दिग्दर्शन के लिये इन उपाख्यानों के स्वरूप तथा क्षेत्र को समझना आवश्यक है।

पौराणिक आख्यानों का महत्व सांस्कृतिक एवं सामाजिक भी होता है, जिसकी जड़ें सभ्यता की परम्पराओं में अत्यन्त गहराई से पैठ जाती हैं। भारतीय तथा विदेशी पुराणों में सृष्टि-कथायें, वीर चरित्र गाथायें देवासुर संग्राम की गाथायें तथा मनु गाथायें आदि केवल मात्र कल्पना की अलौकिक उड़ानें नहीं हैं पर इन सब कथाओं के पीछे कोई न कोई दार्शनिक या धार्मिक विचारों की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है। देवासुर-संग्राम का जिनका संसार के समस्त पुराणों में एकछत्र राज्य है, उनका प्रतीकात्मक अर्थ मानसिक क्षेत्र में चिरंतन होने वाले सद् एवं असद् (शिव और अशिव या देव और असुर) प्रवृत्तियों का संघर्ष है। यही मानसिक संघर्ष बाह्य संघर्ष का प्रतिरूप है। ये समस्त कथायें कल्पना पर ही आश्रित हैं। ये ऐतिहासिक तथ्य नहीं हैं जैसा कि शंकराचार्य ने वेदांत भाष्य में स्पष्ट कहा है—

"यदि यह संवाद (देवासुर संग्राम, सृष्टि प्रसंग में) हुआ होता तो संपूर्ण शाखाओं में (अर्थात् सभी उपनिषदों में) एक ही संवाद सुना जाता, परस्पर विरुद्ध भिन्न भिन्न प्रकार से नहीं। परन्तु ऐसा सुना ही जाता है इसलिये संवाद श्रुतियों का तात्पर्य यथाश्रुत अर्थ में नहीं है।' (देखिये उपनिषद् भाष्य गीता प्रेस, खंड २—माण्डूक्योपनिषद् पृ० १४५) यही बात अन्य पौराणिक कथाओं के बारे में भी कही जा सकती है। इसी प्रकार सृष्टि-कथाओं में जहा एक ओर विश्व के विकास

का क्रमिक रूप प्राप्त होता है वहीं पर परमतत्त्व ब्रह्म के एकत्व का विविध रूपों में आभास प्राप्त होता है। पुराणों में जो सृष्टि-उपाख्यान मिलते हैं, उनका मूल स्रोत उपनिषद ही हैं। उपनिषदों की गाथाओं के आधार पर पुराणों की सृष्टि विषयक वृहद कथाओं का विस्तार हुआ है। इन सृष्टि उपाख्यानों का रहस्य मांडूक्योपनिषद् में इस प्रकार समझाया गया है—

मृल्लोहविस्फुलिंगाद्यैः सृष्टियो चोदितान्यथा।
उपायः सोऽवताराय नास्ति भेदः कथचन ॥

(उपनिषदभाष्य खं० २)

अर्थात् (उपनिषदों में) मृत्तिका, लोह खण्ड और विस्फुलिंगादि दृष्टान्तों द्वारा भिन्न भिन्न प्रकार से सृष्टि का निरूपण किया गया है, वह (ब्रह्मैक्य में) बुद्धि का प्रवेश कराने का उपाय है वस्तुतः उनमें कुछ भी भेद नहीं है।" इस दृष्टि से भारतीय पुराणों की विभिन्न सृष्टि गाथाओं का ध्येय, उपनिषदों के अनुसार जीव एवं परमात्मा का एकत्व निश्चय करने वाली बुद्धि का निर्माण है।

दूसरा तथ्य जो इन सृष्टि कथाओं से ध्वनित होता है वह है मिथुन परक सत्य का प्रतिपादन) प्रजापति जो उपनिषदों में अद्वय तत्त्व है, वहीं अपनी ईक्षण (इच्छा) से विभक्त होकर सृष्टि कार्य में संलग्न होता है। यही प्रजापति पुराणों में ब्रह्मा और नारायण के प्रतीक हैं। यह जीव शास्त्र का अमर नियम है कि सृष्टि, चाहे वह कैसी भी क्यों न हो, अकेले नहीं हो सकती है उसके हेतु दो की भावना अत्यन्त आवश्यक है। इस मिथुन रूप के तात्त्विक प्रतीक प्रकृति-पुरुष मन वाक, श्री नारायण शिव शक्ति, ब्रह्मा सरस्वती आदि हैं। छांदोग्योपनिषद में जो अण्डे से सृष्टि क्रम का विकास वर्णित किया गया है उसमें भी अपरोक्ष रूप से, मिथुन परक तत्त्व का समावेश प्राप्त होता है। अन सग अनेकता में एकता की भावना को चरिताथ करना है। इसी कारण पुराणों की सृष्टि गाथाओं में आदितत्त्व ब्रह्म एवं नारायण का व्यक्तिकरण ही अनेक प्रतीकों के द्वारा हुआ है। आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से ये गाथायें केवल स्थावर जगम चराचर विश्व तथा पवरामूर्तों के विकास पर ही प्रकाश नहीं डालती है वरन् वे मनुष्य के आध्यात्मिक आरोहण की ओर भी संकेत करती हैं।

देवासुर और सृष्टि उपाख्यानों के अतिरिक्त तीसरा प्रमुख वर्ग है अवतार सम्बन्धी महापुरुषों की लीलाओं का। इस वर्ग की कथाओं में उपर्युक्त दोनों वर्गों की कथाओं के कुछ तात्त्विक निर्देशों का भी समाहार प्राप्त होता हैं। इनका

प्रतीकार्थ मानव जीवन सापेक्ष है जो विकास की दृष्टि से भी एक शृंखलाबद्ध क्रम ही कहा जाएगा। हमारे दस अवतार मानवेतर प्राणियों से लेकर मानव नामधारी प्राणी तक के विकास क्रम को एक सूत्र में अनुस्यूत करता है जिसका विवेचन रामकथा—एक विश्लेषणात्मक अनुशीलन नामक अगले निबन्ध के आरम्भ में किया गया है। इन गाथाओं में विष्णु के अवतारों का मानवीय धरातल पर आदर्शीकरण उनकी विभूतियों के साथ दिखाया गया है।

इन प्रमुख वर्गों के अतिरिक्त अन्य प्रकार की गाथायें भी प्राप्त होती हैं जिनका सम्बन्ध वेदों, उपनिषदों आदि से माना गया है। ऐसी कथाओं के अन्तर्गत गंगा अवतरण, शिव की कथायें (काम) सूर्य कथायें तथा अनेक भक्तों की गाथायें आती हैं। सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि इन सभी गाथाओं के अधिकांश *नाम वैदिक साहित्य से ही ग्रहण किए गए हैं जिनके अनोन्य व्यापारों के द्वारा* कथा वस्तु का निर्माण हुआ है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उपर्युक्त सभी वर्गों की गाथाओं को वैदिक नामों से जोड़ा जा सकता है अथवा सभी आख्यानों का प्रतीकार्थ होना आवश्यक है। यह कोई नियम नहीं है, पर हां, अधिकांश प्रमुख गाथाओं का महत्त्व उनके व्यंग्यार्थ में ही समाहित है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि धार्मिक चेतना के विकास में पौराणिक प्रवृत्ति विशिष्ट से सामान्य की ओर प्रयत्नशील होती है। यही कारण है कि धर्म और पुराण का अन्योन्य सम्बन्ध कार्य कारण का सम्बन्ध है। अतः पुराणों का केन्द्र मानव इच्छा एवं संवेदना का रंग स्थल है।

धार्मिक प्रतीकों का विकास | २

धार्मिक प्रतीको का उद्गम आदिमानवीय प्रथाओं एव अ धविश्वासों मे यदा-कदा मिल जाता है। परन्तु धार्मिक प्रतीकवाद का आरम्भ उस समय से मानना चाहिए जब आदिम अ धदृष्टि की जगह क्रमश बुद्धि और तर्क की भावना के उदय के साथ मानव, प्रकृति के चेतन रहस्य की ओर अन्वेषणशील होता है।

प्रतीक और विचार—धार्मिक भावना का इतिहास इस बात का द्योतक है कि मानव मन ने विचारो के द्वारा अनुभूति और सवेदना के द्वारा सत्य" तक पहुचने का प्रयत्न किया है। रिटची (Ritchie) का मत है कि विचारो का आवश्यक कार्य प्रतीकीकरण है।[1] यह कथन हम बरबस इस सत्य की ओर ले जाता है कि धार्मिक प्रतीकों का विकास मन की इसी विचारात्मक प्रवृत्ति का फल है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि इन प्रतीको का एकमात्र स्रोत विचारशीलता है उनमे आदिमानवीय अ धविश्वासो एव रूढियो का योग ही नही है। यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि धार्मिक प्रतीको का विकास मानव मन की वह सबल प्रक्रिया है जहां से वह मानसिक विकास की धारा को एक नवीन मोड, एक नवीन गति प्रदान करता है जो आगे चलकर अनेक दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक एव वैज्ञानिक प्रतीकों की एक सबल पृष्ठभूमि तयार करता है। हर्बट स्पेन्सर एक स्थान पर कहता है कि धार्मिक विचार मानवीय अनुभवों से प्राप्त किये गये हैं जो सदव परिष्कृत एव सघटित होते रहते हैं।[2] अत यह स्पष्ट है कि अनुभव को अकित करने मे मानसिक क्रिया का विशेष हाथ है और जहां पर भी अनुभव होता है वहां पर स्वत विचारों

---

1 The Natural History of Mind by Ritchie (1936), Page 278

2 Herbart Spencer's ' The First Principles , Page 15 (1870)

की रूपरेखा स्पष्ट होने लगती है। धार्मिक प्रतीकों का क्षेत्र विचार एवं भावना अन्धविश्वास एवं रीतियां, अन्वेषण तथा समन्वय की जटिल मानसिक प्रतिक्रियाओं का रंगस्थल है। प्रतीकों का विकास विचारों का क्रमिक संगठन और विकास ही है।

व्यापक क्षेत्र का महत्व—प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति एक अन्य तथ्य को सामने रखती है। प्रतीकों का आन्तरिक अर्थ इस बात पर आधारित होता है कि हम किस सीमा तक व्यक्त एवं सामान्य पदार्थों से वृहद् एवं अव्यक्त पदार्थों की ओर जा सकते हैं। धार्मिक विचारों के बारे में कहा जा सकता है कि वह व्यक्त धरातल से अव्यक्त भूमि की ओर अग्रसर होता है और यही कारण है कि धार्मिक प्रतीकों का अर्थ केवल बाह्य सत्य पर ही अवलम्बित नहीं है पर उसका "मुख्य" अर्थ बाह्य परिधि से हटकर व्यंजनात्मक 'केन्द्र' पर अधिक अवलम्बित होता है। डा० राधाकृष्णन् ने अपनी पुस्तक "रिकवरी आफ फेथ" में इसी तथ्य की ओर इंगित किया है। उनके अनुसार 'सत्य प्रतीक स्वप्न या छाया नहीं है वह 'अनन्त' का जीवित साक्षात्कार है। हम प्रतीकों को विश्वास के द्वारा मानते हैं प्रतीक हमें आत्म साक्षात्कार में सहायता देते हैं।[1]

विकास-स्थितियां

(१) मानवीकरण और आरोप—प्रतीकीकरण की प्रथम स्थिति का आरम्भ उस समय से होता है जब मानव की आश्चर्यभावना ने तर्क का सहारा लेकर प्राकृतिक शक्तियों को मानवीय आकार प्रदान किया। इस स्थिति में मानव मन अन्धविश्वासों पर विजय प्राप्त कर धार्मिक प्रतीकों की ओर अग्रसर होता है। यह प्रवृत्ति हमें सामान्यतः सभी प्राचीन धर्मों में प्राप्त होती है। उदाहरणस्वरूप हम रोमन देवता 'ज्यूपीटर' (Jupiter) को ले सकते हैं जिसका प्रतीकात्मक विकास एक आश्चर्यजनक तथ्य है। प्राचीन योरप में वृक्ष का बहुत महत्व था क्योंकि उसका प्रयोग अग्नि उत्पत्ति आदि में होता था। अतः ज्यूपीटर जो मूलतः वर्षा और गर्जन का देवता माना गया। उसकी भावना में 'ओक-देवता' का सम्मिश्रण इस बात का द्योतक है कि रोमन और ग्रीक धर्मों में क्रमशः ज्यूपीटर और जियस (Zeus) के प्रतीकार्थ में वृक्षों का कितना महत्व था?[2] सेमेटिक देवता 'रम्मन' (Rammen) और भारतीय देवता 'इन्द्र' की भावना में भी वृक्ष के महत्व का योग है। यह तथ्य स्पष्ट

1. Radhakrishnan– The Recovery of Faith", Page 150 (1956)

2 Sir J G Frazer Golden Bough, Pt. I, Vol II, P 372-374

रता है कि प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति के अतराल म अनेक विचारों तथ्यो एवं न्यताओं का समन्वय होता है, क्योंकि प्रतीको की दार्शनिक पृष्ठभूमि यह सिद्ध रती है कि एक एक देवता की धारणा म अनेक विचारो या, शक्तियो का सगुम्फन क साथ होता है।

(२) मानवेतर शक्तियों पर विजय—मानसिक विकास और प्रतीको के कास मे समानान्तर सम्बन्ध है और प्रतीको की धारणा मे अन्तर्दृष्टि का सयोग भी मानसिक विकास पर आधारित है। यह प्रवृत्ति हमे ससार के सभी प्राचीन र्मों म प्राप्त होती है। इस क्रमिक विकास की रूपरेखा पशु प्रवृत्तियो पर विजय प्त करने मे सन्निहित थी और इसी से अनेक पूर्वीय-धर्मों मे मिश्रित देवताओं" (Hybrid deities) की कल्पना की गई। अधिकाश भारतीय और मिश्री देवताओं की अभिव्यक्ति शेर या अन्य जानवर के ऊपर आसीन रूप मे दिखाई गई है जिसका तीकात्मक अर्थ यह है कि मानव के अन्दर 'दिव्यता का अश पशुता' के अश पर वजय प्राप्त कर, उसे बुद्धि के द्वारा शासित करना चाहता है। यह प्रतीकात्मक अर्थ दुर्गा गणेश विष्णु आदि देवताओ म प्राप्त होता है। यह प्रतीकार्थ एक अन्य तथ्य की ओर भी इगित करता है कि पशु प्रवृत्तियों को नितात दमित नही किया जा सकता है पर उन्हें एक उन्नायक दशा म बुद्धि अथवा मन के द्वारा वश मे रख जा सकता है।

(३) आदर्श जगत् की धारणा—धार्मिक प्रतीकों के व्यापक आतरिक अर्थ का विकास हम 'आदर्श जगत्" की कल्पना मे प्राप्त होता है। इसाई धर्म हिन्दू और ग्रीक आदि धर्मों मे हमे आदर्श जगत् के निर्माण अथवा सृजन की समान प्रवृत्ति प्राप्त होती है। इसाई धम मे मृत्यु के बाद जीवन की कल्पना ने एक अत्यन्त महत्व पूर्ण कदम उठाया और मानव-मन प्रश्न करने लगा कि मृत्यु के बाद जीवन का क्या रूप होगा ? इस प्रश्न के फलस्वरूप सभी धर्मों में स्वग की भावना का उदय हुआ। मृत्यु की ही कल्पना इसाई धम और प्रतीकवाद की मूल आधारशिला है।[1] अनेक प्राचीन चित्रो मे जो कमल सुमनयुक्त उपवन आदि के चित्र मिलते है वे इसी स्वग की भावना के प्रतीकरूप हैं। अच्छा चरवाहा (Good shepherd) मृतकों का पालन कर्ता एव सरक्षक है। सुरा स्वग भोज की परम प्रतीक है। ईसामसीह की धारणा मे भी अनत जीवन की भावना समाहित है। जो मानवता का सबसे महान् शुभचिंतक

1 Encyclopaedia of Ethics and Religion Vol XII—Christian Symbolism, (1921)

है। इसी प्रकार हिंदू धर्म मे स्वर्ग की कल्पना अत्यंत उत्कृष्ट है। वह देवताओ का निवास स्थल है जहाँ अमरत्व की वर्षा होती है। समेटिक (हिब्रू, मिश्री असीरिया आदि) धर्मों मे भी स्वर्ग की कल्पना "परमातीत" रूप मे की गई है जहाँ देवताओं का निवास रहता है।

आदर्श की ओर उन्मुख मानव'मन ने दो ऐसे महत्वपूर्ण प्रतीको को जन्म दिया जिसने समस्त योरप को प्रभावित किया। वे प्रतीक हैं, क्रास और क्राइस्ट के यहाँ पर यह समझना गलत होगा कि इनका महत्व केवल प्रतीकात्मक है पर यह कल्पना अधिक उपयुक्त होगा कि इनका प्रतीकार्थ एक अविच्छिन्न अंग है जिसके बिना क्रास' और क्राइस्ट' अधूरे रह जायेंगे।

क्रास और क्राइस्ट (ईसा) का अन्योन्य सम्बन्ध माना जाता है क्योंकि *भगवान् ईसा के नाम से क्रास का सबंध अति निकटता का रहा है। जसा कि प्रथम* कहा गया कि क्राइस्ट अनंत जीवन का द्योतक है। इस स्थिति पर 'त्रिमूर्ति" की *धारणा का विकास नही होता है, परन्तु इसका विकास धार्मिक प्रतीकवाद का एक* अत्यंत उच्च बिंदु है जिसका संकेत आगे किया जायगा। क्राइस्ट का मानवीय रूप *स्वर्ग' और "धरती" का समिकारक तथ्य है।*[1] *जहाँ तक क्राइस्ट के प्रतीकार्थ का प्रश्न* है उसकी तुलना ईश्वरीय रूप कृष्ण और राम से की जा सकती है क्योंकि दोनों *'स्थिरता' और 'अनंतजीवन' के प्रतीक हैं।* कृष्ण का बाल रूप ईसा और माता मेरी के परम-बाल रूप से भी मेल खाता है। इन दोनो के बाल चित्रों को किस *सीमा तक ऐतिहासिक कहा जा सकता है इस पर मतभेद हो सकता है परन्तु इतना* तो स्वयंसाक्ष्य है कि ये चित्र प्रतीकात्मक कला के परम द्योतक हैं। क्राइस्ट की आदिम भावना 'परम चरवाहे' के रूप म की गई थी जो हमे बरबस कृष्ण के व्यक्तित्व की याद दिलाती है। मेरा अभिप्राय यह दिखलाने का नही है कि कृष्ण अथवा क्राइस्ट की भावना एक से या दूसरे से ली गई है मेरा केवल मात्र तात्पर्य दोनो के प्रतीकार्थ की समानता पर ही कद्रित है।

सबसे प्रथम 'क्रास' का प्रयोग ३१२ ई० पू० म कास्टेन्टीन (Canstantine) ने मैक्सयूस्स (Maxeutius) के विरुद्ध, युद्ध के अवसर पर किया था जब उसने अपने सनिकों के कवचों पर क्रास को रखा था। जान गम्बेल के अनुसार क्रास का आदिम रूप मृत्यु का द्योतक नहीं था वरन् मृत्यु पर विजय प्राप्त करने का प्रतीक था।[2] *इससे स्पष्ट होता है कि क्रास का आन्तिम रूप* अत्यंत अस्पष्ट रहा और

1 Rodhakrishnan— East and West" (1956)
2 Encyclopaedia of Ethics and Religion Vol VII, (1921)

शताब्दियो बाद उसे 'ऐश्वर्ययुक्त' देखा गया। दूसरे शब्दों मे क्रास की भावना म दु खात्मक निराशयता का आरोप अनेक शताब्दियो के बाद सम्भव हो सका।

क्रास के व्यापक अर्थ का प्रारम्भ उस समय से होता है जब उसे जीवन-वृक्ष के रूप म देखा गया।[1] क्रास के प्रतीकार्थ मे इसके बाद उर्वरा और वर्षा की भावना का भी योग हुआ। यह भावना हम आदिवासी रेड इण्डियन की अनेक अ धप्रथाओ म भी मिलती है। क्रास का चिह्न उस ऊर्ध्वगामी स्थिति का द्योतक है जहा पर सब पापो का नाश हो जाता है।

(४) अ तर्दृष्टि और प्रतीक—इसके अ तर्गत हम उन प्रतीको को ले सकते हैं जो अ तर्दृष्टि भावना और विचार से शासित होकर उच्चतम "सत्य" की अभिव्यक्ति करते हैं। यह स्थिति धार्मिक प्रतीकों की उच्चतम परिणति है। इन प्रतीको का विकास मानव-कल्पना एव बुद्धि का परम सूचक है जहाँ मानवीय धारणा स्वत सत्य एव रहस्य की खोज के लिए प्रयत्नशील होती है। ऐसे कुछ प्रतीक है—ओउम्, त्रिमूर्ति (*Trinity*) जीहोवा (*Jehoveh Hebrew*), ब्रह्म (*ग्रीक प्रोमीथियस*) और असुर (सेमेटिक)।

ओउम्—हिंदू मनीषा की उच्चतम अभिव्यक्ति ओउम् के रूप मे प्राप्त होती है इसके उच्चारण में ब्रह्म का ध्वनिविषयक प्रतीकार्थ है। ध्वनि समस्त विश्व में व्याप्त है जो आधुनिक वैज्ञानिक ध्वनि विज्ञान की सबल मान्यता है। इसी से हिन्दू विचारधारा मे 'शब्द' को ब्रह्म का पर्याय माना गया है। वाणी के विकास मे शब्द का उच्चारण ध्वनि का प्रतीकात्मक रूप ही है। इसी विचार की प्रतिध्वनि हमें ओउम्' की धारणा मे प्राप्त होती है। हिंदू धर्म म 'शब्द' को ब्रह्म की मान्यता दी गई है, अत ओउम् के अर्थ मे परम तत्व जो एक और अनादि है की धारणा भी सन्निहित हो जाती है। हिंदू धर्म म जीहोवा' की धारणा मे कुछ इसी प्रकार की प्रवृत्ति प्राप्त होती है।

ओउम् के प्रतिकार्थ मे अ तर्दृष्टि का भी एक उज्ज्वल रूप प्राप्त होता है। ओउम् म त्रिमूर्ति की कल्पना का समावेश है। अत ओउम्' उस परम तत्व का प्रतिरूप है। जो समस्त चराचर विश्व मे अ तर्हित हैं। ओउम् ब्रह्म का सबसे उच्चतम् विकसित रूप है[2]।

1—Psychology of the uncanscions by Jung, Page 163 (1918)
2—Encyclopaedia of Ethics and Religion Vcl VII,(1921)

त्रिमूर्ति—त्रिमूर्ति की धारणा मानसिक विकास की सबसे उच्चतम् परिणति है जिसम प्रकृति और विश्व का सत्य समाहित है। इसाई ग्रीक धम म त्रिमूर्ति का रूप उतना स्पष्ट है जितना कि हिन्दू धम मे।

प्रकृति म व्यापत तीन शक्तियाँ—सृजनात्मक सरक्षणात्मक और विध्वसात्मक—अपना अलग अलग महत्व रखती है पर एक दूसरे पर समान अवलम्बित रहती हैं। प्रत्यक धम म इन तीन प्रकृत शक्तियों को प्रतीक का रूप दिया गया है। अस्तु हिंदू और ग्रीक धम म सृजनात्मक शक्तियों का मानवीकरण क्रमश ब्रह्मा और ज्यूपीटर के रूप म सरक्षणात्मक शक्तियो का मानवीकरण क्रमश विष्णु और नेपटयून (Neptune) म और सहारात्मक शक्तियो का क्रमश शिव एव प्लूटो (Pluto) के रूप मे किया गया। मानव मन के विकास की उच्चतम स्थिति उस समय प्राप्त होती है जब मानव प्रकृति की इन तीन शक्तियो को कायकारण की शृखला म बाँधकर एक आदि सत्य को व्यक्त रूप प्रदान करता है जो त्रिमूर्ति की सघटित प्रक्रिया मे समरसता म साकार हो उठता है। टयूबस के कथनानुसार कि इन तीन शक्तियो या देवताओ की एक व्यक्ति या इकाई म सगठित प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति इस बात की द्योतक है कि प्रकृति के तीन तत्व पृथ्वी (यथा ब्रह्मा या ज्यूपीटर) जल (यथा विष्णु नेपटयून) और अग्नि (शिव या प्लूटो), जो आदिमानव की आश्चय भावनाओ या अधविश्वासो के माध्यम थ उनका उन्नायक एव पौराणिक रूप त्रिमूर्ति की धारणा म साकार प्रतीत होता है।[1] दूसरे शब्दो मे इन तीन देवताओ का क्रमश सम्बन्ध तीन प्रधान गुणों सत्व रजस और तमस् से भी सीधा जोड़ा जा सकता है। त्रिमूर्ति की कल्पना मानव मन की समन्वयात्मक शक्ति की परिचायिका है जो रूपात्मक जगत् की पृष्ठभूमि मे अव्यक्त शक्ति की ओर इगित करती है।

असुर—समेटिक धम म असुर देवता का प्रतीकात्मक अथ एक प्राकृतिक म त दृष्टि का द्योतक है। इस देवता की धारणा म दो तथ्यो का योग हुआ है। विश्व विभिन्न शक्तियो से शासित है जो कि एक नियम या पूव-स्थापित सामरस्य (Pre established harmony) के आधार पर काय करती है। ग्रीक धम म प्रोमीथियस और हिंदू धम म ब्रह्मा की धारणाओ म इसी तथ्य का पुट नाद होता है। दूसरा तथ्य जो इस देवता मे सन्निहित है, वह हैं अव्यक्त सिद्धात जो समस्त विश्व को सतुलित

---

१ Hindu Manners, Customs and Ceremonies by Abbe, J A pt Dubois Pt III page 544-45 (1906)

किए हुए हैं । इस तथ्य का मानवीकरण, समेटिक धर्म में एक अन्य देवता एनु (Anu) की भावना में होता है। इन दो तथ्यों के सम्मिश्रण के असुर देवता का प्रतीकात्मक रूप मुखरित हो सका ।

निष्कर्ष—उपयुक्त विवेचन से दो बातें स्पष्ट होती हैं । प्रथम धार्मिक प्रतीकों का विकास अथवा उनकी दार्शनिक पृष्ठभूमि 'व्यक्त' पर ही केवल आधारित नहीं है वरन् उनका प्रतीकार्थ 'अव्यक्त' के व्यंजनात्मक अर्थ पर अधिक केन्द्रित होता है। दूसरे ये प्रतीक शुद्ध विचारात्मक प्रवृति के द्योतक हैं जैसा कि प्रथम ही संकेत किया गया। धार्मिक प्रतीकों के विकास में तान्त्रिक आचारों (Magical rites) का योग अवश्य है पर बहुत नहीं तथ्य रूप में पौराणिक रीतियों (Myths) का हाथ अधिक है। यह 'तंत्र' से "पुराण' तक की यात्रा मानव मन की सबसे महत्वपूर्ण विचारात्मक प्रवृति है जिसने धार्मिक अन्तर्दृष्टि की पृष्ठभूमि प्रस्तुत की। अतः धार्मिक प्रतीक प्रकृति और जीवन, विश्व और मानव अथवा आदर्श एवं यथार्थ से समन्वित आंतरिक दृष्टिकोण के परिचायक हैं ।

श्रवतार 'परशुराम' है। नवाँ 'रामावतार' है जो परशुराम की प्रवृति का दमन करते है और मानव चेतना के ऊर्ध्वगामी आरोहण के मार्ग पर सीता के रूप में पुरुषोत्तम की दशा प्राप्त करते है। दूसरी ओर विष्णु के कृष्णावतार में चतुर्मुखी व्यक्तित्व का विकास होता है जिसमें बुद्धि-मानस का सुन्दर विस्तार प्राप्त होता है। रामावतार में मानस का मोहरूप प्राप्त होता है। नवाँ अवतार 'बुद्ध' का है जो शरीर वस्तु की अनुभूति तथा बुद्धि की तुला पर तोलता है। इस अवतार में मानव के भावी विकास का संकेत भी मिलता है। जो कल्कि अवतार में अपनी परिणति में प्राप्त होता है। ये अन्तिम दो अवतार भविष्य विकास की ओर संकेत करते है। जिनमें मानव के आध्यात्मिक आरोहण का रहस्य छिपा हुआ है। अतिमानव (Sup rman) के दिव्य स्वरूप का दिग्दर्शन कराते है जिसमें चेतन शक्ति मानसिक स्तर से ऊर्ध्व स्तरों की ओर आरोहण करती है। (लाइफ डिवाइन द्वारा महर्षि अरविंद पृ० १०४ भाग १) यह तथ्य स्पष्ट करता है कि मानसिक चेतना केवल एक मध्यम स्थिति की द्योतिका है जिससे ऊपर चेतना शक्ति ऊर्ध्वमन और अतिचेतन मन स्तरों का स्पर्श करती है और दूसरी ओर अपने नीचे के भौतिक स्तरों उपचेतन तथा अचेतन (सबकांशस एण्ड अनकांशस) को भी अपने स्पर्श से आलोकित कर देती है। सत्य में ये सब विभिन्न स्तर एक चेतना शक्ति के विविध रूप हैं। यही कारण है कि भक्त कवियों ने विष्णु के अवतारों को धर्म के ह्रास होने पर अंशों सहित अवतरित होने की जो बात कही है वह तात्विक दृष्टि से मानवीय चेतना के प्रति निम्न स्तरों के उर्ध्वीकरण की ओर ही संकेत कहा जा सकता है।

अवतारों के वैज्ञानिक विश्लेषण से यह स्पष्ट हो चुका है कि अवतार मानवीय विकास के क्रमिक सोपान है और अन्तिम चार अवतार (राम कृष्ण बुद्ध और कल्कि) मूलतः मानवीय चेतना के उत्तरोत्तर ऊर्ध्वगामी आरोहण हैं। स्वयं महर्षि अरविन्द और ड्यू नू ने इसी मानवीय चेतना के विकास को मानवीय भावी भाग्य का आधारबिंदु माना हैं। जिससे होकर ही मानव उच्चतम अभियानों का दिग्दर्शन कर सकता हैं।[1] इसी चेतना का विकास 'राम चरित्र' का मूलाधार हैं जिसके द्वारा संसार एवं मानव हृदय का अन्धकार मोह एवं वासनाओं का

---

१ ड्यू नू की पुस्तक 'ह्यूमन डेस्टनी' में मानवीय चेतना के विकास का वैज्ञानिक रूप प्राप्त होता है जो धर्म दर्शन और कला के क्षेत्रों से भी सम्बन्धित माना गया है। यही दृष्टिकोण प्रो० वाइटहेड ने अपनी पुस्तक 'साइंस एंड द माडर्न वर्ल्ड' में भी ग्रहण किया है।

उन्नयन होता है। स्वयं महाकवि तुलसी ने राम चरित्र में इसी भाव का प्रतिपूर्ण समन्वय किया है। [इ]स में राम मर्यादापुरुषोत्तम हैं जो इस तथ्य को स्पष्ट करते हैं कि मानवीय विकास की दृष्टि से ही वह पुरुषों में उत्तम हैं। राम' मानवीय 'चेतन आत्मा' के वह प्रकाश-पुंज हैं जो मानवीय भावों विकास की ओर सतत करते हैं।

अवतारों के विश्लेषण से यह बात स्पष्ट होती है कि आदितत्व नारायण' या 'हरि' प्रारम्भ में 'एक-यौन' (Homo-sexual) थे। पृथ्वी पर अत्याचार एवं देवों की निराशा को समाप्त करने के लिये उन्होंने अंशों सहित अवतार लिया। इसीलिए 'एक यौन' की परिधि का त्याग कर उन्होंने दो-यौन (Bi Sexual) को अवतारणा की। अतः उन्हें नारायण और श्री विष्णु और लक्ष्मी में विभक्त होना पड़ा। तुलसी ने रामावतार के मूल में इस विकासवादी मिथुन-परक सिद्धांत को तात्विक रूप देने का सफल प्रयत्न किया है उनके राम और सीता (विष्णु और लक्ष्मी) अव्यक्त और व्यक्त निषेधात्मक एवं निश्चयात्मक तत्व ही हैं जो अपने अयोग्य कर्मों से विश्व में स्पंदन एवं सृष्टितत्व का विकास करते हैं। इन्ही के कार्यकलापों का सुंदर विकास और उनकी कलाओं का अभिव्यक्तीकरण ही रामायण का रंग स्थल है। इसी दृष्टि से सीता राम की परमवल्लभा हैं और वह उसके प्रिय—

> सर्वश्रेयस्करी सीता नतोऽहं रामवल्लभाम्'
>
> (मानस, बालकाण्ड पृ० २१)

इसे ही 'अगुन अरूप' से सगुन' में अभिव्यक्ति होना कहा गया है—

> अगुन अरूप अलख अज जोई।
> भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥
>
> (मानस बालकण्ड, पृ० १३३)

अतः परमतत्व दिव्य भी है और मानवीय भी यही उसकी महानता है। अंग्रेजी कवि टेनीसन की ये पंक्तियां इसी तथ्य की प्रतिध्वनि है, जब वह कहता है—

तुम' मानव' और दिव्य प्रतीत होते हो तुम उच्चतम, पवित्रतम व्यक्तित्व हो। हमारी इच्छाएं हमारी हैं, पर कैसे यह हम नहीं जानते हमारी इच्छाएँ हमारी हैं केवल इसलिये कि वे तुम्हारी' हो जायं।[1]

---

१ इन मेमोरियम द्वारा एल्फ्रेड लार्ड टेनीसन प० ५

Thou seemest human and divine
The highest, holiest manhood thou
Our wills are ours we know not how
Our wills are ours to make them thine

इस विश्लेपण म मैंने जो जीव विज्ञान (Biology) का सहारा लिया है वह रामकथा के दिव्य रूप के अथ को हेय नही बना देता हैं पर सत्य म वह' सृष्टि सत्य के मूल रहस्य को ही समक्ष रखता है। विकासवाद की दृष्टि से देखने पर भी हम इस अमान्य नही मान सकते हैं। राम कथा को इस दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इस विकास स्थिति' म समस्त पदार्थों एव वस्तुओं का द्विविध रूप हो जाता है। रामावतार म पृथ्वी केवल एक भौतिक तत्व ही नही रह जाती है पर उस पर एक देव या मनश्चेतना' का आधिपत्य होने लगता है।[1] राम और सीता के सभी काय इसी मनश्चेतना के पूरक अग हैं।

जिस समय रामावतार हुआ था, उस समय उत्तराखड मे आयजाति निवास करती थी जो सात्विक तत्व या गुणा की प्रतीक थी। लका उस समय असुरो एव राक्षसो का निवास स्थान थी जो तामसिक गुणा के प्रतीक थे। मानसिक चेतना के धरातल पर ये दोनो देश भारत (कोशल) तथा लका मन के दो स्तरों सात्विक एव तामसिक के प्रतिरूप है जिनका सघष वाह्य रूप भी धारण करता है। य ही वत्तियाँ देवो असुरा (सत्व एव तम) के रूप मे पुराणो मे अव तरित हुई। गीता म भी सात्विक राजसिक एव तामसिक गुणो का विवेचन प्राप्त होना है। वहाँ पर सत्व गुणों का प्रादुर्भाव उस समय कहा गया है जब समस्त इ द्रिया से ज्ञान प्रकाश का आलोक उत्पन्न होता हैं (श्री मद्‌भगवद्‌गीता गुणत्रय विभाग योग पृ० ४७४ श्लोक ११)और तमो गुण का अधिक्य अज्ञान अप्रवत्ति, प्रमाद एव मोह के द्वारा प्रादुभूत कहा गया है। (वही पृ० ४७६ श्लोक १३) रामचरितमानस' नाम भी इसी ओर अपरोक्ष रूप अपने से सकेत करता है। मानस का अभीप्राय यही है कि उसके अन्दर रमने वाला व्यक्ति मन' ही सत्य' में का सा क्षात्कार करता है-सात्विक गुणा की अनुभूति करता हैं और अपनी बुद्धि को विमल कर लेता हैं—

अस मानस मानस चख चाही ।
भइ कवि बुद्धि विमल अवगाही ॥

(मानस बालकाण्ड पृ० ७६)

---

१ सुमित्रानन्दन पत ने 'स्वर्णकिरण की एक सुन्दर कविता अशोक' ने मे सीता को पृथ्वी की चेतना का प्रतीक मानकर 'राम को उस बदी चेतना के स्वतत्र कर्ता के रूप म चित्रित किया है दे० प० १५२।

मानस का रहस्य इसी मानस-तत्व' पर आधारित हैं। यही रहस्योद्घाटन तत्वत सभी पुराण कथाओं का ध्येय हैं। इस प्रकार पुराण गाथाएँ रहस्यवाद की सर्वोत्कृष्ट भाषा हैं यही सर्वोत्कृष्ट प्रतीक है जिसके द्वारा मनुष्य जाति मानव सामान्य के आत्मिक रहस्य को व्यक्त करती हैं।

(कामायनी-दर्शन, द्वारा डा० फतेसिंह, पृ० ४०१)

अस्तु राम का रूप 'चेतन आत्मा युक्त सतगुणों' का प्रतीक है। दूसरी ओर जितने भी उनके (राम) अंश हैं वे अधिकतर सतोगुण के अन्दर आते हैं। इस दृष्टि से अयोध्या से सम्बन्धित जितने भी पात्र हैं (दशरथ वश) वे या तो उर्ध्व चेतना के या अपेक्षाकृत निम्न-चेतना के द्योतक हैं। दशरथ शब्द दो शब्दों की संधि हैं—एक दश' और दूसरा 'रथ' अर्थात जिसके दस अंग (रथ) हो। ये दस अंग प्रत्यक्ष रूप में दस इन्द्रियाँ हैं जो निम्न चेतना (तमोगुण से नहीं अथ हैं) का एक विकसित रूप हैं इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि दशरथ दस इन्द्रियों के संघात रूप भौतिक शरीर के शासक हैं जिनके आत्मा रूप में 'राम' तथा अन्य पुत्रों का जन्म हुआ। परन्तु राम का जन्म कौशल्या या सौभाग्य (Prosperity) से हुआ। आत्मा का जन्म किसी व्यक्ति में सौभाग्य से ही होता हैं। कठोपनिषद् में भी शरीर का रथ कहा गया है आत्मा को रथी और बुद्धि तथा मन को सारथि और लगाव कहा गया हैं यथा—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।

बुद्धि तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥

(कठोपनिषद्, अध्याय १ वल्ली ३। पृ० ८५ श्लोक ३(३ प० सा० खंड १)
अतः शरीर आत्मा और सौभाग्य इन तीनों का अन्योन्य सम्बन्ध हैं। जब आत्मा (राम) ही शरीर (दशरथ) को छोड़ देगी तब शरीर निर्जीव होकर मृत्यु का भागी हो जाता है। इस तथ्य का सुन्दर स्वरूप राम का वनवास और तथाकथित दशरथ की मृत्यु हैं। स्वयं तुलसी ने दशरथ की मृत्यु को प्रानप्रिय राम के वनगमन के समय चित्रित किया है राम को दशरथ का 'प्रानप्रिय —नृपति प्रानप्रिय तुम्ह रघुवीरा (मानस अयोध्या काण्ड पृ० ३९०) सत्य मे प्राणों (इन्द्रियों) का परम प्रिय यह आत्मा ही है जिसके द्वारा प्राणों को जीवन प्राप्त होता हैं। प्राणा को इन्द्रिय कहा गया है परन्तु सौभाग्य (कौशल्या) तब भी अपने प्रारब्ध का भरोसा किये हुए चौदह वर्ष तक राम की प्रतीक्षा किया करता है।

दशरथ की अन्य दो रानियाँ कैकेयी और सुमित्रा थी। सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो कैकेयी के 'कय' का अर्थ 'निम्न चेतना' से ग्रहण होता है जिससे मन अथवा उच्च बुद्धि (भरत) का जन्म हुआ है। इस प्रकार सुमित्रा का अर्थ जो सबका सुमित्र हो से ग्रहण होता है। जिससे लक्ष्मण जो शेषावतार (सर्प) माने जाते हैं का जन्म होता है। शत्रुघ्न (शर) के प्रतिरूप है जो आकाश का प्रतीक माना जाता है। इस प्रकार, इस तालिका में चक्र सर्प और शर को क्रमश: भरत लक्ष्मण और शत्रुघ्न का रूप कहा गया है। इस तात्विक अर्थ को स्पष्ट करने के हेतु नारायण के तीन पदार्थों की ओर ध्यान जाता है। नारायण में त्रिमूर्ति की धारणा सर्प चक्र और शर की सम्मिलित अभिव्यक्ति है (पुराणाज इन द लाइट आफ माडन साइंस, अय्यर, पृ० १७१) यहाँ पर सर्प समय' का द्योतक है जो या तो अव्यक्त है अथवा व्यक्त। लक्ष्मण शेषावतार होने से प्रत्यक्षत: समय (काल) के प्रतीक रूप हैं। चक्र चित् अथवा मन का प्रतीक है जो अपनी क्रियात्मक शक्ति से इतर प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त करता है। यही कारण है कि पौराणिक गाथाओं में विष्णु के चक्र के द्वारा इतर प्राणियों का ध्वंस होता हुआ दिखाया गया है। भरत का चरित्र भी इसी तथ्य का प्रतिरूप है जो उच्च मन का प्रतीक माना गया है। इस पर हम यथास्थान विचार करेंगे। शर से ध्वनि का प्रादुर्भाव होता है जो महभूत आकाश तत्व का प्रतीक है। इसकी अभिव्यक्ति राम कथा में शत्रुघ्न के द्वारा होती है। वैज्ञानिक दर्शन वेत्ता प्रो० आइंस्टीन ने समय और आकाश को अनंत न मान कर ससीम माना है और साथ ही दोनों को अपरिमित भी कहा है। दूसरी ओर न्यूटन ने समय तथा आकाश को अनंत माना था युगों से मान्य इस धारणा को आइंस्टीन ने आमूल परिवर्तन कर दिया, और इस प्रकार उनका सापेक्षिक महत्व प्रदर्शित कर दार्शनिक क्षेत्र में एक क्रांति का बीजारोपण किया। भारतीय पुराण शास्त्र में आकाश और समय की अपरिमेयता का समष्टि रूप नारायण या हरि है और उनकी सीमाबद्धता का व्यक्त रूप किसी माध्यम के द्वारा (भरत व शत्रुघ्न) अभिव्यक्ति को प्राप्त होता हैं। शत्रुघ्न महाभूत आकाश का प्रतीक है। इस आकाश तत्व को उपनिषदों में परमतत्त्व 'ब्रह्म' या आकाश सदृश ब्रह्म' भी कहा गया है जिससे इस चराचर संसार की सृष्टि हुई है अत: तात्विक दृष्टि से आकाश तत्व पदार्थ का प्रतीक माना गया है जो प्रत्यक्ष रूप से शत्रुघ्न से सम्बन्धित है अत: शत्रुघ्न पदार्थ का प्रतीक हैं। इस दृष्टि से परमात्मा (परमतत्त्व हरि) का अवतार इस पृथ्वी पर इनके तीन प्रमुख अंगों—समय मन और आकाशीय पदार्थ के सहित हुआ है। राम

की अभिन्न अ श सीता है जो श्री लक्ष्मी की अवतार मानी गई हैं। सीता को पृथ्वी की पुत्री भी कहा गया है। इन दोनों तत्त्वों का समाहार राम कथा की सीता में प्राप्त होता है। यदि तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय तो सीता आत्मा की एक ज्योति किरण है जो स्वय आत्मा' से ही उद्‌भूत हुई है। 'सीता शब्द के 'सि' का अर्थ रेखा का बनना या झुरियो (Furrows) का पडना है। जब आत्मा की प्रकाश किरण 'सीता' आकाश तरगों या पृथ्वी की रेखाओं (झुरियों) से उद्‌भूत हुई, तब अत में उस किरण' का पर्यवसान अग्नि मे होता है। और फिर वह' शुद्ध रूप मे निखर उठती है। यह अग्नि का रूप स्वय आत्मा की अद्‌भूत शक्ति है। यदि यहां पर हम रामायण की कथा से इसकी तुलना करें तो सीता का पृथ्वी से उत्पन्न होना अग्नि मे प्रवेश करना और फिर अपने शुद्ध रूप में निखर आना— इन सब घटनाओं का एक आध्यात्मिक समाधान प्राप्त होता है। सीता हरण के पहले राम ने सीता से कहा था कि अब मैं अपनी लीला का विस्तार करूँगा अत' तुम कृत्रिम सीता का रूप धारण कर लो। अग्नि प्रवेश का प्रसग यह तथ्य प्रकट करता है कि सीता का यह कृत्रिम रूप अग्नि की पवित्रतादायनी शक्ति से पुन सत्य रूप में प्रकट हो जाता है। यही कारण है कि आत्मा की प्रकाश किरण सीता' अग्नि की शिखाओं को देख कर भयभीत नही होती है वरन् उसे देख कर कह उठती हैं—

> पावक प्रबल देखि बदेही।
> हृदय हरष नहिं भय कछु तेही॥
> जौ मन बच क्रम मम उर माहीं।
> तजि रघुबीर आन गति नाहीं॥
> तौ कृसानु सब कै गति जाना।
> मोकहु होउ श्रीखड समाना॥

(मानस लकाकाण्ड, पृ० ८४९)

सीता की यह अन्तर्भावना क्या आत्मा के प्रति उसकी प्रकाश किरण के एकनिष्ठ प्रेम की प्रतीक नहीं है? मेरे मतानुसार यहा पर आध्यात्मिक एव ऐतिहासिक सत्य—दोना का समान निर्वाह दृष्टिगत होता है।

अब यह प्रश्न उठता है कि रावण सीता को लका क्यों ले गया? जैसा कि प्रथम ही सकेत किया गया कि लका निम्नतम तामसिक गुणों की प्रतीक है जिसका अधिनायक असुर 'रावण' है। सीता हरण का रहस्य यही है कि, आत्मा की प्रकाश

किरण (सीता) का विस्तार मन के विशाल क्षेत्र मे अत्यन्त व्यापक है। 'वह' अपने आलोक से मन के प्रत्येक क्षेत्र एव कोने को आलोकित करना चाहती है परन्तु तमोगुण-युक्त वृत्तियां उस 'आलोक' (आत्मालोक) के विस्तार म बाधा स्वरूप आ खडी होती है। सीता का तामसिक मन के निम्नतर स्तर लका' मे जाने का यही अथ है कि 'किरणें' उस क्षेत्र को प्रकाशित करना चाहती हैं और वह उस अभियान मे सफल नही होती हैं। इसी के प्रभावानुसार अनेक तमोगुणयुक्त व्यक्ति यथा विभीषण मदोदरी, त्रिजटा आदि मे सात्विक भावा का कुछ विकास दृष्टिगत होता है। प्रत्यक्ष रूप से, यह उध्वमनश्चेतना (सतोगुणप्रधान) का तमोगुण युक्त चेतना-स्तर के उन्नयन का प्रयत्न है। दूसरे शब्दों मे देवो की असुरों पर विजय है। यह सघप राम रावण का देवासुर सघप है।

रामायण की कथा में भरत की भक्ति एव प्रेम का एक अत्यन्त उज्जवल रूप दिया गया है। भरत का चरित्र जहा मानवीय प्रेम एव श्रद्धा का उच्चतम रूप है, वहीं वह आध्यात्मिक क्षेत्र म अथगभित व्यजना भी करता हैं। भरत जसा कि प्रथम सकेत किया गया मन का प्रतीक है। राम का बनवास और भरत का नदीग्राम' म रह कर राज्य शासन सचालित करना एक तात्विक अर्थ की व्यजना करता है। मन और आत्मा जो क्रमश स्थूल एव सूक्ष्म मानसिक चेतना के प्रतीक हैं वे एक साथ एक स्थान पर राज्य नही कर सकते हैं। मनोविज्ञान के अनुसार मन और आत्मा' मानव के दो आवश्यक पक्ष है। एक से 'वह (मन) विचारा तथा भावा के जगत का *निर्माण करता है और दूसरे (आत्मा) से वह अनुभूति एव* अन्तर्दृष्टि के द्वारा सत्य का साक्षात्कार करता है न्याय वशेषिक दशन में मन को सुख-दु खादि का अनुभव करने वाला कहा गया है और उसे प्रत्येक आत्मा मे नियत होने के कारण अनत परमाणु रूप कहा गया है। (कामायनी म काव्य, सस्कृति और दशन द्वारा डा० द्वारकाप्रसाद पृ० ३४६) यहा पर भी मन को स्थूल तथा आत्मा को सूक्ष्म ही कहा गया है। महर्षि 'अरविन्द ने इसे ही वाह्य आत्मा (मन) और आतरिक आत्मा की सज्ञा दी है। महर्षि ने आत्मा को आनन्द का सिद्धात माना है—और जब इस विस्तृत एव पवित्र मानसिक तत्त्व का प्रतिबिब धरातल पर है तब हम किसी व्यक्ति को आत्म युक्त कहते हैं और जब इसका अभाव होता है तब वह आत्महीन ही कहा जाता है। (द लाइफ डिवाइन द्वारा अरविन्द पृ० २६५–२६६ भाग प्रथम)

' आत्मा का क्षेत्र, इसी से अनुभूतिजन्य आनन्द का क्षेत्र है और मन का क्षेत्र ज्ञानमय वाह्य सुख का। इस दृष्टि से 'मन' और 'आत्मा के एक स्थान पर शासन न

कर सकने के कारण राम को चौदह वर्ष का बनवास होता है। इस बनवास के समय, लक्ष्मण जो ईश्वर का समय रूप मे एक नियम है—सदा राम के साथ रहता है जिस प्रकार आत्मा की 'ज्योतिकिरण (सीता) आत्मा के साथ ही रहती है। चौदह वर्ष तत्वत भारतीय मनवन्तर है जिनम आत्मा को ससार के भौतिक पदार्थों के मध्य से गुजरना पडता है और अपनी आत्मा किरण के द्वारा उसे आलोकित करना पडता है। राम का अवतार इसी ज्योति प्रसारण के हेतु एव अन्धकार के निवारण के लिय ही हुआ था। यही तो सत्य' एव 'धर्म' की स्थापना है।

(मानस, बालकाण्ड, पृ० १३८)

मन और आत्मा अन्योन्य पूरक भी हैं। इसी तथ्य पर 'मानव सत्य के स्वरूप का हृदयगम करता है। इसके लिये आवश्यक है कि मन और आत्मा एक ही सगीत का सृजन करें अर्थात् समरसता का पालन करें। इसी भाव को टेनीसन ने इस प्रकार रखा है—ज्ञान को अधिक से अधिकतम रूप म विस्तार प्राप्त करने दो जिससे कि हम म अधिक भक्तिभाव का निवास हो सके। मन और आत्मा, पहले की तरह, एक सगीत का सजन कर सकने मे समर्थ हों।[1] इसी हेतु रामकथा के मन (भरत) को सदव राम (आत्मा) का एकाग्र प्रेमी ही चित्रित किया गया

इसी से भरत का चरित्र आत्मा के प्रति एकनिष्ठ होने के कारण इतना उज्ज्वल है जिसकी भूरि भूरि प्रशसा तुलसी ने स्थान स्थान पर की है। इस प्रकार भरत को उन्होंने एक आदश भक्त का रूप ही प्रदान कर दिया है। तुलसी ने भरत के प्रति कहा—

जौ न होत जग जनम भरत को।
सकल धरम धुर धरनि धरत को॥

(मानस अयोध्याकाण्ड पृ० ५१८)

यही तो भरत का आदश प्रतिकरव है कि वह आत्मा के न रहने पर आत्मा की प्रेरणा (पादुकाओ) से ही राज काय सचालन करते हैं। परन्तु मन' के साथ शत्रुघ्न का सदव साथ दिखाया गया है और दोनों—भरत तथा शत्रुघ्न अयोध्या मे ही रह जाते है। शत्रुघ्न पदाथ का प्रतीक है (देखिये पीछे)। अत मन और पदार्थों का एक साथ रहना यह सिद्ध करता है कि मानसिक भावों तथा

---

1 Let knowledge grow from more to more But more of reverence in us dwell That mind and soul according well, May make one music as before

विचारों का उद्भव एवं विस्तार भौतिक पदार्थों के बिंब-ग्रहण से होता है परन्तु राजकार्य पञ्चाय को नहीं सौंपा गया है। उसका सम्पूर्ण भार आत्मा ने 'भरत' या 'मन' को सौंपा है क्योंकि आत्मा की अनुपस्थिति में मन, भौतिक पञ्चाय की सहायता से ही शासन कार्य चलाता है। अब प्रश्न है कि भरत नंदीग्राम रहकर ही राज्य क्यों करते हैं, जबकि वह अयोध्या में रह कर भी राज्य कर सकते थे। इसका भी एक कारण था। योद्धा का अर्थ है विजयी होना अतः अयोध्या का लाक्षणिक अर्थ हुआ जो मन (भरत) के द्वारा विजित न किया जा सके। दूसरी ओर अयोध्या केवल एक ईश्वर या आत्मा के द्वारा ही शासित हो सकती है। परन्तु 'नंदी' (नाद से) का व्यंजनार्थ 'प्रणव' है जो शब्द—ब्रह्म का स्थान है जहाँ से भरत शासन कार्य करते हैं (पुरानाज् —इन द लाइट आफ माडर्न साइंस द्वारा अम्बर, पृ० २४३)। अतः नंदीग्राम शब्द ब्रह्म का स्थान है न कि स्वयं 'शब्द ब्रह्म'। इसी 'शब्द-ब्रह्म' का साम रूप अयोध्या है जहाँ स्वयं ब्रह्म रूप 'राम' या परमात्मा शासन करते हैं। अतः अयोध्या का स्थान परमधाम के समकक्ष है जिस प्रकार कृष्ण काव्य में वृंदावन माना जाता है। जो व्यक्ति ऐसे स्थान पर रह कर शासन करेगा वह तो 'राज्यमद' से सर्वथा मुक्त ही रहेगा—वह लिप्त रह कर भी निर्लिप्त रहेगा। भरत का आदर्श चरित्र इसी प्रकार का दृष्टिगत होता है तुलसी ने भरत के प्रति ये शब्द कहे—

भरतहि होइ न राजमदु, बिधि हरिहर पद पाइ।

कबहुँ कि काँजी सीकरनि छीर सिंधु बिनसाइ॥

(मानस अयोध्याकाण्ड, पृ० ५१७)

यही कारण है कि भरत का चरित्रांकन एक निर्लिप्त योगी की तरह किया गया है। यहाँ पर मानो गीता का 'निष्काम कर्म योग' साकार हो उठा है। उनका मन तो 'आत्मा' से लगा हुआ है इसी से भरत राज्यपद को उसी आत्मा की विभूति मानते हैं न कि अपनी कोई निजी धरोहर। यदि हम यहाँ पर संसार के इतिहास का सिंहावलोकन करें तो प्रतीत होता है कि अनेक राज्यक्रान्तियों एवं विद्रोहों का मूल्य यही था कि वहाँ के शासक-गण 'राज्य' को अपनी निजी धरोहर समझते थे और प्रजा वर्ग पर मनमाना अत्याचारपूर्ण व्यवहार करते थे। फ्रांस की क्रांति एवं सोवियत रूस की अक्टूबर क्रान्ति में इसी तथ्य की प्रतिध्वनि ज्ञात होती है। अतः भरत का यह राम कथा का प्रसंग इस ओर संकेत करता है कि शासक को निष्काम होना चाहिए, उसे प्रजा का सेवक होना चाहिए। यहाँ प्रतीकात्मक अर्थ मानो लौकिक अर्थ में एकीभूत (हो गया) है जो राम कथा को एक

अत्यन्त उच्च सदम का 'प्रतीक' बनाता है। आध्यात्मिक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भरत की राम के प्रति यह भक्ति 'मन की 'आत्मा' के प्रति अटूट श्रद्धा है। जब तक मन किसी उच्च ध्येय के ध्यान म निमग्न न होगा तब तक वह चचल एव विकल्प सकल्प की प्रवृत्तियों के मध्य अस्थिर रहेगा। इसी से राम कथा मे भरत को जहाँ एक ओर भक्ति का आदर्श रूप दिया गया है वहीं उसे मननशील एवं सयमी भी चित्रित किया गया है। यह 'मन' जो फ्रायड के अचेत मन' से कहीं महान् है वह सत्य मे मननशील चेतन मन ही है। भारतीय मनोविज्ञान मे मन की एक मुख्य क्रिया मननशीलता है। यास्क ने मनु' धातु से मन की व्युत्पत्ति सिद्ध की है और उसका अर्थ मनन करना कहा है (कामयानी मे काव्य, दर्शन और सस्कृति द्वारा डा० द्वारकाप्रसाद, पृ० २४८)। भरत के चरित्र मे इन दोनो तत्त्वो का समाहार तुलसी ने सुन्दरता से किया है। इस मननशीलता की आधार शिला पर ही मन 'नीर क्षीर विवेक' की शक्ति को विकसित करता है। वह इस विवेक दशा में उसी समय पहुचता है जब वह किसी अन्य 'उच्च ध्येय या आत्मा की ओर एकाग्रचित होता है। इसी की प्रतिध्वनि तुलसी के इस कथन मे साकार हो उठी है—

भरत हस रविबस तडागा।
जनमि कीन्ह गुन दोषबिभागा॥
गहि गुन पय तजि अवगुन बारी।
निज जस जगत कीन्ह उजियारी॥
कहत भरत गुन सील सुभाऊ॥
प्रेम पयोधि मगन रघुराउ॥

(मानस अयोध्याकाण्ड, पृ० ५१८)

रामकथा के इन पात्रो का एक अटूट सम्बन्ध बानर वर्ग से भी है जो उस कथा को गति प्रदान करते हैं। उनकी प्रवत्तियाँ शुद्ध सात्विक नहीं हैं, पर राजसिक एव तामसिक वत्तियो के रूप मे सामने आती हैं इस निम्न चेतना के स्तर को ऊर्ध्व चेतना के क्षेत्र म उठाने के लिए ही आत्मा एव उनके अशो का इस बानर वर्ग से सम्बन्ध होता है। इसी सम्बन्ध के द्वारा सुग्रीव हनुमान आदि सतोगुण वत्तियों से युक्त होकर, आत्मा के सन्निकट होते हैं। विकास की दृष्टि से यह बानर वर्ग आदि मानव की वह शाखा थी जो मानवीय धरातल की ओर क्रमश अग्रसर हो रही थी। इस अभियान मे उन्हें आर्य जाति के सत्वगुणो का भी आश्रय प्राप्त हुआ था।

रामकथा म इन वानरों का एक रहस्यमय पक्ष है सुग्रीव का पक्ष ज्ञान एव बुद्धि है। इसी प्रकार से बालि का साम्राज्य काम या काम से उद्भूत इच्छायें तथा वासनायें है। अत 'ज्ञान और 'काम का संघर्ष सदैव का सत्य है। राम का अवतार धर्म स्थापना के हेतु हुआ था। आत्मा के साम्राज्य को स्थापित करने के लिये यह आवश्यक था कि वह 'ज्ञान' की निर्मल धारा को अबाधगति से प्रवाहित होने का मार्ग प्रशस्त करे। यही कारण था कि आत्मा रूप राम को बालि का संहार करना पड़ा। इस दृष्टि से बाली की मृत्यु राम के चरित्र पर कलक नहीं है। वह उनका एक आवश्यक कर्म था जिसके लिये ही उनका इस धरती पर अवतार हुआ था।

राम के प्रमुख सेवकों मे हनुमान या पवनपुत्र का नाम आता है। उनका महत्व इतना अधिक बढ़ा कि वह राम के मुख्य भक्तों के रूप मे पूज्य हो गये। पवनपुत्र नाम ही यह सिद्ध करता है हनुमान 'पवन' के प्रतीक हैं जो सारे विश्व में व्याप्त हैं। उसी का रूपान्तर 'प्राणवायु' क रूप मे शरीर म भी व्याप्त है। इस प्राणवायु का शरीर में और वायु का विश्व वातावरण में समान महत्व है। इस अर्थ के अति रिक्त रामकथा म पवनपुत्र एक ऐसी चेतन प्राण वायु का प्रतीक है जो भरत' को राम की सूचना देता है (मन तथा आत्मा) स्वय आत्मा को उसकी आत्मकिरण (सीता) की सूचना देता है उध्वमन को निम्नमन (भरत तथा लका) से मिलाता है, ज्ञान शक्ति (सुग्रीव) को राम (आत्मा) की ओर उन्मुख करता है और लक्ष्मण (सयम) के मूर्छित हो जाने पर (गतिहीन होना) उन्हें जीवन रूप सजीवनी का वरदान देकर उन्हे चेतना युक्त करता है। ये सब काय पवनपुत्र हनुमान के प्रतीकात्मक सदभ की ओर स्पष्ट सकेत करते हैं जो रामकथा के विभिन्न पात्रों के बीच मध्यस्थ का काय करते हैं। हनुमान की यह प्रतीकात्मक व्याख्या यह सिद्ध करती है कि प्राण वायु की पहुच मन की अतल गहराइयों मे एव विश्व के विशाल प्रांगण मे समान रूप से है। वह एक ऐसी शक्ति है जो गहन से गहन मन की परतों को भेद कर प्रकाशकिरण एव मन (सीता तथा भरत) को आत्मा के समीप लाती है। इसी कारण स स्वय राम ने हनुमान से कहा था—

सुनु कपि जिय मानसि जनि ऊना।
तैं मम प्रिय लछिमन तें दूना॥

मानस (किष्किन्धा काण्ड पृ० ६५६) जो आत्मा का इतना काय करे वह सयम (लक्ष्मण) स भी अधिक प्रिय हैं क्योंकि उसने तो सयम तक की गतिहीनता को गति प्रदान की है।

राम अथवा वानरो की सम्मिलित सेना लका की ओर प्रयाण करती है और उसके सामने महोदधि को पार करने की समस्या आती है। तब 'सेतुबन्ध' के द्वारा

समुद्र को पार किया जाता है। यहा पर लका और कोशल (भारत) के मध्य सेतु का निर्माण एक प्रतीकाय की ओर सकेत करता है। जसा कि प्रथम ही सकेत किया जा चुका है कि कोशल या भारत और लका उच्च तथा निम्नतम मानसिक स्तरों के प्रतीक है। इन दो स्तरो का एक सूत्र मे सम्बन्ध होना चाहिये, तभी मानसिक जगत का काय सुचारु रूप से चल सकता है। यही काय रामकथा मे सेतु करता है। जो मन के दो क्षेत्रों को मिलता है। इस प्रकार इस ऐतिहासिक घटना को प्रतीक का रूप प्राप्त होता है। यह मेरे इस कथन की पुष्टि करता है कि रामकथा मे ऐतिहासिकता एव प्रतीकात्मकता का समान निर्वाह हुआ है।

मानसिक जगत के सत्विक एव राजसिक गुणों का यह विवचन अपूर्ण ही रहेगा जब तक उसके तामसिक स्तर की ओर दृष्टिपात नहीं किया जाएगा। मानसिक सगठनो मे इन तीनो गुणों का समान महत्त्व है। गीता म इसी से सात्विक राजसिक एव तामसिक ज्ञानों का विवेचन किया गया है। सात्विक ज्ञान मे एक अविभक्त तत्त्व का साक्षात्कार समस्त भूतों मे होता है। राजसिक ज्ञान मे सबभूतों म नानात्व ही दिखाई देता है। तामसिक ज्ञान में किसी पदाथ का ही महत्त्व रहता है जो अहेतु असत्य एव अज्ञान के द्वारा आवृत्त रहता है (श्री मद्भगवदगीता मोक्ष योग, पृ० ५६४–५६६, श्लोक २०-२२)। लका से सम्बन्धित करीब करीब सभी पात्र तामसिक मनोवत्तियों से युक्त हैं जो अज्ञान एव असत्य के प्रति विशेष आकृष्ट हैं इन गुणो का प्राचुय होने से एक ज्ञानी पुरुष रावण भी अहकारी एव अज्ञानी ही दिखाई देता है। रामकथा मे रावण का चरित्र इसी प्रकार का है। मानसिक विकास की दृष्टि से वह तामसिक एव राजसिक वत्तियों के मध्य मे दर्शित होता है। इनकी समष्टि अभिव्यक्ति रावण मे एक अन्य वाचक शब्द 'दसग्रीव' के अथ मे समाहित है। यहाँ पर दसों इन्द्रियाँ एव उनके गुण मस्तिष्क म ही केन्द्रित है। इसी से रावण सदव इन इन्द्रियों की तृप्ति की ही सोचा करता है जबकि दशरथ उनके (इन्द्रिया) उन्नायक रूप के प्रति ही अधिक सचेत रहते हैं। इसी कारण रावण में अहकार की चरम परिणति प्राप्त होती है जो लकाकाण्ड में स्थान स्थान पर मन्दोदरी तथा रावण के वार्त्तालाप प्रसगों मे दृष्टिगत होती है। यहाँ तक कि रावण इस चराचर विश्व को भी अपने अधिकार में करना चाहता है यथा—

> सा सब प्रिय सहज वस मोरे।
> समुझि परा प्रसाद अब तोरे।।
>
> (मानस, लका काण्ड ५४)

रावण का यह अहं भाव तामसिक वृत्ति का एक स्वाभाविक विकास हैं। तामसिक वृत्ति के दो अग होत हैं। आवरण और विक्षेप। आवरण अहं का वह

शक्तिशाली रूप है जो केन्द्र से सम्पूर्ण परिधि को आच्छादित कर लेता है। यह अहं' का विस्फोट एवं उसका परिधि में विस्तार ही 'विक्षेप' है। (पुराणाज इनद लाइट आफ माडरन साइंस द्वारा अय्यर, पृ २४४) इन दोनों तत्वों का समाहार स्पष्टतया रावण के व्यक्तित्व में प्राप्त होता है। इस 'अहं विस्तार' का कारण मनोवैज्ञानिक भी हो सकता है जैसा चिदम्बर अय्यर ने विश्लेषित किया है।[1]

अस्तु रावण का व्यक्तित्व तामसिक मन का अहंपूर्ण विस्तार था। इसके विपरीत कुम्भकर्ण तामसिक मन का केन्द्रीभूत (centripetal) व्यक्तित्व था। एक में सब कुछ पर अधिकार करने की वेगवान लालसा थी तो दूसरे (कुम्भकर्ण) में प्रत्येक वस्तु को अपने अन्दर ही सुप्तावस्था में रखने की अराध्य इच्छा थी। एक में यदि विस्तार का बवंडर था तो दूसरे में समस्त वस्तुओं का निजी केन्द्रीभूत संकुचन था। इसी से कुम्भकर्ण को निद्रामग्न कहा गया। मेघनाद' तामसिक वृत्ति का वह वेगवान एवं गुरुगम्भीर मेघ रूप था जिसके सामने गंधव (लक्ष्मण) के रूप में ईश्वर का विधिवाक्य भी एक बार अस्त-व्यस्त हो गया था। इसी प्रकार शूर्पणखा जो 'वासनापूर्ण काम' की प्रतीक है वह अपनी तृप्ति के लिए किसी ओर भी उन्मुख हो सकती है। पंचवटी का अर्थ पाँच वृक्ष से घटित होता है जो पांच इन्द्रियों का प्रतिरूप है। कोई भी व्यक्ति आत्मा का प्रकाश उसी समय पा सकता है जब वह

---

१ श्री पी आर चिदम्बर अय्यर ने एनल्स आफ भण्डारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट, वाल्यूम २३ (१९४१) में रावण के व्यक्तित्व का सुन्दर विश्लेषण नवीन मनोविज्ञान के प्रकाश में किया है। लेखक रावण के व्यक्तित्व को एक मानसिक विघटन का उदाहरण मानता है जो उन्मत्तता (Insanity) की दशा तक नहीं पहुंचता। सत्य में उसका यह रूप उसके वातावरण एवं पैतृक संस्कारों (Heredity) के प्रभावों के कारण ही था। वह एक राक्षस नारी और देव ऋषि के द्वारा उत्पन्न हुआ था। इसी कारण उसके व्यक्तित्व में दोनों का एक अद्भुत मिश्रण था। उसके दस सिर तथा बीस हाथ माना भी किसी संहारात्मक एवं भावात्मक असन्तुलन का फल था जो गर्भावस्था के समय उसके ऊपर पड़े होंगे। इसी से रावण में ममत्व भाव तथा हीनग्रन्थि (Inferiority complex) का विकास भी सम्भव हो सका अतः वह एक स्नायु पीड़ित (Neurotic) व्यक्ति के रूप में सामने आता है (पृ ४६-५८)। स्पष्ट रूप से यह मनोवैज्ञानिक यांत्रिक एवं संस्कार जनित कारण उसके अहं' विस्तार के कारण हो सकते हैं और किसी सीमा तक सत्य भी है।

इन पचइन्द्रियो से ऊपर उठकर आत्मानुभूति की ओर प्रयत्नशील होता हैं। शूपणखा पचवटी म इन इन्द्रिया के उपर उठने की कोशिश तो करती है पर अपनी कामवासना क प्रयावग के कारण 'आत्मा' (राम) के निकट नही पहुच पाती है। इसी बीच म ईश्वर का विधि नियम लक्ष्मण उसे कुरुप कर देता है। इस प्रसग से यही अथ ग्रहण होता है कि कामवासना के उद्दामवेग से व्यक्ति की बुद्धि तथा मन नितांत अज्ञानाधकार म रहने के कारण, अपनी तामसिक वृत्तियो का खुले आम प्रदशन करता है। यह प्रदशन इतना अमर्यादित हो जाता है कि वह व्यक्ति अपने 'नाककान भी गवाँ देता है। इसी प्रकार मारीच जो अपनी माया के कारण हिरण मे परिवर्तित हो गया या भ्रमपूण मृगतृष्णा का ही प्रतीक है जिसके ऐन्द्रजालिक प्रभाव मे राम सीता तथा लक्ष्मण भी आ गये थे।

मनोवैज्ञानिक प्रतीकवादी दर्शन | ४

मनोविज्ञान का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। मानसिक चेतना का विकास ही मानव प्रगति का इतिहास है। मन की आवश्यक क्रिया विचारोद्‌भावना है और विचारों तथा भावों का आवश्यक कार्य प्रतीकीकरण है। यह मन की विचारात्मक क्रिया, प्रतीक निर्माण की जननी मानी गई है। इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप कला साहित्य, धर्म, दर्शन और विज्ञान आदि मानवीय क्रियाओं का आविर्भाव हुआ जिसमे ज्ञान का स्वरूप उनके प्रतीक सृजन के द्वारा मुखर होता है। अतः मन का सम्पूर्ण विकासात्मक अध्ययन ही मनोविज्ञान है। वह केवल मन का सीमित विज्ञान नहीं है। उसके द्वारा मानसिक चेतना के क्रमिक नव-स्तरों का भी उद्‌घाटन होता है। यहाँ कहा जा सकता है कि हिंदू मनोविज्ञान सम्पूर्ण मन का अध्ययन प्रस्तुत करता है जबकि पाश्चात्य-मनोविज्ञान मन के कुछ विशिष्ट स्तरों (Phases) के अंदर ही सीमित रह गया है।[1] मन से भी परे मानवीय शक्तियों का विकास दिखाना ही हिंदू मनोविज्ञान का क्षेत्र है। उसका क्षेत्र चेतन अचेतन से परे ऊर्ध्व या अतिचेतन का परम क्षेत्र है जो सत्य में, मानव-नामधारी प्राणी के भावी विकास का दिशाओं की ओर संकेत करता है। इस दृष्टि से, हिंदी मनोविज्ञान को आध्यात्मिक मनोविज्ञान (Spiritual Psychology) भी कहा जा सकता है। हमारी समस्त विचारधारा का अंतिम लक्ष्य आत्मिक जगत् का साक्षात्कार कराना है और आध्यात्मिक-मनोविज्ञान मानव को इसी आत्मिक ज्योति के निकट ले जाता है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि हिंदू मनोविज्ञान मन की क्रियायों इच्छाओं, चेतन अचेतन आदि को अमान्य मानता है। उसका तो केवल यह मंतव्य है कि मन की केवल ये ही क्रियायें नहीं हैं, पर मन से भी कुछ ऐसी उच्च क्रियात्मक शक्तियाँ

---

1 हिंदू साइकोलाजी द्वारा, स्वामी अखिलानन्द, पृष्ठ १५ लंदन १९४७।

या तत्व है जिनके द्वारा मानव की मानवीयता मुखर होती है। वदिक-दशन स लकर अरविंद-दशन तक इसी मानवीय 'सत्य' का स्वस्थ रूप प्राप्त होता है।

भारतीय मनोविज्ञान का प्रारम्भ 'मनोनिग्रह" की स्थिति से माना जाता है जब मन अपनी चचल प्रवत्तियो का निरोध अथवा उन्नयन करता है। पाश्चात्य मनोविज्ञान म इसे ही 'सब्लिमेशन" कहा जाता है जिसके द्वारा मानसिक हीन-वत्तियो का उन्नयन सभव होता है। ये वृत्तियाँ अचेतन मन मे दमित वासनाओं के रूप म अनेक माध्यमो के द्वारा बाह्य अभिव्यक्ति को प्राप्त होती हैं। इन अभिव्यक्तियों मे स्वप्न तथा यौन प्रतीको का मुख्य स्थान माना गया है जिस पर हम आगे विचार करेंगे।

भारतीय मनोविज्ञान म चेतना के स्वरूप का स्पष्टीकरण केवल अचेतन मन में दमित इच्छाओ और वासनाओ तक ही सीमित नहीं है। यहा पर चेतना के विभिन्न स्तरों का जो विश्लेषण प्राप्त होता है, वह "मनोनिग्रह" की ओर सकेत करता है। इसी दशा से, मानव अपने भावी आध्यात्मिक अभियान मे अग्रसर होता है। यह एक प्रकार से लय योग' भी कहा जा सकता है। इसम काम्य पदार्थो एव भोगो का निरोध आवश्यक है। माण्डूक्योपनिषद् मे मनोनिग्रह के बारे म कहा गया है —

उपायेननिगृह्णीया द्विक्षिप्त कामभोगयो।
सुप्रसन्न लये चव यथा कामो लयस्तथा॥[1]

अर्थात् काम्यविषय और भोगों मे विक्षिप्त हुए चित्त का उपायपूवक निग्रह करें तथा लयावस्था में अत्यन्त प्रसन्नता को प्राप्त हुए चित्त का भी सयम करें, क्योंकि जसा (अनयकारक) काम है वसा लय भी।

पाश्चात्य मनोविज्ञान की तरह यहाँ पर मन की क्रियाओ को दमित वत्तियों का रगस्थल नहीं माना गया है। वह तो मन की चेतना का एक अशमात्र है। मन की चेतना का क्रमिक रूप तो उस समय प्राप्त होता है जब मानवीय चेतना निम्न स्तरों को पार कर उच्च स्तरो की ओर उन्मुख होती है। इस उन्मुखता में भारतीय योग की मनोनिग्रह स्थिति परमावश्यक है।

---

१ उपनिषद् भाष्य, खड २ प० १८०, श्लोक ४२, अद्वैत प्रकरण।

चेतना का स्वरूप तथा प्रतीक सृजन

प्रतीक सृजन की दृष्टि से आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार, मन के दो स्तर हैं–चेतन और अचेतन। इन्हीं के आधार पर दो प्रकार के प्रतीकों का विभाजन किया जाता है यथा चेतन और अचेतन प्रतीक। इसके अनुसार, अचेतन मन से उद्भूत प्रतीकों में प्रयास का उतना हाथ नहीं रहता है जितना चेतन क्षेत्र के प्रतीकों में। इसके अतिरिक्त उपचेतन (Sub conscious) की मान्यता आधुनिक मनोविज्ञान में है जिसकी स्थिति चेतन तथा अचेतन के मध्य में मानी गई है। इसकी सापेक्षता में भारतीय मनोविज्ञान में चेतना का अधिक व्यापक विश्लेषण प्राप्त होता है जो प्रतीक सृजन की क्रमिक भावभूमि को भी स्पष्ट करता है। यहां चेतना के चार स्तरों की व्याख्या प्राप्त होती है—सुषुप्ति स्वप्न जागृत और तुरीय अवस्था। सत्य में, ये चार अवस्थायें मानसिक चेतना के उत्तरोत्तर विकासशील सोपान है। विवेचन की सुविधानुसार मैं इन चार अवस्थाओं को आधुनिक मनोविज्ञान को भी ध्यान में रखकर विवेचन करूँगा। इस दृष्टि से अचेतन तथा उपचेतन के अन्तर्गत सुषुप्ति तथा स्वप्न की अवस्थाओं का और चेतनावस्था के अन्दर जागृत तथा तुरीय अवस्थाओं का, प्रतीक की दृष्टि से विवेचन अपेक्षित है।

१ अचेतन प्रतीक स्वप्न, सुषुप्ति यौन प्रतीक :

बर्ट्रेण्ड रसेल ने अचेतन मन की क्रियाओं को केवल एक प्रवृत्ति ही माना है जिसकी सम्यक् व्याख्या भौतिक शास्त्र में वर्णित शक्ति से हो सकती है।[१] सत्य में, अचेतन की धारणा में एक प्रकार से सुषुप्ति की अवस्था ही प्राप्त होती है क्योंकि अचेतन के महासागर में दमित वासनाएं, इच्छाएं तथा संवेदनाएँ सुप्तप्राय अवस्था में निश्चेष्ट पड़ी रहती हैं। ये वासनाएँ अनुकूल समय आने पर अपनी अभिव्यक्ति प्रायः स्वप्न तथा यौन (Sexual) प्रतीकों के द्वारा करती हैं। इनके द्वारा अद्भुत विचारों की शृंखलाबद्ध रचना होती है जिनका स्वरूप हम साहित्य कला धर्म आदि मानवीय क्रियाओं में प्राप्त होता है। इसी तथ्य के प्रकाश में फ्रायड यूंग तथा एडलर आदि मनोवैज्ञानिकों ने कला धर्म, साहित्य आदि को अद्भुत प्रतीकवाद' के अन्दर रखा है। फ्रायड ने तो यहाँ तक कह डाला कि पुराण प्रवत्ति इच्छा परितृप्ति का शेष चिन्ह है और साथ ही आदिमानव की अतार्किक स्वप्न प्रवृत्ति।[२] जहाँ तक पौरा

---

१ द एनालिसिस आव माइंड द्वारा बर्ट्रेण्ड रसल, पृ० २८।

२ द हाउस दट फ्रायड बिल्ट द्वारा जोसफ जेसट्रॉव पृ० ३८ (लदन १९२४)।

रिक प्रवृत्ति का प्रश्न है उसके विकास में अद्भुत तथा अतार्किक तत्वों का समावेश तो अवश्य प्राप्त होता है, पर उनमें प्रयुक्त प्रतीकों का अर्थ यह भी ध्वनित करता है कि उनकी पृष्ठभूमि में कोई न कोई गूढ़ अर्थ अथवा धारणा का रूप प्राप्त होता है। सत्य तो यह है कि समस्त मानवीय क्रियाओं में अचेतन प्रतीकों के साथ साथ चेतन मन की क्रियाओं का भी सम्मिश्रण प्राप्त होता है। एक को दूसरे से सर्वथा अलग करके नहीं देखा जा सकता है।

स्वप्न प्रतीक

मनोविज्ञान में मन की अनेक क्रियाओं को 'विभूति' की संज्ञा दी गई है और मन इन्हीं विभूतियों को अनेक प्रकार से प्रकट करता है। स्वप्न में सुषुप्ति के समय दमित वासनाओं का प्रत्यीकरण, अनेक प्रतीकों के द्वारा होता है। इसी से यह माना जाता है कि स्वप्न प्रतीकों के समुचित विश्लेषण से आन्तरिक इच्छाओं की प्रकृति को जाना जा सकता है। स्वप्न-ज्ञान का हेतु विगत संस्कार भी माना गया है और 'देव मन स्वप्नावस्था के समय अपनी महिमा का ही अनुभव करता है।'[1] भारतीय मत की दृष्टि से 'मन भी एक इन्द्रिय है जो अन्य इन्द्रियों से उत्कृष्ट है—सभी इन्द्रियाँ उसी में एकीभूत होती हैं। यही कारण है कि स्वप्न प्रतीकों को समझना दुर्लभ हो जाता है। और उनके पीछे कौनसी स्फूर्ति काम करती है इसे भी कहना अत्यन्त कठिन है। इसका प्रमुख कारण इन प्रतीकों की असम्बद्धता ही कही जाती है। युंग ने इन प्रतीकों का कारणत्व (Causal) भी माना है और उसके अनुसार स्वप्न प्रतीकों में एक तारतम्यता प्राप्त होती है।[2] स्वप्न बिम्बों तथा प्रतीकों का विश्लेषण करने पर यह तथ्य प्रकट होता है कि इन बिम्बों में तारतम्यता नहीं होती है और उनके क्रम में विचारात्मक प्रवृत्ति के दर्शन अत्यन्त अस्पष्ट रहते हैं। फ्रायड ने एक स्थान पर कहा है—'स्वप्न में हमारे विचार अनच्छिक होते हैं और इसी से ऐच्छिक विचार जो चेतन मन की क्रिया है (ये मेरे शब्द हैं) अपनी अभिव्यक्ति नहीं कर पाते हैं।[3] इस दृष्टि से स्वप्न प्रतीकों का सत्य में प्रतीक ही नहीं कहा जा सकता है जिस प्रकार चेतन क्षेत्र के प्रतीकों को कहा जाता है (*यथा भाषा विज्ञान दर्शनादि के प्रतीक*)। स्वप्न प्रतीक अचेतन काम इच्छा के पूरक माने जाते हैं। काम इच्छा का एक व्यापक

---

१ उपनिषद् भाष्य खंड २ पृ० ३६ मांडूक्योपनिषद् (गीताप्रेस)

२ साइकोलाजी आव द अनकान्सस द्वारा युग प० ७–८

३ ए क्रिटिकल इग्जामिनेशन आफ साइकोएनालिसिस द्वारा बोऊलबुय, पृ० ६६।

स्वरूप मानव जीवन में प्राप्त होता है। यहाँ तक कि 'ब्रह्म' को भी काम शक्ति से युक्त कहा गया है। अतः काम इच्छा वह प्रबल माध्यम है जो अंशतः स्वप्न प्रतीकों का सृजन अवश्य करती है। इसी से माण्डूक्योपनिषद् का यह कथन है कि स्वप्न पदार्थों का असत् रूप जो चित्त के अन्दर कल्पित होता है और साथ ही चित्त से बाहर इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किया हुआ पदार्थ 'सत्' जान पड़ता है—ये दोनों ही रूप मिथ्या ही कहे गये हैं'।[1] परन्तु उपनिषद् साहित्य यहीं पर नहीं रुकता है, वह इन मिथ्या पदार्थों को कल्पित करनेवाले "आत्मा" के प्रति कहता है।

विकारोत्यपरा भावानन्तश्चित्ते व्यवस्थितान् ।
नियतांश्च बहिश्चित्त एवं कल्पयते प्रभु ॥[2]

अर्थात् 'प्रभु आत्मा अपने अन्तःकरण में (वासनारूप) स्थित लौकिक भावों का नाना रूप करता है तथा बहिश्चित्त होकर पृथ्वी आदि नियत और अनियत पदार्थों को इसी प्रकार कल्पना करता है।" इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जाग्रत एवं स्वप्नावस्था में पदार्थ का मिथ्यात्व एक प्रकार का अज्ञान है। इस माया का विस्तार भी इसी मिथ्या के कारण होता है। स्वप्न प्रतीकों में आत्मा के इसी माया परक विस्तार का स्वरूप प्राप्त होता है। स्वप्न प्रतीकों के सृजन में अचेतन-स्मृतियों जो संस्कारजनित होती हैं उनका अभिव्यक्तीकरण अनेक स्वप्न प्रतीकों के द्वारा होता है। इन प्रतीकों का मिथ्यात्व गीता में भी मान्य है। वहाँ कहा गया है कि जो व्यक्ति स्वप्न के प्रति (भय, शोकादि भी) आसक्ति रखता है, वह तामसिक 'धृति" के अन्दर माना जाता है।[3]

यौन या काम प्रतीक

पाश्चात्य मनोविज्ञान में काम को एक क्रियात्मक शक्ति के रूप में देखा गया है। काम का स्थान मानवीय क्रियाओं में अग्रगण्य है। यौन वृत्तियों की अभिव्यक्ति स्वप्न में अनेक प्रतीकों के द्वारा होती है जैसे सांड, सर्प, छड़ी लिंगादि। युग ने एक स्थान पर कहा है कि अचेतन मन में जो प्रेम सम्बन्धी स्मृतियाँ क्रियाशील होती हैं वे अपनी अभिव्यक्ति इन्हीं काम प्रतीकों के द्वारा करती हैं। इस प्रकार एक

---

१ माण्डूक्योपनिषद् वैतथ्य प्रकरण श्लोक ६, पृ० ६१ (उपनिषद् भाष्य खंड २)।

२ वही पृ० ६४ श्लोक १३ तथा प्रश्नोपनिषद् प्रश्न ४ श्लोक ५ में।

३ श्रीमद्भगवद् गीता मोक्ष-योग पृ० ३७४ श्लोक ३५

व्यक्ति स्वय अपने से ही लुका छिप कर खेल खेलता है।[१] इस कामरति को युग ने 'लिबीडो' की सज्ञा दी है। प्राचीन धर्मों के अनेक देवता 'लिबीडो' के विभिन्न रूपातर हैं जिनका पर्यवसान किसी न किसी देवता या शक्ति" के रूप मे होता है। अवेस्ता वेद तथा उपनिषद् मे यह प्रवृत्ति यत्र तत्र प्राप्त होती है। उपनिषदो मे प्रजापति और ब्रह्म का मिथुन रूप तथा करीब करीब सभी देवताओं के साथ देवियो की कल्पना का सारा रहस्य यह मिथुन तत्व हैं जो काम के रूप को एक धारणा म सगुम्फित कर आदर्श की कोटि तक पहुचा देता है। अन्य धर्मो म प्राप्त देवता जसे एटम (Atum) एमन होरस का एकीकरण एक ही देवता सूय म माना गया है। इस कामरूप का अभिव्यक्तीकरण नायक या 'हीरो' म, तान्त्रिक अनुष्ठानों म, मातृ रजनीशो म, ओडीपस ग्रथि आदि म मान्य है जहाँ पर 'लिबीडो' का स्थानातरण (Transference) अनेक दिशाओ मे प्राप्त होता है। अत कामवासना का क्रियात्मक रूप सृजनात्मक ही अधिक होता है। सृष्टि क्रम से लेकर मनुष्य तक इस काम रति का मिथुन रूप एक सत्य है जिसे हम केवल मात्र वासना कहकर हेय की दृष्टि से नही देख सकते हैं। परन्तु इसका यह भी अर्थ नही है कि समस्त मानवीय क्रियाओ म कवल 'काम" प्रेरणा तथा स्फूर्ति तत्व है। काम के अतिरिक्त भय, इच्छा आतरिक प्रेरणा का भी मानवीय क्रियाओ म एक विशिष्ट स्थान है।[२] स्वय मनोवैज्ञानिको म एडलर ने भी यह अमान्य माना है कि केवलमात्र काम' शक्ति ही समस्त मानवीय क्रियाओ का मूल है। यही बात ओडीपस ग्रन्थि' (Oedipus Complex) के बारे मे भी कही जा सकती है। युग तथा फ्रायड ने इस ग्रथि को तीन सम्बन्धों म कार्यान्वित देखा है—पुत्र का माता के प्रति, पुत्री का पिता के प्रति और भाई बहन का अन्यान्य के प्रति गुप्त काम प्रवृत्तियाँ। इन सभी सबधो का रगस्थल नाटक पुराण साहित्य आदि क्षेत्र हैं जिनम इन सभी सबधो का द्वद्व किसी विशिष्ट परिस्थिति एव पात्रों केकार्यकलापों के द्वारा प्रकट होता है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो इन सभी सम्बन्धो में पवित्रता' की ही भावना अधिक है और यहाँ जो प्रेम अथवा श्रद्धा का स्वरूप है वह काम का वासनापूर्ण सम्बन्ध नही है दूसरी ओर यह ग्रथि मानवीय क्रियाओ का एक सीमित रूप ही सामने रखती है। क्या सभी मानवीय क्रियायें इतनी सीमित हैं कि वे केवल यौन वृत्ति को ही केन्द्र मानकर अपना विस्तार करें? मानवीय क्रियाओ के पीछे इच्छा-शक्ति स्फूर्ति, अनुभूति और आध्यात्मिक ज्ञान का

---

१ साइकलोजी आव द अनकान्सस युग पृ० ३५।
२ हिंदू साइकलोजी स्वामी अखिलानन्द पृ० ७०।

एक सबल योग रहता है जो सत्य में चेतना के उच्च स्तरों के द्योतक हैं। फ्रायड का यह मत कला के 'प्रतिमूल्यन' (Valuation) में कोई योग नहीं देता है और इसी से कला के प्रतीकों को केवल ओडीपस ग्रंथि के प्रकाश में मूल्यांकन करना, कला प्रतीकों के सत्य स्वरूप के प्रति एकांगी दृष्टिकोण होगा।

काम अथवा स्वप्न प्रतीकों के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि फ्रायड की विवेचना पद्धति में प्रतीकों का द्वितीय स्थान है। फ्रायड के लिये प्रतीक किसी मानसिक जटिलता अथवा दमित इच्छा का गुप्त अभिव्यक्तीकरण है। फ्रायड के इस सीमित दृष्टिकोण का युग ने संशोधन किया। युग के लिये प्रतीक मानसिक क्रियाओं का गुणक है जिसकी महत्ता उसके भाव विश्लेषणात्मक स्वरूप पर आश्रित है।[1] हिंदू मनोविज्ञान में अचेतन का विवेचन विगत संस्कारों तथा भावनाओं के समष्टि रूप का परिचायक है जबकि पाश्चात्य मनोविज्ञान में अचेतन को वह आधारशिला माना गया है जो चेतन मन का निर्माण करता है। अतः भारतीय मनोविज्ञान में अचेतन मन ही सब कुछ नहीं है चेतना का विकास यहीं पर रुक नहीं जाता है। शंकराचार्य ने स्वप्न को संसार के हेतुभूत अविद्या कामना और संस्कार से संयुक्त माना है। इस अचेतनावस्था में जीव अपने स्वरूप को प्राप्त नहीं होता। अपने स्वरूप की प्राप्ति वह उस समय करता है जब वह सुषुप्ति की अवस्था में पहुँचता है।[2] छान्दोग्योपनिषद् में सुषुप्ति को "स्वप्नांत" कहा गया है। इस स्वप्नांत दशा में जीव दानवनि को छोड़कर अपने स्वरूप को प्राप्त होता है।[3] अतः स्वप्न प्रतीकों का महत्व उसी सीमा तक माना जा सकता है जिस सीमा तक उनके द्वारा जीव अपने निजी स्वरूप का सुषुप्ति के समय साक्षात्कार कर सके। यह साक्षात्कार मन की उस दशा का द्योतक है जब समस्त इन्द्रियाँ प्राण से गृहीत हो जाती हैं। एक प्राण ही अप्रभावित रहता है जो कि देह रूप घर में जागता रहता है। चक्षु श्रोत्र वाक् मन और प्राण—ये पाँच इन्द्रियाँ ही जीव को बाह्य ज्ञान देती हैं। प्राण की उपासना का सत्य स्वरूप उसी समय प्राप्त होता है जब व्यक्ति इन्द्रियों की एकसूत्रता प्राण में कर सके। इन्द्रियों के उपासक 'असुर' और प्राण के उपासक देव कहे जाते हैं—इसी से परस्पर सघर्ष का प्रतीकात्मक रूप देवासुर संग्राम है। उपनिषदों में प्राण को सवरूप सत्य देवता और यहाँ तक कि प्रजापति भी कहा गया है।

1 द हाउस दट फ्रायड बिल्ट द्वारा जसट्राव पृ० ६८।
2 उपनिषद् भाष्य खंड ३ पृ० ६४२ ६४३ (गीता प्रेस गोरखपुर)।
3 छान्दोग्योपनिषद् षष्ठ अध्याय अष्टम खंड पृ० ६४१ श्लोक १ (उप० भा० खंड ३)

चेतक प्रतीक—प्राण की धारणा चेतना के ऊर्ध्वगामी विकास का प्रथम चरण या रूप है। मानव की सृजनात्मक क्रिया का विकास इसी चेतना के विकास पर निर्भर है। समस्त मानवीय क्रियाओं में—चाहे वह कला हो या दर्शन—एक सचेतन प्रतीकीकरण की प्रवृत्ति प्राप्त होती है। इसी कारण से हीगल ने चेतन प्रतीकीकरण की क्रिया के अन्तर्गत निरपेक्ष-सापेक्ष ईश्वर मृत्यु धर्म दन्तकथायें मुहावरे रूपक उपमा, बिम्ब आदि को स्थान दिया है। इसी के अन्दर भाषा के प्रतीकों तथा लिपियों को भी ले सकते हैं। यहाँ पर यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि शब्दों की ध्वनियों में अचेतन मन का भी योग रहता है। अनेक मानसिक क्रियायें यथा कल्पना, भावना विचार तथा धारणा आदि का क्षेत्र चेतन मन ही माना जा सकता है। अतः चेतन प्रतीक-व्यापार का क्षेत्र जाग्रत चेतना का विस्तार है। इसी चेतन प्रयत्नशीलता से 'इच्छा शक्ति' का भी विकास होता है। जब तक मनुष्य में इच्छा-शक्ति का आविर्भाव नहीं होता है तब तक वह अचेतन मन के क्षेत्र से चेतना के तमोप्रधान भागों का अनुभव नहीं कर सकता है। यही कारण है कि मानसिक चेतना का ऊर्ध्वविकास जाग्रतावस्था से प्रारम्भ होकर तुरीयावस्था तक माना गया है। हिंदू आध्यात्मिक मनोविज्ञान का लक्ष्य मन को इसी 'तुरीयावस्था' तक ले जाना है जो अरविन्द के अतिचेतन क्षेत्र का पर्याय माना जा सकता है। अन्तर्दृष्टि अथवा अनुभूति का विकास इसी क्षेत्र में आकर होता है जब मानव मन बुद्धि तथा प्राण से ऊपर उठकर आत्मा के अनुभूतिपरक क्षेत्र में पदार्पण करती है। कलाकार दार्शनिक चिंतक एवं वैज्ञानिक का क्षेत्र यही अनुभूतिपरक ज्ञानात्मक क्षेत्र माना जाता है। जहाँ तक कलाकार का सम्बन्ध है वह प्रकृति पदार्थों और सांसारिक वस्तुओं के द्वारा अनुभूतिपरक आत्मक्षेत्र का ही उद्घाटन करता है। यहीं पर प्रतीक-दर्शन का भी संकेत मिलता है। प्रतीक का क्षेत्र भी आत्मिक अनुभूति का क्षेत्र है। प्रतीक की रूपात्मक अभिव्यंजना का प्राण भाव अनुभूति तथा ज्ञान की समन्वित आधारशिला है। इसी से हिंदू मनोविज्ञान में आत्मा से ही समस्त चेतन अचेतन, इन्द्रियों भूतों तथा प्राणों का विकास माना गया है। बृहद्-उपनिषद् में कहा गया है— जिस प्रकार वह मकड़ा तंतुओं पर ऊपर की ओर जाता है तथा जैसे अग्नि से अनेक क्षुद्र चिनगारियां उठती हैं उसी प्रकार इस आत्मा से समस्त प्राण समस्त लोक, देवगण और भूत विविध रूप से उत्पन्न होते हैं। 'सत्य का सत्य' यह उस आत्मा की उपनिषद् है। प्राण ही सत्य है। उन्हीं का यह सत्य है।[1] अतः आत्माभिव्यंजना में प्रतीक का वही स्थान है जो कल्पना में

---

१ बृहदारण्यक उपनिषद् अध्याय २ ब्राह्मण १ पृ० ४५७ (उप० भाष्य खंड ४)।

भाव का माना जाता है। इसी आत्माभिव्यजना में समस्त भूतों देवों तथा लोकों का एकात्म भाव होता है जिसके बिना कोई भी कलाकार 'सत्य' का चित्रण नहीं कर सकता है। इसी तथ्य को शंकराचार्य ने इस प्रकार व्यक्त किया है– तुरीयावस्था को अपनी आत्मा जान लेने पर अविद्या एवं तृष्णादि दोषों की सम्भावना नहीं रहती है, और तुरीय को अपने प्रत्यक्ष स्वरूप से न जानने का कोई कारण भी नहीं है क्योंकि तत्त्वमसि अयमात्मा ब्रह्म तत्सत्य स आत्मा' आदि समस्त उपनिषद् वाक्यो का पर्यवसान इसी अर्थ में हुआ है।[1] इसी तुरीयावस्था में आत्मा का अद्वैत एवं अधिकारी रूप दृष्टिगत होता है।[2] सन्त तथा भक्तो का आत्मलोक इसी भाव का प्रत्यक्षीकरण करना है। जब कवि की रहस्य भावना, प्रकृति और विश्व के अन्तराल में किसी शक्ति का आभास प्राप्त करती है उसी समय वह आत्मानुभूति को ही व्यक्त करती है। इस आत्माभिव्यंजना में इच्छा शक्ति का विशेष हाथ रहता है। बिना इच्छा शक्ति के हम अपने विचारों भावनाओं अथवा धारणाओं को गतियुक्त रूप नहीं दे सकते हैं।[3] यही कारण है कि रहस्यवाद अथवा अतिचेतन दशा में इच्छा शक्ति और आत्म शक्ति का एक समन्वित रूप प्राप्त होता है। इसी आध्यात्मिक सत्य का रहस्य प्रतीकों में सुन्दर विकास प्राप्त होता है जैसा कि हमें सतो की वाणियों में प्राप्त होता है। इस आध्यात्मिक विश्वास का स्वरूप अत्यन्त जटिल होता है। हमारे अनेक विश्वासों की आधारशिला अनुभूति पर आश्रित होती है। प्रतीकात्मक दृष्टि में सर्जनात्मक शक्तियों का विस्फुरण अनुभूति, इच्छाशक्ति और विश्वास की मिश्रित क्रियाओं से होता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि मन की उच्चतम क्रियाओं में अनुभूति ही वह अभिन्न अंग है जिसके द्वारा सत्य का साक्षात्कार होता है।[4] मानव के सम्पूर्ण जीवन की आधारशिला इसी अनुभूति पर आश्रित है जो आत्मा का धर्म है। अतः आध्यात्मिक मनोविज्ञान के अन्तर्गत "इन्द्रिय" से महान् पदार्थ है मन इन्द्रियों से उच्च है बुद्धि मन से महान् है और जो बुद्धि से भी उच्च है वह आत्मा है।[5] अस्तु हिन्दू मनोविज्ञान में आत्मा की धारणा का सबसे ऊँचा स्थान है और अनुभूति (जो आत्मा का धर्म) का उच्च मानवीय क्रियाओं में एक अभिन्न स्थान है।

---

१ उपनिषद् भाष्य खंड २ पृ० ४१–४२ (माण्डूक्योपनिषद्)।

२ माण्डूक्योपनिषद् आगम प्रकरण, पृ० ४६ (उप० भाष्य खंड २)।

३ हिंदू साइकलोजी स्वामी अखिलानंद पृ० ७८।

४ द लाइफ डिवाइन भाग २ श्री अरविन्द पृ० ७१९

५ गीता, कर्मयोग पृ० १३२ श्लोक ४२।

उपनिषद्-साहित्य में प्रतीक-दर्शन | ५

शब्द और प्रतीक

उपनिषद् साहित्य ज्ञान की एक अमूल्य निधि है जिसमें धार्मिक तथा साहित्यिक ज्ञान अपनी पराकाष्ठा में प्राप्त होते हैं। ज्ञान का प्रगमन शब्द और प्रतीकों के नित नूतन सृजन में प्राप्त होता है। हम जिन भी शब्दों का उच्चारण करते हैं या उसे लिपि रूप में विचारों के विनिमय का माध्यम बनाते हैं, वे शब्द ही प्रतीक हो जाते हैं। यही कारण है कि कोई भी शब्द, किसी विचार या धारणा का प्रतिरूप होने से प्रतीक का कार्य करने लगता है। सम्पूर्ण चराचर विश्व के सम्बन्ध, शब्द प्रतीकों के द्वारा एक दूसरे से अनुस्यूत है। दूसरे शब्दों में यह ब्रह्म की सम्पूर्ण प्रकृति, वाणी अथवा भाषा के शब्द-प्रतीकों के द्वारा एक सम्बन्ध की तारतम्यता में व्याप्त है। इसी भाव को शंकराचार्य ने उपनिषद् भाष्य में इस प्रकार रखा है।—

तदस्येद वाचा तन्त्या नामभिर्दामभि सर्व सितम् ।[1]

उस ब्रह्म का यह सम्पूर्ण जगत वाणी रूप सूत्र द्वारा नाममयी डोरों से व्याप्त है।' यह नामकरण की प्रवृत्ति वस्तु का अनुभवमूलक रूप सामने रखती है तो वहीं वह मानवीय चेतना के आवश्यक कार्य प्रतीकीकरण की ओर भी संकेत करती है। अतः यह सारा का सारा ब्रह्माड नाममय ही है नाम (प्रतीक) के द्वारा ही ज्ञान का स्वरूप मुखर होता है। यही कारण है कि वाक या वाणी को द्यौ

---

१ उपनिषद् भाष्य खंड २, पृ० २४ माण्डूक्योपनिषद् गीता प्रेस गोरखपुर (सं० २०१३)

ग्योपनिषद् मे तेजोमयी'[1] कहा गया है उसे 'विराट" की सना भी दी गई है।[2] तात्त्विक दृष्टि से क्षर ब्रह्म के मूल मे इसी शब्द प्रक्रिया का रहस्य छिपा हुआ है। इसी स. भारतीय मनीषा ने शब्द को ब्रह्म का रूप या पर्याय माना है। हम शब्द प्रतीकों के द्वारा ब्रह्म के इस नाम रूपात्मक विश्व को ज्ञान की परिधि मे बाँधते हैं। फलत ईश्वर आत्मा त्रिमूर्ति, समय, आकाश (दिक) गुरुत्वाकर्षण शक्ति परमाणु और अनक धार्मिक प्रतीक यथा ब्रह्मा ज्यूपीटर शिव देवीदेवतादि–ये सब शब्द रूप प्रतीक ही हैं जिनमें किसी धारणा या विचार (भाव भी) की अभिव्यक्ति प्राप्त होती है।

बिम्ब और प्रतीक

उपनिषद् साहित्य म मन की क्रियाओ का सकेत यत्र तत्र प्राप्त होता है। मन की आदितम क्रिया का वाह्य प्रभावो को मानसिक बिम्ब (Image) के रूप में परिणत करना है। यह बिम्ब ग्रहण ही प्रतीक सृजन की प्रथम आवश्यक दशा है। इस दृष्टि से बिम्बग्रहण केवल बोधगम्य (Perceptive) ही होते है। दूसरी ओर प्रतीकात्मक क्रिया एक अधिक जटिल मानसिक क्रिया है जिसमे बोध बिम्ब एव मानसिक विचारणा का समन्वित रूप रहता है।[3] मन की इस बिम्बग्रहण की प्रवत्ति को केनोपनिषद् मे इस प्रकार कहा गया है— ॐ केनेषित पतति प्रेषितमन[4] अर्थात यह मन जिसके द्वारा इच्छित एव प्रेरित होकर अपने विषयो म गिरता है आगे चल कर भाष्यकार शकर ने स्पष्ट ही कहा कि मन स्वतन्त्र है और वह स्वय ही अपन विषयो की ओर जाता है जो उसकी प्रवृत्ति ही है।

अनुष्ठानिक तथा पौराणिक प्रवत्ति

पृष्ठभूमि के प्रकाश से अनुष्ठानिक तथा पौराणिक प्रतीक दशन का विवचन किया जा सकता हैं। अनुष्ठानिक चेतना मे मन का केवल बिम्बग्रहण ही प्रमुख है, जबकि पौराणिक चेतना म मन का मनन करनेवाला रूप अधिक स्पष्ट है।

---

१ छांदोग्योपनिषद् पृ० ६२६ श्लोक ४ में कहा गया है 'आपोमय प्राणस्तेजोमयी वागति' (उपनिषद् भाष्य खड ३)

२ वही पृ० १४५, श्लोक २ 'यग्विराट' (उप० भा० खड ३)

३ इक्सपीरियस एड बिलिफ द्वारा एच०एच० प्राइस पृ० २८६ (लदन १९५३)

४ केनोपनिषद् उक० भा० खड १ पृ० ११ तथा २३ (स० २०१४)

विचारण और विचारात्मक क्रिया (मनन) इतनी अन्योन्य सम्बद्ध हैं कि उन्हें अलग करके देखा नहीं जा सकता है। परन्तु इतना कहना समीचीन होगा कि पौराणिक प्रवृत्ति में किसी वस्तु अथवा विचार के प्रकाशन में जो भी कथा का आश्रय लिया जाता है उसमें उस वस्तु का बिम्बग्रहण तो अवश्य होता है पर मानसिक प्रक्रिया यहीं पर नहीं रुकती हैं वह उस बिम्बग्रहण में किसी भाव या विचार (अर्थ) का स्पष्टीकरण करती है। धरातल से सूक्ष्म की ओर मन की यह क्रमिक रूपरेखा प्रतीकात्मक अर्थ की अवतारणा करती है जो कि पौराणिक कथाओं का मूल ध्येय है। कठोपनिषद् में इन्हीं से इंद्रियों की अपेक्षा उनके विषयों को श्रेष्ठ कहा गया है विषयों से मन को उत्कृष्ट कहा गया है मन से बुद्धि को 'पर' कहा गया है और अन्त में बुद्धि से महान् आत्मा को कहा गया है।[३] पुराण प्रवृत्ति में मन की प्रक्रिया क्रमशः मन से बुद्धि की ओर प्रयत्नशील है जिसका पूर्ण अनुभूतिमय पर्यवसान आत्मक्षेत्र में उसी समय होता है जब मन का विकास धार्मिक चेतना के सूक्ष्म स्तर को स्पर्श करता है। अतः भारतीय मनीषियों ने मन के केवल ऊपरी सतह का ही विश्लेषण नहीं किया है उनका मनोविज्ञान, पाश्चात्य मनोविज्ञान के कहीं अधिक सूक्ष्म है जहाँ मन से भी सूक्ष्म तत्वों का विश्लेषण प्राप्त होता है।[४] इसे हम आध्यात्मिक मनोविज्ञान (Spiritual Psychology) कह सकते हैं जिसकी आधारशिला पर उपनिषदों का प्रतीक दर्शन आश्रित है।

वैदिक काल के ऋषियों ने जिन अनुष्ठानों का आयोजन किया था वे मूलतः किसी भावना या अव्यक्त सत्य से ही संबंधित थे। वैदिक ऋषियों ने अनुष्ठानों के द्वारा जन जीवन में इस सत्य का प्रतिपादन किया कि इनके द्वारा मानव मन अधिक उच्च अभियानों का स्पर्श कर सकेगा और उन देवताओं (प्रकृति शक्तियों) को प्रसन्न कर सकेगा जिनके संतुलन एवं सामरस्य से सृष्टिकार्य सम्पन्न होता है। इन अनुष्ठानों के सही प्रतीकार्थ को ही हृदयंगम करके उन्हें हम जीवन में समुचित स्थान दे सकते हैं। यज्ञ यज्ञोपवीत संस्कार एवं अनेक आचारों का सांस्कृतिक महत्व उनके प्रतीकार्थ में ही निहित है। उदाहरणस्वरूप उपनिषदों में यज्ञ का प्रतीकार्थ एक विस्तृत भावभूमि को स्पर्श करता है। वैदिक कर्मकाण्डों में यज्ञ का महत्व अग्नि प्रतीक के विकास की चरम परिणति है इसके साथ यज्ञ का जन जीवन और विश्व से

---

३ इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥१०॥
कठोपनिषद् पृ० ६१ (उप० भा० खंड १)

४ हिन्दू साइकलाजी द्वारा स्वामी अखिलानन्द पृ० ७८ (लंदन १९३९)

भी सम्बन्ध है। अग्नि को कठोपनिषद् में अनन्त लोकों की प्राप्ति कराने वाला और बुद्धिरूपी गुहा में स्थित कहा गया है।[1] यहाँ पर जो अग्नि को बुद्धिरूपी गुहा में कहा गया है, वह अग्नि के सूक्ष्म रूप का संकेत है। यहीं नहीं छान्दोग्य में अग्नि को देवता की संज्ञा दी गई है जिससे ऋक् श्रुतियों का प्रादुर्भाव कहा गया है।[2] यहाँ पर अग्नि उस अकथ्य ब्रह्म की प्रतीक है जिससे वाणी का प्रातिरूप मुखर होता है। इसके अतिरिक्त अग्नि की व्याप्ति पृथ्वी द्युलोक तथा अन्तरिक्ष में कही गई है।[3] इस प्रकार अग्नि का समस्त ब्रह्माण्ड में परिव्याप्त सिद्ध किया गया है। कहीं पर वह 'शक्ति' एवं 'तेजस' के रूप में है, कहीं पर काम' के रूप में और कहीं पर 'वोध' के रूप में है। इस प्रकार अग्नि सूक्ष्म से स्थूल क्षेत्रों तक परिव्याप्त है।

यज्ञ के द्वारा इसी अग्नि-व्याप्ति का आवाहन किया जाता है। अग्नि का यह विश्वरूप और भी व्यापक हो जाता है जब उसका सम्बन्ध मेघों के प्रादुर्भाव से होता है तो उचित तापमान के प्रकाश में जल-बूँदों में परिणत हो जाता है। यह तथ्य आधुनिक विज्ञान के द्वारा भी मान्य है क्योंकि धूम्र ही वाष्प के रूप उचित तापमान पाकर मेघ का रूप धारण करता है इसी तथ्य की प्रतिध्वनि छांदोग्य में इस प्रकार होती है—

यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापगादग्ने रग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्।[4]

अर्थात् अग्नि का जो रोहित रूप है, वह तेज का रूप है, जो शुक्ल रूप है वह जल का है और जो कृष्ण है वह अन्न है। इस प्रकार अग्नि से अग्नित्व निवृत्त हो गया क्योंकि (अग्निरूप) विकार वाणी से कहने के लिये नाममात्र है केवल तीन रूप हैं—इतना ही सत्य है। अतः अग्निहोत्र के समय जो यज्ञ में अन्न, घृतादि की आहुति दी जाती है, वह इसी तेज अन्न अथवा जल की मिश्रित अभिव्यक्ति है जिससे धूम्र का वाष्पीकरण हो सके। मन्त्रोपासना तप ही है जिसमें अग्नि का तद्रूप ही मुखर होता है। मानव जीवन में इसी तप का मूल स्थान है क्योंकि इसी तप से प्रजापति को सृष्टि की इच्छा (ईक्षण) प्राप्त की।[5] इस प्रकार अग्नि अन्तरिक्ष में

---

१ कठोपनिषद् पृ० २९ (उपनिषद् भाष्य खंड १)

२ छान्दोग्योपनिषद् पृ० ४३५ (उप० भा० खंड ३)

३ वही ४८३ तथा ४९५ (उप० भा० खंड ३)

४ छांदोग्य षष्ठ अध्याय चतुर्थ खंड पृ० ६१३ श्लोक १(उप० भा० खंड ३)

५. छांदोग्योपनिषद्, चतुर्थ अध्याय सप्तदश खंड पृ० ४३४ ४३५

लेकर पुरुष और नारी में क्रमिक विकास प्राप्त करती है और यह विकास, मूलत रुप ही है। इस वैज्ञानिक सत्य की अभिव्यक्ति उपनिषदों में प्राप्त यज्ञ के प्रतीकार्थ में निहित है। यज्ञ में आहुति डालते समय जो 'भूर्भुव स्वाह' कहा जाता है, उसका रहस्य यही है कि अन्तरिक्ष, द्युलोक तथा भूलोक मे—त्रिदेव के रुप में यही अग्नि सर्वत्र व्याप्त हो और हम उस अग्नि की कृपा से भौतिक सुखों के साथ-साथ सत्य का साक्षात्कार कर सकें।[1] भारतीय अनुष्ठानों का मूल ध्येय यही है जैसा कि कहा गया है—

एष हवे यज्ञो योऽय पवत एषंह यन्निदं सर्व पुनाति। यदेषयन्निद सर्व पुनाति तस्मादेष एव यज्ञस्तस्य मनश्च वाक्च वर्तनी।[1]

अर्थात् जो चलता है, निश्चय यज्ञ ही है। यह चलता हुआ निश्चय इस सम्पूर्ण जगत को पवित्र करता है, क्योंकि यह गमन करता हुआ इस समस्त ससार को पवित्र कर देता है, इसलिये यही यज्ञ है। मन और वाक्—ये दोनों उसके मार्ग मत यज्ञ अनुष्ठान मे मन्त्रोच्चारण म प्रवृत्त वाणी और यथार्थ वस्तु के ज्ञान मे प्रवृत्त मन—ये दोनो यज्ञ के मार्ग ही हैं। बिना मन से मनन किये केवल मात्र वाणी का दुरुपयोग करने से व्यक्ति अपने तेज को खो देता है और साथ ही अनुष्ठान की महत्ता को भी हृदयगम नहीं कर पाता है।

पौराणिक कथाओं का प्रतीकार्थ

अनुष्ठानों के इस प्रतीकार्थ से सम्बन्धित पौराणिक प्रतीक-दर्शन है जो मानवीय चेतना का अधिक विकसित रुप है। भारतीय पुराण प्रवृत्ति पाश्चात्य 'मिथ' से भिन्न है। पाश्चात्य विचारकों के अनुसार पुराण प्रवृत्ति मे अद्भुत कल्पनाओं तथा परियों की कथाओं-सी अलौकिक उड़ान ही अधिक है। परन्तु भारतीय विचार धारा मे पुराण इतिहास हैं जिनमे मानव के आध्यात्मिक रहस्यों का प्रतीकात्मक निरूपण प्राप्त होता है। पौराणिक कथाओं का प्रणयन सामान्यत किसी न किसी ध्येय अथवा रहस्योद्घाटन के लिये होता है। पुराण प्रवृत्ति मे इसी से, मन का विचारात्मक पक्ष लक्षित होता है। पौराणिक कथाओं के द्वारा, अधिकतर वेदों उपनिषदों और ब्राह्मणादि के तात्त्विक सत्य की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति प्राप्त होती है जो जन-जीवन के धरातल पर अपना विकास करती है। अत पुराण कथायें किसी संस्कृति एव धर्म के मूलभूत दार्शनिक विचारों को जन साधारण में जन-गाथात्मक

---

१ वही चतुर्थ अध्याय षोडश खंड पृ० ४२८ (उप० भा०, खंड ३)

शमी के द्वारा हृदयगम कराती हैं। भारतीय एव विदेशी पुराणों म महिमा-कथायें, वीर पुरुषों की कथायें, देवासुर और मनु की गाथायें आदि केवल मात्र कपोलकल्पना की उपज ही नहीं है, इन कथाओं के पीछे विविध दार्शनिक एव तात्विक सदर्भों की प्रतीकात्मक व्यजना प्रयुक्त है। ज्ञान की धारा को बढ़ाना ही इन कथाओं का ध्येय है क्योंकि प्रतीक-दर्शन 'ज्ञान' की गरिमा को ही प्रकट करता है। प्रतीक के द्वारा हम ज्ञान के ततुओं को रूप देते हैं।

देवासुर सग्राम का जो सवाद पय त पुराणों में एकत्र रख्य है उसका प्रतीकात्मक अर्थ ही अभिप्रेत है। ये सारी कथायें कल्पना पर ही आश्रित हैं। उनका प्रतीकार्थ ही अभीष्ट है व ऐतिहासिक तथ्य नहीं हैं जैसा कि भाष्यकार शकर ने अपने वेदात भाष्य म स्पष्ट सकेत किया है—

यदि हि सवाद परमार्थ एवाभूदेकरूपा एव सवा सवशाखास्वश्राव्यत् विरुद्धानेक प्रकारेण न श्रोष्यत। श्रूयते तु तस्मान्न तद्थ सवादश्रुतीनाम्।[1]

अर्थात् यदि यह सवाद (देवासुरसग्राम) हुआ होता तो सम्पूर्ण शाखाओं म (अर्थात् सभी उपनिषदों म) एक ही सवाद सुना जाता, परस्पर विरुद्ध भिन्न भिन्न प्रकार से नहीं। परन्तु ऐसा सुना जाता है, इसलिये सवाद श्रुतियों का तात्पर्य यथाश्रुत अर्थ म नहीं है। यही बात अन्य पौराणिक उपाख्यानों के लिये सत्य है। इसी प्रकार सृष्टि गाथाओं मे जहा एक ओर विश्वविकास का क्रमिक रूप प्राप्त होता है वहीं पर परम तत्व ब्रह्म के एकत्व का विविधरूपों म सकेत प्राप्त होता है। उपनिषदों की गाथाओं के आधार पर पुराणों की सृष्टि विषयक वृहद् कथाओं का विकास सम्भव हो सका है। इन सृष्टि-उपाख्यानों का रहस्य माडूक्योपनिषद् में इस प्रकार समझाया गया है।

मृल्लोहविस्फुलिङ्गाद्यैः सृष्टा या चोदितान्यथा।
उपाय सोऽवताराय नास्ति भेदः कथञ्चन॥[2]

अर्थात् (उपनिषदों में) जो मृत्तिका लौह वह और विस्फुलिङ्गादि दृष्टान्तों द्वारा भिन्न भिन्न प्रकार से सृष्टि का निरूपण किया गया है वह (ब्रह्म की एकता म) बुद्धि के प्रवेश कराने का उपाय है वस्तुत उनमें कुछ भी भेद नहीं है। इस दृष्टि से, सृष्टि कथाओं का ध्येय उपनिषदों के अनुसार, जीव एव परमात्मा का

---

१ उपनिषद्भाष्य खड २ पृ० १४५ १४६ (मांडूक्योपनिषद्)
२ मांडूक्योपनिषद् पृ० १४४ (उ० भा० खड २)

एकत्व निश्चय करानेवाली बुद्धि का निर्माण है। जिससे कि मानव सृष्टि के रहस्य का अनुशीलन कर सके।

दूसरा तथ्य जो इन सृष्टि कथाओं में ध्वनित होता है वह है मिथुनपरक सत्य का प्रतिपादन। प्रजापति, जो उपनिषदों में अद्वय तत्व है वही अपनी ईक्षण' से विभक्त होकर सृष्टिकार्य में संलग्न होता है। यही प्रजापति पुराणों में ब्रह्मा एवं नारायण के प्रतीक हैं। यह प्राणिशास्त्र का अनादि नियम है कि सृष्टि चाहे वह किसी भी हो अकेले नहीं हो सकती उसमें 'दो' की सहकारिता आवश्यक है। अवतार तथा लीला भावनाओं में मिथुन तत्व का विशेष स्थान है। अवतार में एक' का महत्व 'दो' की धारणा में निहित है और यही कारण है कि देवताओं के साथ देवियों की परिकल्पना की गई है। इसी मिथुन रूप के तात्विक प्रतीक प्रकृति पुरुष मन वाक श्री-नारायण शिव शक्ति, ब्रह्मा सरस्वती आदि है। छांदोग्योपनिषद् ने जो अंडे से सृष्टि का क्रम वर्णन किया है[1] उसमें भी अप्रत्यक्ष रूप से, मिथुन तत्व का समावेश प्राप्त होता है पर प्रधानता एक तत्व' को अधिक है जिससे सम्पूर्ण चराचर विश्व उद्भूत हुआ है। दार्शनिक दृष्टि से सृष्टि या सर्ग कार्यकारण की भावना को आदिकारण' के अभिव्यक्तीकरण के रूप में स्पष्ट करता है। इस समस्त चराचर प्रकृति में एक ही परमज्योति का स्पंदन है। अतः सर्ग अनेकता में एकता की भावना को चरितार्थ करता है। इसी कारण पुराणों की कल्पनाप्रसूत सर्ग कथाओं में आदि तत्व ब्रह्म का व्यक्तिकरण ही अनेक प्रतीकों के द्वारा हुआ है। इसके अतिरिक्त ये सर्ग कथायें मानव मन के आध्यात्मिक आरोहण की ओर भी संकेत करती है। मानव उन्य के साथ चेतना का विकास अधिक ऊर्ध्व क्षितिजों की ओर प्रयत्नशील होता है जिसे उपनिषद्-साहित्य में जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति और तुरीय अवस्थाओं की संज्ञा दी गई है। भारतीय सृष्टि-कथाओं का महत्व इसी बात में है कि उनके द्वारा निम्नतर पदार्थों से लेकर उच्चतम विकासशील मानव नामधारी प्राणी के भावी विकास की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है।

धार्मिक प्रतीक दर्शन

पौराणिक क्षेत्र में मन की जिस विचारात्मक प्रवृत्ति का विकास शुरू हुआ था वह धार्मिक प्रतीकों के क्षेत्र में अपने उच्चतम रूप में प्राप्त होता है। उपनिषद् साहित्य में प्राप्त जिन धार्मिक प्रतीकों का संकेत प्राप्त होता है उनमें विचार तथा

---

[1] छांदोग्योपनिषद् पृ० ३४३ ३४६ (उप० भा० खंड ३)

धारणा का एक रहस्य रूप प्राप्त होता है। इसी से, रिटची का मत है कि विचारों का भाववाचक कारप्रतीकीरण है।[1] यह विचार तथा धारणा मूलत अनेक देवी देवताओं के स्वरूप-विशेषण से ज्ञात होती है। इसी तथ्य को कदाचित् ध्यान में रखकर धार्मिक देवी देवताओं के प्रति छान्दोग्य उपनिषद् का निम्न श्लोक उनके प्रतीकार्थ को चिंतन का विषय घोषित करता है—

"यस्यामृचि तामृचं यदार्षेयं तामृषिं या देवतामभिष्टोष्यन्स्यात्ता देवतामुपधावेत् ।[2]"

अर्थात् (वह साम रूप रस) जिस ऋचा में प्रतिष्ठित हो उस ऋचा का जिस ऋषि वाला हो, उस ऋषि का तथा जिस देवता की स्तुति करने वाला हो उस देवता का चिंतन करें। अतएव धार्मिक प्रतीकों का रहस्य उनके चिंतन करने में समाहित है। यह चिंतन मानव मन की वह सतत प्रक्रिया है जो धारणा के स्वरूप को व्यक्त करती है। यही कारण है कि धार्मिक प्रतीकों में दार्शनिक भावभूमि का स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है जो उन प्रतीकों के 'प्रसार' की आधारशीला है।

उपनिषद् साहित्य में अनेक प्रतीकों का संकेत प्राप्त होता है जो धार्मिक एवं दार्शनिक भावभूमियों का स्पर्श करते हैं। ऐसे विचारात्मक प्रतीकों हम दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—

(१) आदर्श अपरलोकों की धारणा

(२) प्रतः स्फिरक प्रतीक

१ आदर्श अपरलोकों की धारणा

चार लोक—जब मानवीय चेतना दृश्यमान जगत के पीछे रहस्य को जानने के लिये प्रयत्नशील हुई तब उसने अनेक ऐसे लोकों की कल्पना की जहाँ मृत्यु के बाद जीवन की भावना ने एक महत्वपूर्ण कार्य उठाया। मानव मन यह प्रश्न करने लगा कि मृत्यु के पश्चात् जीवन का क्या स्वरूप होता है? इस जिज्ञासा के फलस्वरूप सभी धर्मों में स्वर्ग की कल्पना का उदय हुआ। मृत्यु के परे की भावना इसाई प्रतीकवाद की मूल आधारशिला है।[3] हमारे यहाँ स्वर्गलोक से भी ऊपर अन्य लोकों की भावना प्राप्त होती है जो आध्यात्मिक दृष्टि से मानवीय चेतना के ऊर्ध्वगमन की

---

१ द नेचुरल हिस्टरी आफ माइंड द्वारा ए० डी० रिटची पृ० २१

२ छांदोग्योपनिषद् प्रथम अध्याय तृतीय खंड पृ० ७४ श्लोक १ (उप० भा० खंड ३)

३ इनसाइक्लोपीडिया आफ रिलिजन एंड एथिक्स वाल्यूम १२ सिंबालिज्म (न्यूयार्क १६२१)

अभियान म प्रतीत होते हैं। हमार यहाँ चार देवता प्रमुख हैं—इन्द्र शिव, विष्णु और ब्रह्मा और उनके साथ क्रमश चार लोकों—स्वग कलाश बकुण्ठ और सत्य लोक की कल्पना की गई। इन चार लोकों के आदर्शीकरण मे 'सत्यलोक' का स्थान सबस प्रमुख है। ये सभी लोक आनद के क्रमिक विकास की रूपरेखा प्रस्तुत करत हैं। वज्ञानिक दृष्टि से य लोक जो पृथ्वी से ऊपर माने गये हैं व मूलत विश्व वातावरण के स्तरपरक विभाग है। जिस प्रकार आकाश के वातावरण म निम्नतर स्तर अधिकतम भारयुक्त (अशर) माना जाता है और जसे जसे हम वातावरण में (आकाश तत्व) म ऊपर जाते हैं वसे वसे भार की मात्रा भी कम होती जाती है। इसी प्रकार इन्द्रलोक से लेकर सत्य लोक तक क्रमश स्थूल मे सूक्ष्म की ओर भार की न्यूनता प्राप्त होती है।

इन आदश-लोकों की धारणा मे धार्मिक भावना का वह रूप प्राप्त होता है जा आत्मा के आनन्दपरक स्तरों का उद्घाटन करता है। यही कारण है कि उपनिषदों मे स्वग की भावना म आनन्द' का परिवेश है। कठोपनिषद् मे स्पष्ट कहा गया है—

> स्वर्गे लोके न भय किञ्चनास्ति न तत्र त्व न जरया बिभेति।
> उभे तीर्त्वाशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वग लाके ॥[1]

अर्थात् स्वगलोक म कुछ भी भय नहीं है। वहा आप का भी वश नहीं चलता। वहाँ कोई वृद्धावस्था से भी नहीं डरता। स्वगलोक में पुरुष भूख-प्यास दोनों को पार करके शोक के ऊपर उठकर आनन्दित होता ह। अस्तु भारतीय धर्म मे जितने भी आनन्द लोक हैं उनके अ तराल म उपनिषद् का यह कथन अनुस्यूत प्राप्त होता ह।

चार लोकों म ब्रह्मलोक सर्वोच्च ह। वह सत्य का धाम ह। उपयुक्त तीन लोग (स्वग कलाश वैकुठ) उस भूमिका को प्रस्तुत करते हैं जो आत्मा' को सत्य का साक्षात्कार कराते हैं। इसी मे वृहद् उपनिषद् म सत्य की मीमासा इस प्रकार की गई ह—

> "इद सत्य सर्वेषा भूताना मध्वस्य सत्यस्य सर्वाणि भूतानि मधु ..."[2]

अर्थात् यह सत्य समस्त भूतों का मधु है और समस्त भूत इस सत्य के मधु हैं।" इस कथन मे उपयुक्त तीन लोकों (भूत रूप) का अतिम पयवसान

१ कठोपनिषद् प० २७ प्रथम अध्याय प्रथम वल्ली
२ बृहदारण्यकोपनिषद् पृ० ५६२ श्लोक १२ द्वितीय अध्याय, पचम ब्राह्मण (उप० भा० खड ४)

'सत्य लोक में होता है क्योंकि यह लोक समस्त लोकों का मधु है —सारतत्त्व है— परम ज्ञान का प्रतीक है। इसी से ब्रह्मा की पत्नी सरस्वती ज्ञान की प्रतीक है। यही वह स्थान है जहाँ मानवीय मन अपने उच्चतम गतव्य प्रतिचेतना के स्तर को स्पर्श करता है और इस प्रकार 'दिव्य-पुरुष' का प्राविर्भाव होता है।[1]

सप्तलोक की धारणा

वदिक धर्म में सप्तलोक की धारणा के प्रकाश में अन्य सप्त कल्पनाओं का रहस्य जाना जा सकता है। सप्तलोक सप्तसिंधु सप्तर्षि सप्तस्वर, सप्तपाताल सप्तदिवस सप्ताग्नि की भावनायें मूलत मानव मन के आध्यात्मिक स्वरूप के प्रतिरूप है।

सप्त की धारणा का रहस्य प्राण विज्ञान है क्योंकि भारतीय चिंतन में प्राण को आत्मरूप ब्रह्म की कोटि तक पहुँचा दिया गया है। समस्त इन्द्रियां प्राण की ही रूपांतर हैं। इसी से प्राण की समष्टि भावना में समस्त 'इन्द्रिय सघात शरीर की परिणति प्राप्त होती है शंकराचार्य ने वेदांत भाष्य के अन्तर्गत कहा है कि शिशु प्राण का यह शरीर अधिष्ठान है क्योंकि इसमें अधिष्ठित होकर अपने स्वरूप को प्राप्त करने वाली इन्द्रियाँ विषयों की उपलब्धि का द्वार होती हैं।[2] प्राण का नाना रूपों वाला यश की संज्ञा भी दी गई है।[3] यह यश क्या है? चमस रूप शिर में विश्वरूप यश निहित है। अन्न यश के नाना रूप प्राण के ही अंग हैं। प्राण की संख्या सात मानी गई है—दो कान दो नेत्र, दो नासिका और एक रसना। ये सातों इन्द्रियाँ प्राण की अधीन होकर ही अवस्थित रहती हैं जिसका यही अर्थ है कि सप्त इन्द्रियों का क्रियात्मक सम्बन्ध प्राण के द्वारा ही कार्यान्वित होता है। इसी से इन प्राणों को सप्तर्षि भी कहा गया है। बृहद् उपनिषद् में प्राण की इसी सर्वव्यापकता को आधिदैविक रूप देने को नामों से उन्हें ऋषि भी कहा गया है जो मानवीकरण का सुन्दर उदाहरण है। उपनिषद् कहता है—"ये दोनों (कान) ही गौतम और भारद्वाज हैं, यह ही गौतम है और दूसरा भारद्वाज। ये दोनों नेत्र ही विश्वामित्र और जमदग्नि हैं यही विश्वामित्र है और दूसरा जमदग्नि है। ये दोनों नासारन्ध्र ही वशिष्ठ और कश्यप हैं यह ही वशिष्ठ है दूसरा कश्यप है। तथा वाक् ही अत्रि है क्योंकि वागिन्द्रिय द्वारा ही अन्न भक्षण किया जाता है

१ उपनिषद् भाष्य खंड ४ पृ० ५०४
२ बृहद्-उपनिषद् प० ५०८ ५०९ ब्राह्मण ३ (उप० भा० खंड ८) श्लो० २०१४
३ वही पृ० ५१०

जिसे प्रत्रि कहते हैं वह निश्चय ही प्रत्ति नामवाला है। जो इस प्रकार जानता है वह सबका भत्ता (भक्षण करनेवाला) होता है सब उसका अन्न हो जाता है।[1] यह सप्तर्षि-मंडल मानवीय भौतिक पक्ष का उन्नायक रूप है। यह घोषित करता है कि प्रत्येक भौतिक अंश का उसी समय सत्य महत्त्व होगा जब वे दिव्य देन ऋषियों से युक्त मानवीय चेतना के ऊर्ध्वगामी अभियानों में योगदान दे सकेंगे। प्रत्यक्षतः मुख्य प्राण ही वह तन्मय कारण है जो अनवपूर्ण आवरणों (इन्द्रियों) को एक संतुलन प्रदान करता है जो इस प्रकार इस प्राण को जानता है वह अपने भाग्य का स्वयं निर्माता होता है। हिन्दू दार्शनिक विचारधारा में सभी सप्तक धारणाएँ इसी सत्य प्राण की विवेचना करती हैं जिसमें सत्य का साक्षात्कार हो सके। बृहद् उपनिषद् में इसी से प्राण को देवता कहा गया है जो इन्द्रियरूप देवताओं के पाप रूप मृत्यु के पार ले जाता है।[2]

इस सप्तक धारणा का पर्याय हम सूफी साधना के सात मुकामातों में भी मिलता है। एक अन्य दृष्टि से इन सप्तकों की समानता योग प्रणाली से भी हो जाती है। योगानुसार शरीर के सप्तखंडों या चक्रों की जो कल्पना की गई है, उनकी समानता उपनिषदोक्त सप्तक से स्पष्ट हो जाती है। सूफी साधना के सात पड़ाव एक अंतर्दृष्टि परक तात्विक यांत्रिक आरोहण है। राइल्फ आटो के शब्दों में यह यांत्रिक आरोहण ऊर्ध्व जीवन का एक नियम है उसका एक परम रूप प्रारब्ध है।[3] यही नहीं पाश्चात्य विचारधारा में इस सप्त कल्पना का अपरोक्ष रूप मिलता है। दांते के डिवाइन कामेडिया' में इसका एक स्थान पर वर्णन मिलता है जब महाकवि दांते माउन्ट प्रेग्युरेटरी (Purgatory) के सात स्तरों का सविस्तार वर्णन करता है जिसमें होकर कवि तथा वर्जिल स्वर्ग की ओर बढ़ते हैं[4] तब स्पष्ट रूप से उपनिषदोक्त सप्तलोकों की समानता दृष्टिगोचर होती है।

सप्तक तथा चतुर्थ कल्पना के अतिरिक्त उपनिषद् में दस लोकों की भी धारणा मिलती है। इन लोकों की कल्पना में ब्रह्मलोक या आत्मलोक' आध्यात्मिक आरोहण की चरमबिंदु है इस ब्रह्मलोक का संकेत याज्ञवल्क्य ने गार्गी से किया था। क्रमिक रूप में वातावरण का स्तरपरक विश्लेषण करना ही याज्ञवल्क्य को अभीष्ट

---

१ बृहद् उपनिषद् पृ० ५१० श्लोक ४ (उप० भा० खंड ४)

२ वही पृ० १२८, श्लोक १२ खण्ड ४

३ मिस्टिसिज्जम इस्ट एन्ड वेस्ट द्वारा राइल्फ आटो प० १५७ (लंदन १६३२)

४ कामायनी—दर्शन द्वारा फतेह सिंह, प० ४०५ (कोटा सं० २०१०)

था। ब्रह्मलोक से प्रथम नवलोक इस प्रकार बनाये गए हैं—अन्तरिक्ष, गंधर्व, आदित्य चंद्र नक्षत्र देव इन्द्र प्रजापति और ब्रह्मलोक।[1] अस्तु इन लोकों का विवेचन धार्मिक तथा आध्यात्मिक भावना से ओत प्रोत होने के साथ-साथ एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण का परिचायक है।

(२) मतदृष्टिपरक प्रतीक

इस वर्ग के प्रतीकों का धारणात्मक एवं तात्त्विक महत्त्व है। प्रायः ये सभी प्रतीक 'आत्मज्ञान' की आधारशिला पर आश्रित हैं। इनमें चिंतन एवं अध्यात्म का समन्वय प्राप्त होता है। ये प्रतीक तात्त्विक चिंतन के मधु हैं।

भारतीय मनीषा ने मुख्य तैंतीस देवताओं का अन्तर्भाव एक ही परमदेव में माना है बृहद् उपनिषद् में याज्ञवल्क्य और शाकल्य संवाद में विश्व में व्याप्त प्राकृतिक शक्तियों एवं घटनाओं का मानवीकरण तैंतीस देवताओं में किया गया है। इनमें आठ वसु (अग्नि पृथ्वी, वायु अन्तरिक्ष, आदित्य, द्युलोक चंद्रमा और नक्षत्र), ग्यारह इन्द्र (पुरुष की दस इन्द्रियाँ और मन), बारह आदित्य (संवत्सर के अवयवभूत १२ मास) और इन्द्र (विद्युत्) तथा प्रजापति (यज्ञ)—सब मिलाकर तैंतीस देवता माने गये हैं। इनका पर्यवसान एकदेव की धारणा में किया गया है जिसे ऋषि ने प्राण वह ब्रह्म है उसी को त्यत् (ब्रह्म) ऐसा कहते हैं—[2] के द्वारा निरूपित किया गया है। परन्तु इस एकदेव की धारणा में अन्य देवों की क्रमिक परिणति होती है—तैंतीस से छ, छ से तीन तीन दो दो से डेढ़, और डेढ़ से एक की धारणा का विकास होता है।[3] धार्मिक प्रतीकों के अनेकानेक रूप भी इसी तथ्य का प्रतिपादन करते हैं। 'ब्रह्म की धारणा में यह सत्य' अन्तर्हित है।

ब्रह्म-द्योतक प्रतीक

ब्रह्म की सर्वव्यापकता, सृजनात्मकता और सापेक्षता निरपेक्षता की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति उपनिषदों में अनेक शब्द प्रतीकों के द्वारा प्रस्तुत की गई है। ऐसे शब्द प्रतीक हैं—ओउम्, ख वृक्ष तथा यक्ष।

ब्रह्म के दो रूप हैं—अक्षर और क्षर सत् और त्यत् एवं 'ॐ अक्षर में इसी अपर' और पर ब्रह्म' का समन्वय है। ब्रह्म के अपर' रूप को केवल प्राप्त किया

---

१ बृहद उपनिषद, श्लोक १, पृ० ६३७ (उप०भा खण्ड ४)
२ बृहद उपनिषद पृ० ७८५ ७९४ नवम ब्राह्मण तृतीय अध्याय
३ तैत्तिरीयोपनिषद प ९७, श्लोक ब्राह्मानन्द वल्ली (उप०भा०खंड २)

जा सकता है और 'पर' रूप को जाना जा सकता है। यही कारण है कि ब्रह्म के पर या क्षर रूप के अनेक प्रतीकगत अवतारों का भक्त कवियों ने गान प्राप्त किया था। श्रीलोकमान्य तिलक का इसी से यह मत है कि उपासक का अंतिम ध्येय ज्ञान प्राप्त करना है। यही कारण है कि परमेश्वर के किसी अवतार का महत्त्व उपासक के लिये एक प्रतीक का काम करता है।[1] ॐ आकार प्रणव, उद्गीथ—ये अक्षर, ब्रह्म के ज्ञान को ही प्रस्फुटित करते हैं। ये अक्षर वाच्य रूप में ब्रह्म के नाम ही हैं। यही कारण है कि प्रतीक रूप 'नाम' का महत्त्व नामी के समान ही माना गया है और हमारे भक्त कवियों ने 'नाम' को 'नामी' से भी अधिक महत्त्व दिया है। इस नाम तत्त्व में वाणी से उद्भूत शब्द ध्वनि का रूप प्राप्त होता है। इनके उच्चारण में शब्द या ध्वनि विषयक प्रतीकार्य है। समस्त सृष्टि में ध्वनि की व्याप्ति है जो आधुनिक भौतिक विज्ञान की भी मान्यता है। वाणी के विकास में शब्द का उच्चारण ध्वनि का प्रतीकात्मक रूप ही है।[2] हिन्दू धर्म में 'जिह्वा ह' की धारणा में इसी प्रकार की प्रवृत्ति प्राप्त होती है।[3] इसी कारण से माण्डूक्योपनिषद् में ॐ अक्षर को सब कुछ कहा गया है। यह जो कुछ भूत, भविष्यत् और वर्तमान है, उसी की व्याख्या है। इसके अलावा जो अन्य त्रिकालातीत वस्तु है वह भी ओंकार है।[4] इसी से उपनिषदों में ओंकारोपासना का अत्यधिक महत्त्व है। यही कारण है कि वहाँ मिथुन रूप ॐ की कल्पना की गई है। इस अक्षर में वाक् और प्राण का मिथुन रूप निहित है। ओंकार का उच्चारण वाक् शक्ति से सम्पन्न होता है और प्राण से ही निष्पन्न होनेवाला है और इसी कारण, मिथुन से संयुक्त है। इसी ओंकार की उपासना देवों ने असुरों के पराभव के लिये की थी और इसी उद्गीथोपासना के फलस्वरूप असुररूप पापों का नाश सम्भव हो सका।[5] यहाँ पर देवासुर संग्राम का प्रतीकात्मक अर्थ स्पष्ट होता है जो प्राणों (इन्द्रियों) में व्याप्त पुण्य और पाप सद् और असद् के रूप में देवों और असुरों का चिरंतन युद्ध है।

---

१ गीतारहस्य द्वारा तिलक पृ० ५७७-५७८ वाल्यूम १ (पूना १९३१)

२ द मीनिंग आफ मीनिंग द्वारा आइवन रिचार्ड्स—परिशिष्ट, पृ० ३०७ (लंदन १९४६)

३ हिन्दू मनस कस्टमस एण्ड सेरीमनीज द्वारा डयूबियस पृ० १०६ (आक्सफोर्ड १९०६)

४ माण्डूक्योपनिषद आगम प्रकरण, श्लोक १, पृ० २४ (उप० भा०, खंड २)

५ दे०, छान्दोग्योपनिषद द्वितीय खंड, प्रथम अध्याय, पृ० ४६-६० (उ० भा० खण्ड १)

ओंकार की धारणा मे उसके तीन वर्णों 'अ' 'उ' और 'म' का प्रतीकार्य समाविष्ट है। आत्मा के चार पाद—वैश्वानर, तैजस प्राज्ञ और तुरीय अवस्थायें मानी गई हैं। यहाँ पर यह संकेत करना पर्याप्त होगा कि आत्मा के तीन पादों की समानता ओंकार की मात्राओं से की गई हैं और वे मात्रायें हैं—अकार उकार और मकार। इन मात्राओं का तात्विक अर्थ ॐ के उस विस्तृत प्रतीकार्थ की ओर संकेत करता है जिसका स्थान विश्व तैजस और प्राज्ञ की सापेक्षता मे उपासना की उस भावभूमि को प्रस्तुत करता है जो मानवीय अनुभूति तथा अंतर्दृष्टि का मौलिक स्वरूप है। अतः पाद और मात्रा का अन्योन्य सम्बन्ध है।

अकार का महत्त्व वाणी और माया की दृष्टि से अभिन्न है क्योंकि सम्पूर्ण वाणी में 'अकार' का निश्चित स्थान है। जिस प्रकार 'अकार' से सारी वाणी व्याप्त है, उसी प्रकार वैश्वानर (अग्नि) समस्त विश्व में व्याप्त है। अतः सर्वव्यापकता के अर्थ मे अकार और 'वैश्वानर' की समानता है। अतः, अकार विश्व मे व्याप्त वह तत्त्व है (ब्रह्मा) जो सृजनात्मक एवं विकासात्मक है। माण्डूक्योपनिषद् में कहा गया है कि "जिसका जागरित स्थान है वह वैश्वानर व्याप्ति और आदिमत्त्व के कारण ओंकार की पहली मात्रा है। जो उपासक इस प्रकार जानता है वह सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त कर लेता है और (महापुरुषों) आदि (प्रधान) होता है।[1]" इसी प्रकार स्वप्नावस्था वाला तैजस ओंकार की दूसरी मात्रा, उकार का पर्याय है। उकार और तैजस की समानता का कारण यह है कि दोनों का धर्म उत्कर्ष है। जिस प्रकार 'अकार' से 'उकार' उत्कृष्ट है उसी प्रकार विश्व से तैजस उत्कृष्ट हैं। जिस प्रकार उकार अकार और मकार के मध्य में स्थित है उसी प्रकार विश्व और प्राज्ञ के मध्य में तैजस।[2] अतः मध्य में होने के कारण 'उकार' का धर्म समरसता एवं संतुलन को स्थापित रखना है जिसके द्वारा सृष्टि स्थित रहती है। यह विष्णु का स्वरूप हैं। अतः मैं मकार और सुषुप्तावस्था में भी समानता है। यह समानता 'मिति' के कारण है जिसकी व्याख्या महाप्रभु शंकराचार्य ने इस प्रकार की है—"मिति मान को कहते हैं जिस प्रकार प्रस्थ (एक प्रकार का बाट) से जौ तौले जाते है, उसी प्रकार प्रलय और तैजस् माप जाते हैं क्योंकि ओंकार की समाप्ति पर उसका पुनः प्रयोग किये जाने पर मानो अकार और उकार मकार में

---

१ जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकार प्रथमा मात्रा—माण्डूक्योपनिषद, आगम प्रकरण, श्लोक ९, पृ० ६६ (उप० भा०, खंड २)

२ माण्डूक्योपनिषद आगम प्रकरण, पृ० ७० ७१ (उप०भा०, खंड २)

प्रवेश कर उससे पुन निकलते हैं।[1] इस विवेचन म सृष्टि की उत्पति एव स्थिति का अतिम पयवसान मकार तत्व म हो जाता है। पुन जब सृष्टि का उन्मेष एव सृजन होता ह, तब 'मकार' स दोना सष्टि-तत्व वहिर्गामी होते हैं। शिव की दो शक्तिया—सहार एव लय का यहाँ स्पष्ट सकत प्राप्त होता हैं जो उसके रुद्र एव महेश रूप के प्रतीक हैं। इसा का प्रतीकात्मक निर्देश माण्डूक्योपनिषद् म इस प्रकार किया गया है—'सुषुप्तस्थान प्राना मकारस्तृतीया माना मितेरपीतेवा मिनीति ह व इद सवमपीतिश्च भवति य एव वेद।[2] अर्थात् सुषुप्त जिसका स्थान है वह प्रान मान और लय के कारण ओकार की तीसरी मात्रा है। जा उपासक एसा जानता है वह इस सम्पूर्ण जगत का मान प्रमाण कर लेता है और उसका लय स्थान हो जाता हैं।

ओकार क इस वर्ण प्रतीकार्थ के प्रकाश म त्रिमूर्ति (Trinity) की धारणा का सकेत स्पष्ट रूप से प्राप्त होता है। त्रिमूर्ति म अकार उकार और मकार का क्रमश सकत सृष्टि सतुलन और सहार (निलय) के रूपो म प्राप्त होता है। प्रकृति की इन तीन प्रमुख शक्तिया का मानवीकरण ब्रह्मा विष्णु और शिव के द्वारा हुआ है। प्रकृति क्रियाओ मे सतुलन का रहस्य इन तीन शक्तियो के समुचित काय कारण सम्बन्ध पर आश्रित है जिसका प्रतीकात्मक निर्देशन त्रिमूर्ति की धारणा म निहित है। इसके अतिरिक्त ब्रह्म वाचक ओकार एक अन्य तथ्य की ओर सकत करता है। ब्रह्म का यह अक्षर प्रतीक मात्रा के द्वारा ज्ञेय तत्व ह पर अमात्र रूप परब्रह्म मे किसी की गति नही है। उस परमगति की प्राप्ति तुरीय आत्मा के अन्तगत मानी गई जो आत्मसत्तक ब्रह्म का स्थान ह। मात्रारहित ओकार तुरीय आत्मा ही है।[3] इस प्रकार जो भी ओकार क इस महत् प्रतीकात्मक अर्थ का चिंतन करता है, वह आत्मरूप ब्रह्म म ही एकाकार हा जाता है। यहा मोक्ष की स्थिति है।

ओउम् के अतिरिक्त भारतीय विचारधारा मे अन्य प्रतीको की भी कल्पना की गई है। ख रूप ब्रह्म आकाश का पयाय। यही आकाश ब्रह्म ओंकार है। ब्रह्म विशेष नाम है और ख उसका विशेषण है। यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि आकाश जडरूप नहीं है पर वह सनातन परमात्मा का प्रतीक ह। वृहद उपनिषद् मे स्पष्ट कहा गया है—ॐ ख ब्रह्म। ख पुराण वायुर खमिति ह स्माह कौरव्यायणी पुत्रो वदोऽय ब्राह्मणा विदुर्वेदरनेन यद् वदितव्यम।[4] अर्थात आकाश ब्रह्म ओकार

---

१ शाकर भाष्य—माण्डूक्योपनिषद् पृ० ७२ उपनिषद्भाष्य खड २
२ माण्डूक्योपनिषद् पृ० ७२ श्लोक ११ आगम प्रकरण
३ माण्डूक्योपनिषद् श्लोक १२, पृ० ७६ (उप० भा० खड २)
४ वृहदारण्यकोपनिषद् प्रथम ब्राह्मण पचम अध्याय पृ० ११७५

है। आकाश सनातन है जिसमें वायु रहता है, वह आकाश ही ख है—ऐसा कौरव्याय णीपुत्र ने कहा। यह ओंकार वेद है ऐसा ब्राह्मण जानते हैं क्योंकि जो ज्ञातव्य है उसका उससे ज्ञान होता है।" जैसा कि प्रथम संकेत किया गया कि ब्रह्म के 'अपर' और 'पर' दो रूप हैं उसी प्रकार ख का एक रूप सनातन निरुपाधि ब्रह्म का प्रतीक है और दूसरा आकाश रूप वायु से युक्त सोपाधिक रूप है। फिर कहा गया कि ओउम् ही वेद है अर्थात् वेद ज्ञातव्य होने से ज्ञान है। अतः ओंकार वेदवाचक ज्ञान का प्रतीक भी है।

ख शब्द सनातन आकाश तत्व का प्रतीक है। इस आकाश तत्व में द्युलोक पृथ्वी, भूत भविष्यादि सब ओत प्रोत हैं। परन्तु गार्गी ने याज्ञवल्क्य से यह प्रश्न किया था कि 'यह आकाश किसमें व्याप्त है ?" इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा था कि अक्षर से भिन्न कोई श्रोता नहीं इससे भिन्न कोई मंता नहीं है और इससे भिन्न कोई विज्ञाता नहीं है। हे गार्गि ! निश्चय ही इस अक्षर में ही आकाश ओत प्रोत है।[1]"

ब्रह्म द्योतक इन अव्यक्त प्रतीकों के अतिरिक्त उपनिषद् साहित्य में अनेक ब्रह्मद्योतक व्यक्तप्रतीक प्राप्त होते हैं यथा अक्षर पुरुष कार्य ब्रह्म का प्रतीक अश्वत्थ वृक्ष और यक्ष। पुरुष (देवरूप) ब्रह्म का वह प्रतीक है जो सबभूतों में व्याप्त अन्तरात्मा का प्रतीक है। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि 'इस देवपुरुष का अग्नि मस्तक है चन्द्रमा और सूर्य नेत्र हैं दिशायें कान हैं प्रसिद्ध वेद वाणी है वायु प्राण है तथा सारा विश्व जिसका हृदय और जिसके चरणों से पृथ्वी प्रकट हुई है वह देवपुरुष सम्पूर्ण भूतों की अन्तरात्मा है। इसे ही अक्षरपुरुष कहा गया है जिससे चराचर सृष्टि की उत्पत्ति हुई है।[2] सत्य में ब्रह्म का यह क्षर रूप ही है जो अभिव्यक्तीकरण की ओर अग्रशील है। इसी क्षर या कार्यरूप ब्रह्म का एक अन्य प्रतीक अश्वत्थ वृक्ष है। जिस प्रकार कार्य (तूल) का निश्चय करलेने पर उसके मूल का पता लग जाता है उसी प्रकार संसार रूप कार्यवृक्ष के निश्चय से उसके मूल ब्रह्म का रूप हृदयगम हो जाता है। अतः ज्ञेय और ज्ञाता का अन्योन्य सम्बन्ध है जो इस वृक्ष प्रतीक के द्वारा सुन्दरता से व्यक्त हुआ है। इस वृक्ष को सनातन भी कहा गया है जिसका मूल ऊपर की ओर, शाखायें नीचे की ओर हैं। वही विशुद्ध ज्योतिस्वरूप है वही ब्रह्म है और वही अमृत कहा गया है। सम्पूर्ण लोक उसी में आश्रित हैं।

---

१ वृहद्-उपनिषद् अष्टम ब्राह्मण तृतीय अध्याय प० ७७९

२ मुण्डकोपनिषद् द्वितीय मुण्डक प्रथम खंड प० ५७ (उप० भा० खंड १)

कोई भी उसका अति क्रमण नहीं कर सकता । यही निश्चय वह ब्रह्म है ।[1] इस कथन में सृष्टितत्व का संकेत प्राप्त होता है क्योंकि उसकी अनेक शाखाओं प्रशाखाओं के द्वारा सृष्टि का प्रसार ही निर्देशित है । इस दृश्यमान प्रसार का अस्तित्व उसके मूल ज्योतिस्वरूप अमृत ब्रह्म पर आश्रित है । काव्य में भी इस वृक्ष का प्रतीकत्व मान्य रहा है जैसा कि तुलसी और कबीर में प्राप्त होता है ।

केनोपनिषद् की एक लघुकथा में ब्रह्म को यक्ष (श्रेष्ठ) की संज्ञा भी दी गई है । देवासुर संग्राम में ब्रह्म ने देवताओं के लिए विजय प्राप्त की और अहंकारी देवतागण यह समझने लगे कि विजय उन्होंने स्वयं प्राप्त की है । तब ब्रह्म देवगणों के इस अभिप्राय को जान गया और उनके सामने यक्ष रूप में प्रादुर्भूत हुआ । 'यह यक्ष कौन है ?' देवता यह न जान सके । इसके बाद क्रमशः अग्नि और वायु यक्ष के पास गए, परन्तु वे उसके सत्य रूप का साक्षात्कार न कर सके । अन्त में, इन्द्र के जाने पर वह यक्ष अन्तर्धान हो गया और इन्द्र उसी आकाश में एक अत्यन्त शोभामयी स्त्री "उमा" (पार्वतीरूपिणि ब्रह्मविद्या) के पास गया जिससे उसे पता चला कि यह यक्ष कोई अन्य नहीं स्वयं सर्वशक्तिमान् ब्रह्म है ।[2] इस कथा का प्रतीकार्थ यही है कि प्रकृति शक्तियों (जिसमें अग्नि वायु और इन्द्र है) में ये देवगण ही प्रमुख हैं जो किसी विशिष्ट शक्ति के प्रतीक हैं । इन देवों की यह प्रमुखता इस कारण से है कि उन्होंने सबसे प्रथम 'ब्रह्म' का साक्षात्कार 'ज्ञान' (उमा) के द्वारा किया । इससे यह भी ध्वनित होता है कि ब्रह्म का स्वरूप ज्ञानात्मक है ।

निष्कर्ष

उपर्युक्त जिन विविध प्रतीकात्मक अभिव्यक्तियों का विहगम विवेचन किया गया है उनका समष्टि रूप ही उपनिषद् साहित्य में प्राप्त प्रतीक-दर्शन का परिचायक है । इन सभी प्रतीकों का महत्व धार्मिक तथा दार्शनिक दृष्टियों से है क्योंकि भारतीय धर्म तथा दर्शन में इन प्रतीकों का सदा से महत्व रहा है । अनुष्ठान, पुराण प्रतीक, शब्द-प्रतीक और ब्रह्मद्योतक प्रतीक—इन सभी क्षेत्रों में प्रतीक का एक क्रमिक विकसित विचारात्मक एवं धारणात्मक रूप मिलता है । उपनिषद् साहित्य के प्रतीक-दर्शन में धर्म दर्शन और अनुभूति का एक अत्यन्त मोहक रूप मिलता है । उपनिषद-प्रतीकों का सत्य' केवल बहिरन्तर नहीं है वह अभ्यन्तर होने से 'व्यंजनात्मक' अधिक है । यही बात कला और साहित्य में प्रयुक्त प्रतीकों के लिये

---

१ कठोपनिषद् तृतीयद वल्ली, पृ० १४६ (उप० भा० खंड १)

२ केनोपनिषद, तृतीय खण्ड पृ० १००

भी सत्य है। डा० राधाकृष्णन् ने एक स्थान पर इसी सत्य की ओर संकेत किया है कि यथार्थ प्रतीक कोई स्वप्न या छाया नहीं है। वह अनन्त का जीवित साक्षात्कार है। हम प्रतीकों को विश्वास के द्वारा स्वीकार करते हैं जो परम सत्य के साक्षात्कार करने का माध्यम है।"[1] अतः उपनिषद् प्रतीकों का महत्व आत्मसत्त्व ब्रह्म की अनुभूति करने में निहित है जिससे मानवीय चेतना का ऊर्ध्वगामी आरोहण हो सके। इस प्रकार प्रतीकों का ध्येय मानवीय चेतना को श्रेय की ओर अग्रसर करना है। भारतीय चिन्तन में 'धर्म' का प्रथम धारण करना है और इस धारणा की भावना का मुख्य कार्य है मनुष्य मात्र को श्रेय की ओर ले जाना। अतः धर्म अपने प्रतीकों के द्वारा मानव आत्मा को श्रेय की ओर ले जाता है बृहद् उपनिषद् में कहा गया है— स नैव व्यभवत्तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत धर्मं[2] अर्थात् तब भी ब्रह्म विभूतियुक्त कर्म करने में समर्थ नहीं हुआ। उसने श्रेयरूप धर्म की अतिसृष्टि की।

उपनिषद् साहित्य में प्रतीक-दर्शन मूलतः ज्ञानपरक है। ज्ञान का ध्येय नित नवीन अभिव्यक्तियों का साक्षात्कार है वह एक गतिमान चिंतन कहा जा सकता है। यही कारण है कि इन प्रतीकों में अमूर्त विचारों (Abstraction) तथा धारणाओं का समष्टीकरण प्राप्त होता है। अतः उपनिषद् प्रतीकों का स्वरूप सकल्पात्मक (Affirmative) है। इससे यह भी संकेत प्राप्त होता है कि प्रतीक-दर्शन की समस्त आधारशिला उनके उचित प्रयोग अथवा विवेचन पर भी आश्रित है। इसी समुचित विवेचन पर प्रतीक का अर्थ निहित रहता है, वह केवल कल्पना एवं रूढ़िवादिता के दायरों में आबद्ध नहीं रहता है। उपनिषद् प्रतीक-दर्शन इसी तथ्य को समक्ष रखता है जिसकी आधारशिला पर मैंने अपना विवेचन प्रस्तुत किया है।

❖

---

१ रिकवरी आफ फेथ द्वारा डा० राधाकृष्णन् पृ० १५२ (सन् १९५६)

२ बृहद् उपनिषद्, प्रथम अध्याय, चतुर्थ ब्राह्मण पृ० २६२

भाषा का प्रतीक-दर्शन | ६

भाषा का विकास इस सत्य को सामने रखता है कि मानवीय चेतना का विकास 'भाषा' के विकास से सम्बद्ध है। दूसरे शब्दों में, भाषा और मानवीय चेतना का अन्योन्य सम्बन्ध रहा है। आधुनिक चिंतन ने इस सम्बंध को एक दार्शनिक भाव भूमि पर प्रतिष्ठित करने का सफल प्रयत्न किया है। इस सम्बन्ध का आधार, यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय, तो भाषा की उस इकाई से है जिसे हम 'शब्द' या 'प्रतीक' की संज्ञा देते हैं। जब हम 'शब्द' को लेते हैं, तो स्वयमेव उसके साथ अर्थ-बोध का प्रश्न उठता है, क्योंकि शब्द का अस्तित्व उसके अर्थ में तथा उसके प्रयोग के संदर्भ में समाहित रहता है। इसी भाव को विज्डम महोदय ने इस अत्यंत व्यापक रूप में ग्रहण किया है कि प्रत्येक दार्शनिक प्रस्ताव शब्द की महत्ता को समक्ष रखता है।[1]

इस प्रकार, आधुनिक चिंतन ने प्रतीक के अर्थ तथा उसके प्रयोगात्मक संदर्भ को भाषा के गठन का आधार माना है। कदाचित्, इस तर्क का सहारा लेकर, रसल ने भाषा के गुणों के द्वारा संसार के रूपाकार को समझने की जो बात कही है,[2] वह सत्य में 'शब्द प्रतीक' की महत्ता को ही सामने रखती है। मानवीय क्रियाओं के मूल में शब्द और उसके अर्थ के सम्बन्ध पर आश्रित भाषा का प्रतीक-दर्शन प्रतिष्ठित है। उपनिषद्-साहित्य में 'शब्द प्रतीकों' का महत्त्व भी सम्बन्धगत माना गया है। वहाँ कहा गया है कि सम्पूर्ण चराचर विश्व के सम्बन्ध शब्द प्रतीकों के द्वारा एक दूसरे से अनुस्यूत हैं। अतः यह सारा ब्रह्माण्ड शब्दमय अथवा नाममय ही है, नाम से (प्रतीक) द्वारा ही ज्ञान का स्वरूप मुखर होता है। यही कारण है कि वाक् या वाणी को छान्दोग्योपनिषद् में तेजोमयी कहा गया है,[3] उसे विराट की संज्ञा भी दी गई है।

शब्द-प्रतीक के इस विस्तृत भावभूमि का अपना महत्त्व तो अवश्य है, पर यह

१—सिक (Psyche) विज्डम पृ० १५५।

२—एन इन्क्वायरी इन्टू मीनिंग एण्ड ट्रुथ, बर्ट्रेंड रसल, पृ० ४२६।

३—छान्दोग्योपनिषद् ६०६२६ (उपनिषद भाष्य, खण्ड ३, गीता प्रेस)।

महत्त्व शब्द प्रतीकों के आपसी सम्बंध में निहित है जो तार्किक होना चाहिए। यही तार्किक-सम्बंध, भाषा के प्रतीक-दर्शन का एक महत्वपूर्ण अङ्ग है। इस सम्बंध पर अनेक भाषा शास्त्रियों ने अपने-अपने ढंग से विचार किया है। रसल, वेटिंगस्टाइन, अरबन और कारनप आदि। भाषा शास्त्रियों ने इस तार्किक सम्बंध पर जोर देते हुये एक दार्शनिक के वक्तव्य पर प्रकाश डाला है कि वह एक ऐसी नवीन भाषा का निर्माण करे जिसमें अतार्किक शब्द प्रतीकों का सम्बंध न हो और उनके मध्य में एक ऐसा गठन हो कि वे सम्पूर्ण वाक्य विन्यास को अर्थ प्रदान कर सकें। उपर्युक्त अंतिम पंक्ति का आखिरी अंश स्वयं मेरा जोड़ा हुआ है जो प्रतीक-दर्शन का भाषा से सापेक्षिक महत्त्व प्रदर्शित करता है। ऐसी ही भाषा को बर्टेंड रसल ने 'आदर्श भाषा' की संज्ञा प्रदान की है।[1] मेरे विचार से आदर्श का यह रूप स्थिर नहीं माना जा सकता है, पर उसे गत्यात्मक ही मानना उचित होगा। इसका कारण यह है कि शब्द प्रतीकों का अर्थ संदर्भ के प्रकाश में तथा परिस्थितियों एवं आवश्यकताओं के संदर्भ में परिवर्तित होता रहता है या उसी शब्द में नवीन अर्थ-तत्त्वों का समावेश होता रहता है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो 'ईश्वर', 'अणु, आकाश समय (दिक्-काल) आदि की अवधारणाओं में समय समय पर नवीन अर्थ तत्त्वों का सन्निवेश होता रहा है। दर्शन के विशाल क्षेत्र में तथा ज्ञान के अन्य क्षेत्रों में भी हम ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त हो जायेंगे। अतः भाषा के प्रतीक दर्शन में दो तत्त्वों का विशेष महत्त्व है। प्रथम, तार्किक सम्बंध तथा दूसरा तार्किक वाक्य विन्यास। यदि इस संबंध में शब्द प्रतीकों का उचित प्रयोग नहीं किया गया (यदि मैं कहूं उनका अपव्यय किया गया) तो हो सकता है कि अर्थ का अनर्थ हो जाय।

उपर्युक्त विवेचन में मैंने जो 'शब्द प्रतीक' का प्रयोग किया है, वह इस दृष्टि से कि बहुत से शब्द, प्रतीक का रूप धारण नहीं कर पाते हैं और केवल मात्र 'शब्द' ही रह जाते हैं। आधुनिक चिंतन के क्षेत्र में हम उन्हीं शब्दों को प्रतीक का पद दे सकते हैं जो किसी विशिष्ट भाव, विचार अथवा धारणा का प्रतिनिधित्व करें। दूसरे शब्दों में, जहाँ पर भी वैचारिक क्रिया है, वहाँ पर किसी न किसी रूप में प्रतीकीकरण की क्रिया अवश्य वर्तमान रहती है। इसीसे, विचारों का आवश्यक कार्य प्रतीकीकरण है अतः विचार और शब्द प्रतीकों का अन्योन्य सम्बंध है। धर्म, साहित्य, दर्शन, विज्ञान आदि समस्त मानवीय क्रियाओं में प्रतीकों के सृजन एवं स्थिरीकरण में यह प्रवृत्ति सदा से काम करती आई है। अरबन ने इसी स्थिति

---

१ सेंसेज एण्ड रियालिटी पृ० २५।

को एक अत्यन्त व्यापक संदर्भ में देखने का प्रयत्न किया है, क्योंकि उसका कथन है कि किसी भी शब्द प्रतीक में विश्वास मूलतः तत्त्व ज्ञान या दर्शन में विश्वास ही माना जायेगा।[1] भाषा का समस्त प्रतीक दर्शन इसी 'विश्वास' का प्रतिरूप है। धार्मिक (साहित्य में भी) एवं दार्शनिक दृष्टि से, हम शब्द प्रतीकों की अर्थवत्ता पर, उनकी व्यंजना पर इतना अधिक 'विश्वास' करने लगते हैं कि वे 'शब्द' ही हमारे सर्वस्व हो जाते हैं। यदि हम धार्मिक तथा दार्शनिक विचारों के इतिहास को देखें, तो कभी-कभी ऐसी भी दशा उत्पन्न हो जाती है जब 'शब्द प्रतीकों' के प्रति हमारा 'विश्वास' तर्कमय न होकर, क्रमशः 'अंधविश्वास' में परिणत हो जाता है, और तब एक संकुचित प्रवृत्ति का उदय होता है जिसका दर्दनाक इतिहास धर्म तथा पुराण के क्षेत्रों में देखा जा सकता है। यही कारण है कि जब हम किसी 'प्रतीक' पर व्यर्थ चिंतन या अर्थ देने का प्रयत्न करते हैं, तब हम उस 'प्रतीक' के अर्थ के प्रति पूर्ण न्याय नहीं कर सकते हैं। आज का सारा दार्शनिक चिंतन शब्द-प्रतीकों के सही विवेचन और उनके संदर्भगत प्रयोग पर अधिक बल देता है। यहाँ पर भाषाविज्ञानी एवं दार्शनिक में अंतर भी देखा जा सकता है, जो काफी स्पष्ट है। एक भाषाशास्त्री वाक् के न्यूनतम अंग 'शब्द' की खोज में अधिक रहता है, जबकि एक दार्शनिक अर्थ के न्यूनतम अंग का इच्छुक होता है। उदाहरण स्वरूप एक भाषाशाली के लिए 'ईश्वर' एक अंगमात्र ही रहता है, पर यही शब्द, एक दार्शनिक के लिए विश्लेषण एवं विवेचन का विषय बन जाता है और वह भी संदर्भ के प्रकाश में। भाषा के प्रतीक दर्शन में शब्द प्रतीकों का केवल प्राथमिक अर्थ ही मान्य नहीं है, पर उसका द्वितीय या अन्य अर्थ भी अपेक्षित है। ज्ञान के व्यापक क्षेत्र की व्यंजना के लिए भाषा का यह प्रतीक दर्शन एक अत्यन्त आवश्यक अंग है। इसीसे, शब्दों के अंतराल में अर्थों का समष्टीकरण होता है जिसके फलस्वरूप प्रतीक' संकल्पात्मक हो जाते हैं।

प्रतीकों को इस संकल्पात्मक भावभूमि के आधार पर ज्ञान का चिंतन का प्रसार निर्मित होता है। प्रतीकों का नित नवीन सृजन एक प्रकार से, ज्ञान-तंतुओं को व्यवस्थित रूप से रखता है आधुनिक दार्शनिक विचारधारा की सबसे मुख्य प्रवृत्ति यह है कि समस्त ज्ञान का विकास भाषा और शब्द प्रतीकों के क्रमिक संगठन एवं उनके विवेचन का इतिहास है। भौतिक दार्शनिक विचारधारा का केन्द्रबिंदु यही तथ्य है। यदि हम लॉक से लेकर आधुनिक तार्किक निश्चयवादी विचारकों (Logical positivism) का अनुशीलन करें तो हमें यह तथ्य ज्ञात होता है कि समस्त प्रतीकों एवं शब्दों का उद्गम स्रोत भौतिक पदार्थों का इंद्रियपरक अनुभव ही है जो

१ लावेज एण्ड फिलासफी, मवस ब्लैक पृ० १८४।

भाषा के प्रतीक-दर्शन के उपयुक्त विवेचन के संदर्भ में शब्द और अर्थ के सम्बन्ध पर भी संकेत किया गया है। जब हम 'ज्ञान' की बात करते हैं, तो शब्द प्रतीकों के प्रयोगगत विवेचन की बात समक्ष आती है। तात्विक वाक्य विन्यास और अर्थ विज्ञान का, प्रतीक की दृष्टि से अन्योन्य सम्बन्ध है। वाक्य विन्यास में प्रतीकों की नियोजना और प्रकार के द्वारा ही अभिव्यक्ति का रूप सामने आता है। इस दृष्टि से, हम किन्हीं दो अभि-व्यक्तियों को उसी सीमा तक समान मानते हैं जहा तक उनमे प्रयुक्त प्रतीक भी समान हो। इस प्रकार, जब दो अभिव्यक्तियाँ या प्रतीक, वाक्य विन्यास की दृष्टि से समान धर्मी होते हैं, तब कारनाप के शब्दों में उनकी आयोजना वाक्य विन्यासात्मक 'विधान' के अन्तर्गत आती है।[1] शब्द प्रतीकों की यह महत्ता एक अन्य दृष्टि से भी मान्य है। यदि इन प्रतीकों की परिभाषा नहीं हो सकी तो उनका वाक्य विन्यास मे कोई भी निश्चित अर्थ सम्भव नहीं हो सकेगा। यह भी ध्यान रखने की बात है कि प्रतीक की परिभाषा, उसके अर्थ का स्पष्टीकरण ही है। अतः अभिव्यक्ति के संदर्भ मे, प्रतीकों का स्थान इस बात पर आश्रित है कि वे प्रतीक कहाँ तक परिभाषित (defined) हो सके हैं? ऐसी अभिव्यक्तियों को दो प्रकारों मे बाटा जाता है—एक वाक्य और दूसरे, अकीय अभिव्यक्तिया (numerical expressions)। अर्थ और वाक्य विन्यास की दृष्टि से, दो प्रकार की भाषाओं का भी रूप सामने आता है। एक ऐसी भाषा, जिसके प्रतीक स्थिर होते हैं जो किसी वाक्य विन्यास मे इस प्रकार नियोजित रहते हैं कि उनके द्वारा एक 'ठोस एव प्रत्यक्ष सम्पूर्णता' भासित हो सके। ऐसे प्रतीक हमे कलन (Calculus), गणित और भौतिक शास्त्र मे प्राप्त होते है। ऐसी भाषा को स्थिर भाषा की संज्ञा दी गई है। दूसरी ओर, अस्थिर भाषा मे तात्विक प्रतीकों की योजना प्राप्त तो होती है, पर इसके साथ ही साथ वर्णनात्मक प्रतीकों की भी योजना रहती है। यही कारण है कि अस्थिर भाषा मे अनेक अभिव्यक्तियों के प्रकार मिल जाते हैं। साहित्य, धर्म, दर्शन तत्वज्ञान आदि मानवीय ज्ञान क्षेत्र मे ऐसी ही भाषा के दर्शन होते हैं। यहा पर कारनाप ने अस्थिर भाषा को विज्ञान के लिए ही मान्य माना है, पर अस्थिर भाषा को अन्य ज्ञान क्षेत्रों में अभिव्यक्ति का माध्यम माना जा सकता है। दर्शन, साहित्य और धर्म मे प्रतीकों का स्थिर रूप नहीं प्राप्त होता है, वहा पर अधिकाशतः प्रतीकों का वर्णनात्मक रूप (या विवेचनात्मक) ही मुखर होता है। भाषा का प्रतीक-दर्शन

१—द लाजिकल सिन्टैक्स आफ लैंग्वेज पृ० १५।

उतना ही गत्यात्मक (dynamic) होगा, उसकी अभिव्यक्ति की शक्ति तथा उसकी प्रबलता उतनी ही विकसित हो सकेगी। इस दृष्टि से, किसी भी राष्ट्र की भाषा कोई पौराणिक कल्पना नहीं होती, वह तो समस्त राष्ट्र का स्वभाव है, उसकी शक्ति है और उसकी मान्यता है।[1]

इस प्रकार प्रतीक का महत्व, अर्थ तथा वाक्य विन्यास, दोनों की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। प्रतीक-दर्शन के बिना इन दोनों का मूल्य संदिग्ध ही माना जायेगा। परन्तु अर्थ-विज्ञान की दृष्टि से प्रतीक का मूल्य भी संदिग्ध हो सकता है, यदि 'वह' परिभाषित अर्थ (defined meaning) को देने में असमर्थ हो। इसी भाव को एक भारतीय शब्द 'निरुक्त' भी अभिव्यंजित करता है। वहां शब्द निरुक्त, अर्थ अभिव्यक्ति है। शब्द कहने में आ गया, पर अर्थ कथन से परे अनुभव या दर्शन चाहता है।[2] सत्य में यही दर्शन, अर्थ विज्ञान की पीठिका है क्योंकि विचारात्मकता का आवश्यक कार्य जहां एक ओर अर्थ विवेचन है, वहीं उसका कार्य प्रतीकीकरण भी है।

अब समस्या है अर्थ के ग्रहण की एवं उसके स्वरूप की। विलियम जेम्स ने अर्थ का सम्बंध व्यावहारिक निष्कर्षों पर आधारित माना है। कुछ विचारकों के अनुसार अर्थ एक प्रकार का भावात्मक उद्रेक है जो किसी विशिष्ट पदार्थ के द्वारा उद्रेलित होता है। एक अन्य दृष्टिकोण यह भी है कि अर्थ वह है जो किसी प्रतीक से सम्बंधित हो। इनका सम्यक विश्लेषण करने पर यह तथ्य समक्ष आता है कि अर्थ सम्बंधी सभी धारणाएं एक दूसरे की पूरक हैं या यों कहा जाय कि वे सभी धारणाएं ज्ञान की पूरक हैं। परन्तु, जहां तक भाषा के प्रतीक-दर्शन का प्रश्न है और उसके द्वारा अर्थ-व्यंजना का प्रश्न है, उस सीमा तक हमें प्रतीकीकरण की क्रिया को अर्थ विज्ञान का पूरक ही मानना पड़ेगा। इस मत में एक अन्य तत्व को भी दृष्टि में रखना आवश्यक है कि अर्थ ग्रहण की समस्या का प्रश्न एक मानसिक प्रश्न है और साथ ही सत्य का प्रश्न है मानसिक क्रियाएं जैसे भावात्मक उद्रेक, बोधगम्यता, चिह्न सृजन और विचारात्मक प्रक्रिया—इन सबका समन्वय प्रतीकीकरण की क्रिया में प्राप्त होता है। यहां पर इस पक्ष का विवेचन विषयांतर ही होगा और अर्थ बोध से सम्बंध होते हुये भी इनका सम्बंध प्रतीकीकरण से कहीं अधिक है। अतः प्रतीक और उसके अर्थ का सम्बंध एक मानसिक एवं बौद्धिक सम्बंध है।

❖

---

१ द स्प्रिट आफ लैंग्वेज इन सिवलीजेशन, वासलर; पृ० १११।
२ संस्कृति और कला, वासुदेव शरण अग्रवाल, पृ० १८७।

अस्तित्ववादी दर्शन का स्वरुप | ७

अस्तित्ववादी दशन अपने मूल रूप म अनुभव का दशन है जो महायुद्धो के टकराहट स उत्पन्न एव चिंतन प्रणाली है। द्वितीय महायुद्ध की पराजय, घुटन, शत्रुओ का अधिकार तथा राजनतिक विडम्बनाओ तथा भ्रष्टाचारो से उत्पन्न अनुभव का यह दशन कहा जा सकता है। इस महत्त्वपूर्ण दशन ने मानवीय घुटन, अनास्था तथा अथहीनता की भावना को प्रश्रय दिया।

अस्तित्ववाद का आरम कीर्केगाद (1813 1855) से माना जाता है। कीर्केगाद न अपने छात्र जीवन म हीगल के दशन का अनुशीलन किया था, पर उसके अन्तमन मे यह विचार केन्द्रीभूत होता गया कि हिगलीय-दशन केवल एक स्वच्छ विचार है जो चिंतन का क्षेत्र है। इस वचारिक दशा मे दशन एव मृगतृष्णामात्र रह जाती है और जीवन के प्रतिदिन के निणयो से उसका कोई भी सम्बध नही रहता है। इस खोज की प्रक्रिया म वह हीगल से प्रेरणा नही ले सका और न इसाई धम के जजरित होते हुये 'मूल्यो' से ही वह कुछ ग्रहण कर सका।

वह इस स्थिति के प्रति पूर्ण रूप से सहमत नही हो सका और मार्टिन लूदर क विचारो ने उसे आकर्षित किया। लूदर न विश्वास को तक से अधिक महत्त्व दिया और अततागत्वा विश्वास की सावभौम सत्ता को स्वीकार किया। कीर्केगाद ने विश्वास को एक घने अधकार के रूप म देखा जहाँ तक की किरणें कठिनाई से पहुँचती है और ऐसी दशा मे विश्वास और तक के मध्य म एक "तनाव" की दशा विद्यमान रहती है। प्राचीन टेस्टामेट म प्राप्त 'अब्राहम का विषाद' इसी तनाव को स्पष्ट करता है जहाँ पर अब्राहम अपने पुत्र आइजक को बलिदान करने की बात को केवल तक के आधार पर सोचता है, पर एक पिता के लिये ऐसा कृत्य कहाँ तक उचित है ? परतु ऐसा आदेश उस ईश्वर का आदेश है जो तर्क से परे हैं, केवल

एक विश्वास है। कीर्केगार्ड के लिये अब्राहम की यह घटना, अनुभव की पीठिका प्रस्तुत करती है। उसका मत या कि तर्क की प्रक्रिया विश्वास के किनारों तो स्पर्श अवश्य करती है पर उसमें हम अपने को कहा तक डाले यह हमारा सबसे महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व है जिसका निर्वाह मानवीय बुद्धि तथा अनुभव का विषय है।

× × × ×

कीर्केगाद द्वारा प्रतिपादित उत्तरदायित्व का विषाद केवल इसाई मत तक ही सीमित रहा, पर कार्ल्स जेस्पर्स (जन्म 1885) ने इस मत का विरोध एवं खंडन किया उसके अनुसार उत्तरदायित्व का विषाद केवल इसाई मत तक ही सीमित नहीं है पर यह समस्त मानवीय क्षेत्र का विवाद है जो किसी मत या धर्म का सीमित क्षेत्र नहीं माना जा सकता है। उसने भविता (Being) के तीन स्तरों का विवेचन किया है जो अस्तित्व का परक है। प्रथम स्तर है स्व-केन्द्रित भविता जो सत्य की ऊर्ध्वगामी समष्टि है अर्थात् जो पूर्ण सत्य का रूप है जिसके प्रति व्यक्ति सचेत रहता है। दूसरा स्तर स्वयं भविता का है जहाँ पर व्यक्ति अपने अस्तित्व के प्रति सचेत रहता है और साथ ही अर्ध्वारोहण के प्रति भी सचेत रहता है, पर यह उसी समय सम्भव है जबकि व्यक्ति अपने अस्तित्व के प्रति जागरूक है। दूसरे शब्दों में व्यक्ति और सत्य के आपसी सम्बंध को यह तथ्य उजागर करता है। तीसरा तथा अंतिम स्तर बाह्य भविता का है जिसका सम्बंध बाह्य जगत के अनुभवों से है जो एक प्रकार से, उस समष्टि ज्ञान या सत्य के अनुभव के व्यवधान स्वरूप हैं। यही माया का रूप है।

इन तीन स्तरों के प्रकाश में मानवीय निर्वाचन या उत्तरदायित्व का निर्वाह दो स्तरों पर होता है। मानवीय निर्वाचन विषयगत होता है जिसका संदर्भ संसार के अनुभवों से है, परंतु दूसरी ओर विषयीगत दृष्टि से (Subjectively) उसका यह निर्वाचन ऊर्ध्व-जगत में सम्पन्न होता है। सत्य में हमारा निर्वाचन ऊर्ध्वगामी जगत के परिप्रेक्ष्य में ही होता है।

इससे स्पष्ट है कि अस्तित्ववादी दर्शन में मानवीय निर्वाचन का महत्त्व अत्यधिक है। यह निर्वाचन अंधकार में सम्पन्न होता है और केवल अपार उत्तरदायित्व के प्रति सचेत करता है। अस्तित्ववादियों के लिये सबसे बड़ा पाप यही है कि व्यक्ति, एक व्यक्ति के रूप में अपने उत्तरदायित्व का अस्वीकार करे। उसकी अस्वीकृत की भावना भविता के प्रति एक अनास्था का स्वर माना जाता है।

× × × ×

जेस्पर्श के उपर्युक्त मत को अधिक मान्यता देने का प्रयत्न अन्य जर्मन दार्शनिक हिडेगर (जन्म 1889) ने किया। वह मध्यकालीन दर्शन में अधिक

प्रभावित था। उसने मूलत भविता (Being) की समस्या को उठाया। उसका दृष्टिकोण जेस्पर्स से कही अधिक विषयगत था हेडिगर के लिये उस भविता का महत्व कही अधिक था जो स्वय व्यक्ति की भविता है। भविता की सबसे मुख्य प्रवृति यह है कि उसके द्वारा व्यक्ति या हम लोग स्वय अपनी ओर आकर्षित होते हैं, उस समय हम कोई अपनी निश्चित प्रकृति तक नही पहुँच सकते हैं। सत्य म, ऐसी भविता 'समय' के प्रवाह म प्रवाहित रहती है जो भूतकालीन क्रियाओ से भावी क्रियाओ की ओर गतिशील रहती है। इस प्रकार, भविता अपनी गत्यात्मक, स्थिति द्वारा स्वय अपने को एक अथवत्ता प्रदान करती है।

अब प्रश्न है कि मनुष्य की भविता कौन से अर्थ की खोज म है। आदमी का अतिम लक्ष्य क्या है ? इसका उत्तर हडिगर ने यह दिया कि आदमी का अतिम लक्ष्य "मृत्यु' है और इस तथ्य को सबसे प्रथम स्वीकार करना इस निष्कर्ष की ओर ले जाता है कि हम जो कुछ भी करते हैं, वह मूलत निरर्थक, व्यर्थ एव अर्थहीन है। इसका यह अर्थ नही है कि हम अपने उत्तरदायित्व के प्रति उदासीन हो जाए और अमूर्त्तन (Abstraction) की शरण ले लें। कर्म की ईमानदारी 'मृत्यु का एक आवश्यक तत्त्व है, और केवल ऐसा ही कर्म अर्थपूर्ण हो सकता है। हेडिगर की यह मान्यता है कि मानवीय अनुभव सभी व्यक्तियो के लिये समान हैं, पर मूलत वह अकेला और अजनबी है। वह स्वय अपनी निर्वाचन शक्ति से आबद्ध है क्योकि उसे अपने परिवेश और स्वय अपने को अर्थ देना है।

इस प्रकार हेडिगर के विचारो मे निराशा की भावना मानी जाती है पर मेरे विचार स वह पूर्णत निराशावादी नही है। वह मनुष्य के कर्मो पर विश्वास करता है और उसकी भविता के प्रति आस्थावान् है क्योकि उसका कथन है कि भविता क्रमश अपना साक्षात्कार करेगी और यह साक्षात्कार व्यक्तियों के बारे मे सत्य हैं जो अपने प्रति ईमानदार हैं। मृत्यु बोध भी इसी ईमानदारी का प्रतिरूप है। वह एक ऐसा सत्य है जो मैं समझता हूँ कि ईश्वर से भी अधिक मूल्यवान एव अर्थवान है।

× × × ×

अनेक लोगो के लिय अस्तित्ववाद का सम्बध फ्रास से है क्योकि आधुनिक विचारधारा के अतर्गत फ्रास के दो अस्तित्ववादी चितक जीन पॉल सात्र तथा गैंबरिल मार्सल का नाम मुख्यत लिया जाता है। इन दोनो दार्शनिको के विचारो मे कई स्थानों पर साम्य है तो कही कहीं पर उनमे असाम्य भी है। ये दोनो विचारक अपने

भावो को 'नाटक' के माध्यम से व्यक्त करते हैं और इसी से, इनका सम्बध दर्शन तथा साहित्य दोनो ज्ञान क्षेत्रो से समान रूप से रहा है।

सात्र (जन्म 1905) ने अपने विचारो को नाटकीय रूप में प्रस्तुत किया है जैसा कि प्रथम सकेत किया जा चुका है। उसका विचार है कि नाटकीय पद्धति से धारणाओ का अभिव्यक्तीकरण सरल और आकर्षक होता है। परन्तु फिर भी उसने अपने प्रमुख विचारो को एक छोटी सी पुस्तक "अस्तित्ववाद और मानवतावाद" (Existentialism and Humanism) में रखा है।

सात्रे की स्थापनाओ का मूल प्रारम्भिक बिंदु यह धारणा है कि ईश्वर जैसी कोई भी सत्ता नही है और प्रत्यय के आधार पर वह इस निर्णय पर पहुँचता है कि "*ईश्वर या सारतत्त्व से पूर्व अस्तित्व की सत्ता है।*" अत आदमी पैदा होता है और अस्तित्व मे रहता है। एक कलाकार की तरह सात्रे का कथन है कि आदमी स्वय अपने प्रतिमानो का निर्माण करता है। आदमी केवल वही है जो वह स्वय अपने लिये होता है।

मानव की महत्ता को वह एक अन्य तथ्य के प्रकाश में उजागर करता है। हम जो कुछ भी निर्णय या निर्वाचन करते हैं, वह समस्त मानवता के परिप्रेक्ष्य में करते हैं क्योकि अपने लिये किया गया निर्वाचन अतत सारे मनुष्यो के लिए होता है। अत हमम से प्रत्येक व्यक्ति अपने प्रति उत्तरदायी है तो दूसरी ओर सभी मनुष्यो के प्रति भी। सात्रे के उपयुक्त विचार मानव दिव्यता के द्योतक है जो वैज्ञानिक चिंतन से उद्भूत एक सत्य है। डारविन, हक्सले, न्यूटन, आइस्टाइन आदि वैज्ञानिक विचारकों ने मानव सापेक्ष मूल्यो को ही महत्व दिया और उसकी सत्ता को समस्त विश्व में स्थापित किया।

इसके पश्चात् हम विषाद को लेते हैं जो अस्तिवाद का परम्परागत विचार है जिसे हेडिगर ने मान्यता प्रदान की थी उत्तरदायित्व की अकाट्य भावना इस विषाद का मूल है और जो व्यक्ति नैतिक आचरण करता है, वह दूसरो की सापेक्षता मे करता है। वह जो कुछ भी निर्वाचन करता है, वह अतत समस्त मानवता के लिए एक सविधान बनाता जाता है और ऐसी दशा मे उसका विषाद स्वच्छ और सरल होता है और इसे वही महसूस कर सकता है जो उत्तरदायित्व को वहन करता हैं।

सात्र की उपयुक्त पुस्तक में इसी तथ्य को दिखलाया गया है कि पाश्चात्य दर्शन का इतिहास, निरपेक्ष तत्व और मानवीय मूल्यो के सम्बन्ध का इतिहास है। मानवों ने इन मूल्यो को अपनाया और इन मूल्यो के परे एक निरपेक्ष अस्तित्व की

या कविता की कल्पना उन्होंने की। विश्वयुद्ध के बाद यारप एक ऐसे बिंदु पर पहुच गया जहाँ पर समस्त नतिक, आध्यात्मिक, धार्मिक एव सौंदयपरक मूल्या के प्रति अविश्वास एव अनास्था का स्वर अपनी पूरा भगिमा के साथ उभर कर आया। सार्त्र इस निष्कष पर पहुँचता है कि इस मूल्यहीनता के कारण आज का मानव विक्षुब्ध, निराश एव विषाद की दशा का भागी हो रहा है। सार्त्र न ईश्वर, नतिक मूल्य तथा मानवीय स्वभाव—सभी को नकारा हैं। नतिक प्रतिमाना का उसने स्वय निर्माण किया है जिसका मूलभूत रूप उसी के शब्दा म यह है— "हरक मनुष्य का यह कहना चाहिए क्या मैं सच म एक मनुष्य हूँ जिसे इस प्रकार कम करन का अधिकार है जिससे मानवता स्वय चालित हो।" यहाँ पर मनुष्य स्वय इसका उत्तरदायी है कि वह मानवता की सापेक्षता के कम करता है या नही ? यही पर उसकी परीक्षा हो सकती है।

× × × ×

सार्त्र के दाशनिक विचारो से कुछ भिन्न विचार कथिलिक दाशनिक मोशिया माशल के हैं। अन्य दाशनिको के समान माशल भी आधुनिक क्रियाओ म उत्तरदायित्व का अभाव देखते हैं और साथ ही, घूमिल और विकृत भावबोध को सामान्य जीवन मे पूरी तरह शराबोर पाते हैं। यहाँ पर आज के जीवन की विडबना तथा विसगति को आधुनिक भावबोध का एक आवश्यक तत्व माना गया है जो कला तथा साहित्य की रचना प्रक्रिया का एक विशिष्ट आयाम है। साहित्य के क्षेत्र मे इस विसगति को अथवत्ता देना ही, विसगति के स्वरूप को एक विस्तृत आयाम देना है, इस मत का पूरा विवेचन "आधुनिक कलात्मक रचना प्रक्रिया मे विसगति नामक लेख मे हो चुका हैं।

इस प्रकार माशल ने आज के मानव को अनास्थावादी जीव के रूप म देखा है। यह जीव ऐंद्रिय अनुभव के द्वारा प्रेरित होता है। यहाँ पर चार्वाक-दशन की गूँज मिलती है जो ऐंद्रियानुभव को ही सत्य मानता है परन्तु माशल ने मानवीय अनुभव के आधार पर मानवीय सम्बन्धो को प्रेरित माना है जो एक ऐसे व्यक्तित्व को निर्मित करती है जो हमे प्रभावित जाने या अनजाने करती है।

इन सब विचारो से ऊपर, माशल ने विश्वास या आस्था के महत्त्व को स्वीकारा है, परन्तु यह *विश्वास किन्ही प्रत्ययो या प्रस्थापनाओ पर विश्वास नही है,* पर यह उध्व-पयाय का एक जीवित अनुभव है। यहाँ पर माशल एक धमशास्त्री के समान दृष्टिगोचर होता है जो विश्वास को एक निर्वैयक्तिक रूप म कार्यान्वित देखता है।

× × × ×

उपयुक्त सभी विचारा के ववेचन से यह स्पष्ट होता है कि सभी दाशनिको मे ग्रानेव समाननाए भी हैं जिनका सवेत यदाकदा किया गया है। फिर भी, ग्रस्तित्ववाद जसे ग्रधुनातम वैचारिक क्राति वो पूर्णरूपेण विवेचित एव मूल्याक्ति करना सरल काय नहीं है। इसका कारण यह है कि किसी नवीनतम विचार-दशन की भावी सभावनाए क्या हो सकती हैं, यह समय ही बतायेगा, पर इतना ग्रवश्य कहा जा सकता ह कि ग्रस्तित्ववाद ने मानवीय भूमिका को एक नवीन परिप्रेक्ष्य देने का प्रयत्न किया है और ग्रनास्था के मध्य एक ऐसे उत्तरदायित्व की भावना को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है जो मानवीय सम्बधो के नवीन ग्रायामो पर ग्राधारित है।

उपर्युक्त सभी विचारों के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि सभी दार्शनिकों मे अनेक समानताए भी हैं जिनका संकेत यदाकदा किया गया है। फिर भी, अस्तित्ववाद जैसे अधुनातम वैचारिक क्रांति को पूर्णरूपेण विवेचित एव मूल्यांकित करना सरल कार्य नही है। इसका कारण यह है कि किसी नवीनतम् विचार-दर्शन की भावी सम्भावनाए क्या हो सकती हैं, यह समय ही बतायेगा, पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अस्तित्ववाद ने मानवीय भूमिका को एक नवीन परिप्रेक्ष्य देने का प्रयत्न किया है और अनास्था के मध्य एक ऐसे उत्तरदायित्व की भावना को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है जो मानवीय सम्बन्धों के नवीन आयामों पर आधारित है।